श्रीमद्वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं-चतुर्दशं

संन्यासनिर्णयः ।

(समस्त आठ संस्कृत टीकाओं के हिंदी-अनुवाद, श्लोकार्थ, ग्रन्थसार

एवं

ज्ञापिनी

टीका सहित)

संपादक व लेखक

गोस्वामी राजकुमार

प्रकाशक

गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी

''चरणाट'' बंगला नं. 5, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,

कांदिवली (पूर्व), मुंबई - 400 101 • दूरभाष : 2884 6506 मो. : 9769623724

वि. सं. 2069 • वल्लभाब्द 535

प्रति : 1000

संन्यासनिर्णयः ।

अनुक्रमणिका

क्रमांक	प्रकरण	पृष्ठसंख्या
१.	संन्यासनिर्णयः(मूलपाठ)श्लोकार्थ	१
२.	श्रीगोकुलनाथानाम्	५
३.	श्रीरघुनाथानाम्	२९
४.	श्रीगोकुलोत्सवानाम्	४१
५.	चाचा श्रीगोपेश्वराणाम्	५३
६.	श्रीगोपेश्वराणाम्	७६
७.	श्रीपुरुषोत्तमानाम्	१००
८.	काका श्रीवल्लभानाम्	१३६
९.	चाचा श्रीगोपेशानाम्	१५८

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्लोकार्थ

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ।।१।।

पश्चात्ताप की निवृत्ति के लिये परित्याग (संन्यास) के स्वरूप का विचार कर रहे हैं।
परित्याग दोनों मार्गों (भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग) में करना बताया गया है, विशेषरूप से ज्ञानमार्ग में ॥1॥

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ।।२।।

किन्तु कर्ममार्ग में तो अपेक्षाकृत कलिकाल के कारण परित्याग नहीं करना चाहिए,
अतः भक्तिमार्ग में संन्यास लेना चाहिए, इसलिये पहले भक्तिमार्गीयसंन्यास का विचार करते हैं ॥2॥

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं[1] कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते।
सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ।।३।।
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।

भक्तिमार्ग में यदि श्रवणकीर्तन आदि विशेषरूप से सिद्ध करने के लिये कोई संन्यास लेना चाहे, तो नहीं लेना चाहिए।
क्योंकि श्रवणकीर्तन आदि तो उल्टे सहायक संघ द्वारा सिद्ध होंगे एवं संन्याससम्बन्धी साधन भी करने पड़ेंगे, जिसके कारण श्रवणकीर्तन में निरन्तर बाधा पड़ती रहेगी ॥3॥
साथ ही साथ संन्यासी होने का अभिमान भी पनप सकता है, गुरु-आज्ञा का पालन करने आदि में समय का व्यय होगा और संन्यास के धर्म भी भक्तिमार्ग से विरुद्ध होते हैं ।

गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ।।४।।
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा[2] ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ।।५।।
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा[3] हरेः ।
अतोत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ।।६।।

और यदि गृह बाधक लगता होने के कारण और उसमें भगवद्भक्ति के साधन संभव न होते होने के कारण यदि कोई संन्यास लेना चाहता हो, तो भी नहीं लेना चाहिए ॥4॥
क्योंकि आगे संन्यास लेने पर भी वहाँ उसे उन्हीं जैसों का संग मिलने वाला होता है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी सिद्ध नहीं होगा,।
और तब, वह स्वयं भी विषयाक्रान्त हो जायेगा और कालान्तर में पाषण्डी बन जायेगा ॥5॥
चूँकि विषयाक्रान्त देह में हरि का आवेश सर्वदा/सर्वथा नहीं रहता,।
अतः भक्ति की साधनावस्था में किया जाने वाला त्याग सुखावह नहीं होता ॥6॥

---

१. प्रवृत्यर्थमिति पाठः । २. कामत इति पाठः । ३. सर्वथेति पाठः ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोत्र न चान्यथा ।।७।।
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ।।८।।

परन्तु, यदि भगवद्विरह का अनुभव करने के लिये संन्यास लिया जाय, तो ठीक है।
तब संन्यासी का वेष धारण करना भी अपने स्वीयजनों को अपने से दूर रखने के लिये होता है, ताकि वे उसे बाधा न करें, अन्य किसी हेतु से नहीं ॥7॥
इस प्रकार का परित्याग करने में कौण्डिन्य ऋषि एवं गोपिकाएँ गुरु मानीं गयीं हैं एवं उन्होंने भगवत्प्राप्ति के लिये जो किया वही साधन भी है,।
भगवद्भावना करने के द्वारा सिद्ध हुआ जो भाव है, वही इस भक्तिमार्गीयसंन्याम में साधन है, अन्य कोई साधन नहीं है ॥8॥

विकलत्वं तथाऽस्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ।।९।।

उक्त भक्तिमार्गीयपरित्याग करने वाले में जो विकलता एवं अस्वस्थता दिखाई देती है, वह तो भक्तिमार्गीयपरित्याग का स्वरूप ही ऐसा है जिसके कारण दिखाई देती है, वह विकलता या अस्वस्थता प्राकृत नहीं (रोगजन्य या अन्य किसी कारण से नहीं) होती।
ऐसी विकलता/अवस्थता की परिस्थिति में उसके लिये 'ज्ञान' एवं 'भगवद्गुणगान' भी बाधक ही सिद्ध होते हैं, उसके लिये तो अब केवल भगवान का साक्षात् प्रकट होना ही उसकी विकलता दूर कर सकता है, अन्य किसी भी साधनों द्वारा नहीं ॥9॥

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ।।१०।।
तादृशाः[1] सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।

जब, विशेषरूप से संन्यास का ही निर्देश करने वाले ज्ञानमार्ग के अनुरूप संन्यास लिया जाता है, तब लेने वाले को सत्यलोक में स्थान प्राप्त होता है,।
क्योंकि जिस मार्ग में साधन के रूप में जैसी भावना की जायेगी, फिर फल भी तो उसी भावना के अनुरूप प्राप्त होगा ! ॥10॥
ऐसे ज्ञानमार्गीय संन्यासी को निःसन्देह सत्यलोक में ही स्थान प्राप्त होता है,।

बहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा वह्निवत् प्रविशेद्यदि ।।११।।
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

किन्तु, भक्तिमार्ग में तो काष्ठ के भीतर से बाहर प्रकट होकर काष्ठ को भस्मीभूत कर देने वाली अग्नि की भाँति जब बाहर प्रकट हुए भगवान पुनः अन्तःकरण में प्रविष्ट होते हैं, ॥11॥
तभी उसके समस्त लौकिकबन्धनों का नाश होता है, अन्य किसी भी प्रकार से नहीं।

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ।।१२।।
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ।।१३।।

किन्तु जब तक भगवान अन्तःकरण में प्रविष्ट न हों, तब तक की अवस्था में भगवद्गुणगान तो भगवत्संग के बिना जीवन टिका रहने मात्र के लिये ही उपयोगी सिद्ध होता है ॥12॥
भगवान भी उसके ताप को दूर नहीं करते क्योंकि भगवान तो फलरूप हैं और उन्हें विरह की चरमदशा आने पर उसे फलदान करना है अतः वे उसके ताप को दूर करके इस प्रक्रिया में बाधक नहीं बनते, इसीलिये ऐसी अवस्था

---

१. तादृश इति पाठः ।

में वे उसे स्वास्थ्यवाक्य (सांत्वना) द्वारा उसका ताप दूर नहीं करते और इसी कारण जीव को ऐसे तड़पते रखना उनके दयालुस्वभाव से विपरीत कार्य नहीं है ॥13॥

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।

ऐसे प्रकार का परित्याग कर पाना बड़ा दुर्लभ है, जो केवल भगवत्प्रेम द्वारा ही सिद्ध हो सकता है, अन्य किसी भी प्रकार से नहीं।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ।।१४।।
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ।।१५।।
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ।।१६।।
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम्[१] ।

किन्तु, ज्ञानमार्ग में दो प्रकार के संन्यास का विचार किया गया है ॥14॥

एक ज्ञानप्राप्ति के लिये और दूसरा ज्ञानप्राप्त हो जाने के पश्चात् किया जानेवाला संन्यास, परन्तु इनसे मिलने वाली सिद्धि सैकड़ों जन्मों के बाद मिलेगी।

और ज्ञान भी यज्ञ आदि एवं श्रवणकीर्तन जैसे साधनों की अपेक्षा रखता है ॥15॥

अतः इस कलिकाल में ज्ञानमार्गीयसंन्यास लेने पर तो कालान्तर में पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। और साधन न निभे तो ऐसा संन्यास लेने पर वह पाषण्डी कहलायेगा अतः ज्ञानमार्गीयसंन्यास नहीं लेना चाहिए ॥16॥

और तिस पर कलिकाल के दोष भी बड़े प्रबल हैं कि ऐसा संन्यास फलीभूत नहीं होने देंगे।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ।।१७।।
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।

किन्तु, यदि भक्तिमार्गीयपरित्याग में भी कलिकाल के दोषों से बाधा आती हो तो क्या करें- यह कह रहे हैं ॥17॥

वह यह कि, भक्तिमार्गीयपरित्याग का आरंभ करने में जीव का नाश नहीं होता क्योंकि ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जिसमें भक्तिमार्गीयपरित्याग लेने वाले का नाश हो गया हो।

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ।।१८।।
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोपरे ।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ।।१९।।

क्योंकि जब जीव ने स्वास्थ्य दिलाने वाले भगवद्गुणगान इत्यादि का भी परित्याग कर दिया है, तो अब उसे और कौन बाधा कर सकता है !॥18॥

जब स्वयं हरि ही उसे बाधा उत्पन्न नहीं कर सकते फिर दूसरों की तो बात ही क्या कहनी !।

क्योंकि यदि हरि ही बाधा उत्पन्न करने लग जाएँ, तो फिर यही कहना पड़ेगा कि--माताएँ भी अपने बालकों का स्तनपान द्वारा उनका पोषण नहीं करतीं ॥19॥

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ।।२०।।

ऐसे भक्त को भगवान ज्ञानीजनों के वाक्यों द्वारा भी मोहित/भ्रमित नहीं करते।

क्योंकि भगवान तो स्वयं उसे अपनी आत्मा तक दे देते हैं और उसके प्रिय भी हैं, फिर वे उसे भला क्यों मोहित करने लगे ?॥20॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ।।२१।।

---

१. स्थितिरिति पाठः ।

इसलिये हमने जो कहा वैसे ही ढंग से परित्याग करना चाहिए।
अन्यथा अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाओगे- यह मेरी निश्चित मति है ॥21॥

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ।।२२।।
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितः संन्यासनिर्णयः समाप्तः ।

यह कृष्ण की कृपाद्वारा वल्लभ ने सुनिश्चितरूप से
भक्तिमार्ग में संन्यासग्रहण का प्रकार कहा- इसके अतिरिक्त करेंगे तो पतित होंगे ॥22॥
यह श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण द्वारा प्रकटित संन्यासनिर्णयग्रन्थ समाप्त हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः ॥
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥
श्रीमद्वाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीमद्गोकुलनाथविरचितविवरणसमेतः ।

नम्राणि तातचरणान् स्वीयानां सर्वकामदान् ॥
यैः कृताः स्वाभिधानार्थाः प्राकटः कृपया मयि ॥१॥

स्वमार्गीयपरित्यागं वक्तुं परित्यागविचारं प्रतिजानते, तद्धेतुमाहुः पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥१॥

भक्तिमार्गीयपरित्यागेतरसर्वपदार्थान् विचार्य त्यागमिच्छतामाचार्याणां पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं भक्तिमार्गीयपरित्यागविचारमारभन्ते पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति । उक्तपश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं यः परित्यागः स विचार्यते, न तु विधीयते, विधाने विधिशेषत्वमापद्येतेति सर्वकर्तृकत्वमापद्येत, अत उक्तं विचार्यते ॥

स्वीयजनों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले तातचरणों को नमन करता हूँ,
जिन्होंने कृपा करके अपने नाम का अर्थ मेरे लिये प्रकट किया है ॥1॥

पुष्टिभक्तिमार्गीयपरित्याग का स्वरूप क्या है- इस मुद्दे के अतिरिक्त आचार्यचरणों ने अभी तक पुष्टिमार्ग से सम्बन्धित समस्त पदार्थों का विचार कर लिया था, परन्तु पुष्टिमार्गीयपरित्याग के स्वरूप का विचार नहीं किया था अतः आपश्री को इस बात का पश्चात्ताप हुआ और अपने पश्चात्ताप की निवृत्ति करने के लिए आपश्री इस ग्रन्थ में पुष्टिमार्गीयपरित्याग का स्वरूप बताने कि प्रतिज्ञा **पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थम्** शब्द से कर रहे हैं।

उस पश्चात्ताप को दूर करने के लिये आपश्री भक्तिमार्गीयपरित्याग करने के विचार का आरंभ तो कर रहे हैं, परन्तु केवल तत्सम्बन्धी विचार ही कर रहे हैं, परित्याग करने का विधान नहीं कर रहे हैं, क्योंकि यदि आपश्री विधान कर दें, तो परित्याग विधि-विधान की कोटि में आ जायेगा और तब प्रत्येक एतन्मार्गीय के लिये परित्याग करना अनिवार्य बन जायेगा किन्तु यहाँ कहा जाने वाला परित्याग करने के लिये सभी के सभी न अधिकारी हैं और न ही योग्य अतः आपश्री परित्याग का केवल विचार ही कर रहे हैं, विधान नहीं कर रहे हैं।

स्वरूपतः साधनतः फलतश्च तस्य विचारे परित्यागसामान्याद्भक्त्यमार्गीयस्य स्वविचार्यमाणस्य च तारतम्यज्ञापनार्थमन्यमार्गीयमप्याहुः स मार्गद्वितये इति ॥ मार्गद्वयमेवाहुः भक्तौ मर्यादापुष्टिभेदभिन्नभक्तिमार्गे । मर्यादाभक्तौ श्रीमदुद्धवपृष्टेन भगवता "यद्यदर्थेषणत्यागो भोगस्य च सुखस्य च ॥ इष्टं दत्तं हुतं जप्तं यद्यद्वं यद्व्रतं तपः'इति त्यागो विशेषतः प्रोक्तः ॥ पुष्टिभक्तिमार्गे रासमण्डलगमनाद्यनन्तरमपि "सन्त्यज्य सर्वविषया"नीति । तल्लीलायामेव चतुर्थाध्याये ताः प्रत्येव "एवं यदर्थोच्छ्रिते"त्यत्र विशेषतस्त्यागः प्रोक्तः ॥

किन्तु, यदि आपाततः परित्याग के स्वरूप-साधन-फल इत्यादि के दृष्टिकोण से विचार किया जाय, तो अन्य मार्गों में एवं एतन्मार्ग में कहा/बताया गया परित्याग सामान्यतया एक जैसा ही प्रतीत होता है, इसलिये अन्यमार्गीयपरित्याग एवं आपश्री द्वारा विचारे गये परित्याग में परस्पर भिन्नता बताने के लिये आगे आपश्री **स मार्गद्वितये प्रोक्तः** इत्यादि शब्दों से अन्यमार्गीयपरित्याग के विषय में भी बता दे रहे हैं। इन दोनों मार्गों का अर्थ है **भक्तौ** यानि मर्यादाभक्तिमार्ग और पुष्टिभक्तिमार्ग इन दो प्रकार के भक्तिमार्गों में परित्याग का स्वरूप क्या है, इसका आपश्री विचार कर रहे हैं। जहाँ तक मर्यादामार्गीयपरित्याग का प्रश्न है, तो मर्यादाभक्तिमार्ग में श्रीमदुद्धवजी द्वारा पूछने पर भगवान ने मर्यादामार्गीयपरित्याग का स्वरूप *"**मेरे लिए** धन, भोग और प्राप्त सुख का भी परित्याग कर दे और जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप करे, वह सभी कुछ **मेरे लिए** ही करे(श्री0भा0-11/19/23)"* इस वाक्य द्वारा विशेषरूप से कहा है। और, पुष्टिभक्तिमार्ग में परित्याग का स्वरूप रासमण्डल को सुशोभित करने वाली गोपिकाओं ने *"हे प्रभु! हम सब कुछ*

---

१. पश्चात्तापस्वरूपमाहुः भक्तौ इति । भक्तिमार्गे च पदार्थपरित्यागादिसप्तसर्वपदार्थानां परित्यागः कृत्स्नशः ॥ तथा च लौकिकपदार्थपरित्यागो विचार्यत इति निष्कर्षः ।

छोड़कर केवल तुमसे ही मिलने आयी हैं(श्री0भा-10/29/31)" इस वाक्य द्वारा कहा/बताया गया है। इस रासलीला वाले चतुर्थ अध्याय में स्वयं भगवान ने ही उन गोपिकाओं के प्रति *"हे गोपियों! इसमें कोई सन्देह नहीं है कि, तुमने* ***मेरे लिए*** *लोकमर्यादा, वेदमार्ग और अपने सगे-सम्बन्धियों का परित्याग किया है(श्री0भा0-10/32/21)"* यह वाक्य कह कर उन गोपिकाओं ने जो त्याग किया, उसे विशेषरूप से बताया है।

(ननूभयत्राप्यविशेषेण[1] त्यागकथनादुभयोस्त्यागयोः साम्यमस्तीति चेत्, अत्र वदामः । यद्यपि मर्यादाभक्तिपरित्यागकथनेपि 'मदर्थेर्थपरित्याग' इति वाक्ये स्वप्राप्त्यर्थं परित्याग उक्तः, तद्वदेव फलप्रकरण[2]चतुर्थाध्याये शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तस्वरूपनिरूपणे 'एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वाना'मित्युक्तं, तथापि मर्यादाभक्तिमार्गे त्यागस्य मदर्थित्वं यदुक्तं, तत्स्वप्राप्त्यभिप्रायेण, न तु स्वाभिलषितसिद्ध्यभिप्रायेण, तन्मार्गे तस्यासम्भावितत्वात्,

किन्तु यहाँ समझने में उलझन यह होती है कि, ऊपर कहे मर्यादामार्गीयपरित्याग एवं पुष्टिभक्तिमार्गीयपरित्याग के स्वरूप को बताने वाले वाक्यों में त्याग तो दोनों ही स्थलों पर एक जैसा ही प्रतीत होता है, फिर इनमें भिन्नता क्या हुई ? तो अब हम इसका समाधान कह रहे हैं। यद्यपि ये बात ठीक है कि, मर्यादामार्गीयपरित्याग वाले परित्यागकथन में भी "जो **मेरे लिये** सभी वस्तुओं का परित्याग कर देते हैं" इस वाक्य द्वारा भगवान ने अपनी प्राप्ति के लिये परित्याग करना बताया है; एवं उसी प्रकार ऊपर कहे फलप्रकरण वाले शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्त के स्वरूप को बताने वाले चतुर्थ अध्याय में भी "तुम गोपिकाओं ने **मेरे लिए** लोकमर्यादा, वेदमार्ग और अपने सगे-सम्बन्धियों का परित्याग किया है(श्री0भा0- 10/32/21)" इस वाक्य द्वारा भगवान ने अपनी प्राप्ति के लिये उन सभी गोपिकाओं द्वारा सभी कुछ त्याग कर देने वाली बात बतायी है..... यद्यपि इन दोनों वाक्यों में प्राप्त होने वाले परित्याग में "मदर्थे(**मेरे लिए**)" शब्द का प्रयोग है अतः दोनों प्रकार के परित्याग एक जैसे ही प्रतीत होते हैं, तथापि इन दोनों वाक्यों मे अंतर केवल यह है कि, मर्यादामार्गीयपरित्याग में भगवान ने उनकी(भगवत्प्राप्ति)प्राप्ति करने के लिए त्याग करना बताया है, भक्तों के स्वाभिलषित मनोरथसिद्ध होने के अभिप्राय से नहीं यानि इस वाक्य में भगवान ने त्याग द्वारा केवल उनकी ही प्राप्ति करने का उपाय बताया है, जबकि स्वयं भक्त के अपने मनोरथों की पूर्ति इस प्रकार के त्याग द्वारा होगी यह नहीं कहा है; यानि उक्तप्रकारक त्याग करने से भगवल्लीला का अनुभव, भगवल्लीला में प्रवेश, भगवान के संग वार्तालाप, उनका दर्शन-स्पर्श इत्यादि मनोरथ सिद्ध नहीं हो पायेंगे क्योंकि ये सभी कुछ मर्यादामार्ग में प्राप्त होना तो संभव ही नहीं है और न ही मर्यादामार्गीयभक्त के मन में ऐसा मनोरथ ही कभी उत्पन्न हो सकता है।

पुष्टिमार्गीयभक्तस्वरूपनिरूपणे 'एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वाना'मिति लोकवेदस्वपरित्याग उक्तः । तत्र यद्यपि स्वपदेन ज्ञात्यर्थात्मान उच्यन्ते, तत्रैतासां ज्ञात्यर्थपरित्यागस्य व्रज एव स्थित्याऽसम्भावितत्वात् स्वपदस्यात्मपर्यवसायित्वमेव सम्भवति । यद्यपि विद्यमाननित्यदेहानामात्मत्यागोऽसम्भावितः, तथाप्यात्मत्यागोक्तेरयमाशयः । यथा श्रुतौ 'आत्मने वै कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति । यत्र प्रियत्वं तत्रात्मौपाधिकमेव, न तु प्रकारान्तरेण । एतासां यदात्मनि प्रियत्वं तन्न स्वात्मत्वेन, किन्तु स्वात्मनो भगवतः प्रीतिजनकहेतुत्वेन । अत एव भगवदमिलनदशायामात्मनोऽनुपयोगं ज्ञात्वा न मण्डनादिपुरस्कारस्तासाम्, उपयोगसमय एवात्मपुरस्कार इति नात्मनः स्वभावतः[3] प्रियत्वम्, किन्तु भगवदुपयोगित्वेनेत्ययमेवात्मनस्त्याग इति शुद्धपुष्टिमार्गीयत्यागस्य मर्यादामार्गीयत्यागस्य च महदेव वैलक्षण्यमित्युभयत्रापि त्यागपदोपादानादुभयोः साम्यमस्त्वित्याशङ्का निरस्ता वेदितव्या ।)

जबकि पुष्टिमार्गीयभक्त के स्वरूप का निरूपण करने में भगवान ने श्रीभागवत के *"हे गोपियों! इसमें कोई सन्देह नहीं है कि, तुमने मेरे लिए लोकमर्यादा, वेदमार्ग और अपने सगे-सम्बन्धियों का परित्याग किया है(श्री0भा0-10/32/21)"* इस श्लोक द्वारा भगवान के लिए गोपियों ने लोक, वेद एवं अपने आप का भी परित्याग किया, यह बताया है और इस प्रकारक त्याग करने से गोपिकाओं को भगवल्लीला का अनुभव, भगवल्लीला में प्रवेश, भगवान के संग वार्तालाप, उनका दर्शन-स्पर्श इत्यादि उनके मनोरथ भी सिद्ध होंगे। यद्यपि इस श्लोक में 'स्व' शब्द का अर्थ जाति-धन-आत्मा इत्यादि किया गया है, परन्तु, ये गोपिकाएँ तो व्रज में ही रहीं हैं इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इन्होंने भगवान के लिए जाति और धन इत्यादि का परित्याग किया; हाँ, ये अवश्य कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने आप का परित्याग किया; और इसलिये 'स्व' शब्द का अर्थ वहाँ पर 'आत्मा' यानि स्वयं उनके लिये ही घटित होता है। यद्यपि तब भी गोपिकाओं की देह तो विद्यमान ही है और उनकी देह भी नित्य रहने वाली बतायी गयी है, अतः उन्होंने

---

१. नन्वित्यारभ्य वेदितव्येत्यन्तं विवरणं नोपलभ्यते कुत्रचित् । २. पुष्टीति पाठः । ३. मर्यादापुष्टिमार्गीयत्यागस्येति पाठः ।

आत्मा का त्याग किया या अपने आप का त्याग कर दिया ऐसा कहना असंभव है, तथापि यदि ये कहा गया है कि उन्होंने अपने आप का त्याग कर दिया, तो इसका आशय यह है कि, जैसा श्रुति में *"अपने आप को सुख मिलता होने के कारण ही अन्य सभी कुछ प्रिय लगता है(बृहदा0 2/4/5)"* इस वाक्य द्वारा भले ही यह बताया गया है कि जीव को संसार में जो कुछ भी प्रिय लगता है, वह उसकी अपनी आत्मा को प्रिय लगता होने के कारण लगता है, अन्य किसी भी कारण से नहीं। किन्तु इन गोपिकाओं को तो अपनी आत्मा भी यदि प्रिय लग रही है, तो वह उनकी अपनी आत्मा होने के कारण नहीं, अपितु उनकी आत्मा भगवान को प्रीति देने वाली है, इसलिये उन्हें अपनी आत्मा से प्रेम है। इसी कारण भगवान से वियोग की दशा में उन्होंने अपनी आत्मा(अपने आप) को अनुपयोगी जानकर कभी उसका श्रंगार नहीं किया, अपितु जब भगवान के लिये उसके उपयोग का समय आया, तभी श्रंगार किया, इसलिये सिद्ध होता है कि उन्हें अपनी आत्मा से स्वाभाविक प्रेम नहीं था, किन्तु वह भगवान के लिये उपयोगी है इस कारण प्रेम था और यही ऊपर के श्लोक में उनके अपनी आत्मा का परित्याग करने का वास्तविक अर्थ है। यही शुद्धपुष्टिमार्गीयत्याग और मर्यादामार्गीयत्याग में परस्पर बहुत बड़ा अंतर है। इसलिये दोनों स्थानों पर "मेरे लिए त्याग" यह पद दिया होने से दोनों मार्गों में बताया गया त्याग एक समान ही है- यह शंका निरस्त हो गयी जान लेनी चाहिए।

ज्ञाने ज्ञानमार्गेपि विशेषत: प्रोक्त: । स च विशेषो 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुत्या विविदिषाविद्वद्भेदाभ्यां च तच्छास्त्रे निरूपित इति विशेषत इत्युक्तम् ॥१॥

ज्ञाने अर्थात् ज्ञानमार्ग में भी परित्याग करना विशेषरूप से बताया गया है। ज्ञानमार्ग में तो परित्याग को विशेषरूप से कहा गया है, यह *"जिस क्षण वैराग्य उत्पन्न हो जाय, उसी क्षण गृहत्याग करके वन की ओर निकल जाना चाहिए(जाबालोपनिषत्)"* इस श्रुति के अनुसार "ज्ञानप्राप्ति के लिये संन्यास(विविदिषा संन्यास)" और "ज्ञानप्राप्त हो गया है इसलिये संन्यास(विद्वद् संन्यास)" इन दो प्रकारों का संन्यास उनके शास्त्रों में बताया गया है, इसलिये आचार्यचरणों ने ज्ञानमार्गीयसंन्यास को **विशेषत:** यानि विशेषरूप से कहा गया बताया है। इसका तात्पर्य यह है कि, भक्तिमार्ग में तो परित्याग का कोई विधिवत् विधान नहीं है और विशिष्टरूप से इसकी चर्चा नहीं की गयी है, परन्तु ज्ञानमार्ग में तो उपर्युक्त दो प्रकारों द्वारा विशिष्टरूप से विधिवत् संन्यास लेने का विधान प्राप्त होता है अत: आचार्यचरण ज्ञानमार्गीयसंन्यास के लिए **ज्ञाने विशेषत:** यों कह रहे हैं ॥1॥

कर्ममार्गस्यापि मार्गान्त:पातात् तत्रापि परित्यागप्राप्तिमाशङ्क्य निषेधन्ति कर्ममार्गे न कर्तव्य इति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्य: सुतरां कलिकालत: ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥२॥

तत्र 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती'ति विधिना संन्यासग्रहणस्यानवसरपराहतत्वात् । यद्यप्यायुषश्चतुर्थो भागश्चतुर्थाश्रमेण नेय इति कुत्रचिदुक्तं तत्रापि निषेधमाहु: सुतरामिति । अस्यायमर्थ: । कलिदोषेण मनुष्याणामल्पसामर्थ्यवत्त्वादायुषश्चतुर्थभागस्यातिजराव्याप्तत्वादाश्रमधर्मस्य चातिकष्टसाध्यत्वेनानिर्वाहाद्विपरीतफलसाधकत्वं भवेदिति सुतरां कलिकालत इत्युक्तम् । एवं ज्ञानमार्गे परित्यागस्य कर्तव्यत्वं निरूप्य तस्यैव कर्ममार्गे सोपपत्तिकमकर्तव्यत्वं च निरूप्य भक्तिमार्गे तस्य कर्तव्यप्रकारविचारमारभन्ते अत इति । यत: प्रकारभेदेन पूर्वं मार्गद्वयेपि कर्तव्याकर्तव्यभेदेन परित्यागो यद्यपि निर्दिष्टस्तथापि विचारारम्भे पूर्वं भक्तिमार्गस्योद्दिष्टत्वादत: कारणादादौ प्रथमत: भक्तिमार्गीयपरित्यागस्य प्राप्तत्वात्तस्य विचारणा विचार: क्रियत इत्यर्थ: । विचारणा च कदा कर्तव्य:, कथं कर्तव्य:, किमर्थं कर्तव्य इति ॥२॥

सभी मार्गों के अन्तर्गत कर्ममार्ग भी आता है अत: कर्ममार्ग में भी परित्याग करना आवश्यक होगा- ऐसी यदि कोई आशंका करता हो तो आपश्री **कर्ममार्गे न कर्तव्यं** कह कर उसका निषेध कर रहे हैं।

आपश्री निषेध इसलिये कह रहे हैं क्योंकि कर्ममार्ग में तो *"जब तक जीवन रहे तब तक अग्निहोत्र करते रहें"* इस प्रकार की विधि होने के कारण संन्यास ग्रहण करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। यद्यपि "आयु का चौथा भाग चौथे आश्रम यानि कि संन्यास आश्रम में बिताना चाहिए" ऐसा विधान भी कहीं कहीं पर कहा गया है, फिर भी आपश्री **सुतरां कलिकालत:** इत्यादि शब्दों से उसका निषेध कह रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, कलिकाल के दोष के कारण मनुष्य अल्पसामर्थ्यवान हो गये हैं इसलिये आयु के चतुर्थभाग पर आते-आते वे अतिवृद्ध हो जाते हैं और संन्यासाश्रम के धर्म भी अति कष्टसाध्य होने के कारण उनका निर्वाह नहीं हो पाता और ऐसे में संन्यास लेना/परित्याग करना उल्टे विपरीत फलसाधक बन जाता है, इसलिये आचार्यचरण **सुतरां कलिकालत:** कह कर कलिकाल में कर्ममार्गीयसंन्यास का निषेध कह रहे हैं। इस प्रकार से ज्ञानमार्ग में परित्याग करने का निरूपण करके और उसी परित्याग को युक्तिपूर्वक

कर्ममार्ग में भी न करना कह कर, अब आगे आचार्यचरण भक्तिमार्ग में परित्याग करने के प्रकार का विचार **अतः** इत्यादि शब्दों से आरम्भ कर रहे हैं। भक्तिमार्ग में परित्याग का विचार इसलिये क्योंकि प्रकारभेद द्वारा 'ज्ञानमार्ग' एवं 'कर्ममार्ग' दोनों ही मार्गों में क्रमशः परित्याग करना या नहीं करना, इसका निर्देश आपश्री कर चुके, तथापि विचार आरम्भ करने के पूर्व प्रथमश्लोक में आपश्री ने सबसे पहले भक्तिमार्ग का ही नाम लिया था **अतः** इस कारण आपश्री इस श्लोक में पहले भक्तिमार्ग में परित्याग करने के विषय में विचार कर रहे हैं- यह अर्थ है। विचार करने का अर्थ है- परित्याग कब करना चाहिए, कैसे करना चाहिए और किसलिये करना चाहिए, यह बता रहे हैं ॥2॥

भक्तिमार्गे श्रवणादिसाधनसिद्ध्यर्थं कर्तव्यपक्षं निराकुर्वन्ति श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थमिति ।

श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं कर्तव्यत्वेन नेष्यते ।

सहायसङ्गसाध्यत्वात्तत्त्यागानां च सङ्गतात् ॥३॥

श्रवणादीत्यारभ्य नेष्यत इत्यन्तेन । स परित्यागो नेष्यते, इच्छानिषेधात्तेषामि नाङ्गीकियत इत्यर्थः । अनङ्गीकारे हेतुमाहुः सहायेति । "एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः" इत्यादिवाक्यैरत्यागिन एकाकित्वेनैव स्थितेरुचितत्वाच्छ्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात् सहायाः प्रेरकास्तेषां स्वस्वमतानुसारिश्रवणप्रेरकत्वात्तन्मार्गीयश्रवणानां पुष्टिभक्तिमार्गविरोधित्वान्न भक्तिमार्गसाधकत्वम् ।

अब अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण भक्तिमार्ग में श्रवणकीर्तन इत्यादि सिद्ध करने के उद्देश्य से किए गए परित्याग वाले पक्ष का निराकरण **श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थम्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

इसके विषय में आपश्री ने **श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थम्** से लेकर **नेष्यते** तक के शब्दों द्वारा कहा है। आपश्री आज्ञा करते हैं- श्रवणकीर्तन इत्यादि सिद्ध करने के उद्देश्य से परित्याग करने की तो इच्छा भी मन में नहीं लानी चाहिए। इसका कारण आपश्री **सहाय** इत्यादि शब्दों द्वारा कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि, *"ऐसा दिन कब आयेगा, जब मैं अपने हाथों को ही पात्र और दिशाओं को ही वस्त्र बनाकर सर्वथा इच्छारहित होकर पूर्णतः शान्त जीवन व्यतीत करूँगा(भर्तृहरि वैराग्यशतकम्-66)"* इत्यादि वाक्यों के अनुसार त्यागियों के लिये तो अकेले ही रहना उचित है, किन्तु श्रवणकीर्तन तो किसी न किसी सहाय-संगी के द्वारा ही सिद्ध हो पायेंगे और श्रवणकीर्तन के संगी-साथी तो उसे अपने-अपने ढंग से श्रवणकीर्तन करने की प्रेरणा देंगे, यानि अपने-अपने मार्ग के मतानुसार श्रवणकीर्तन की प्रेरणा देंगे और उन-उन मार्गों में बताया हुआ श्रवणकीर्तन पुष्टिभक्तिमार्ग से विरुद्ध होता होने के कारण वैसा श्रवणकीर्तन भक्तिमार्ग का साधक नहीं बन पायेगा।

तथा । मायावादिनां श्रुतीनामपि कल्पितत्वात्तत्प्रतिपाद्यब्रह्मधर्माणामपि व्यवहारोपयोगित्वेनापारमार्थिकत्वाद् ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वाद्भक्तिमार्गविरोधित्वम् ।

वह इस प्रकार कि, जैसे मायावादी तो वेद की उन श्रुतियों को भी कल्पित मानते हैं जो श्रुतियाँ ब्रह्म में कोई भी धर्म होने का विधान कर रही हैं; वे कहते हैं कि वेद में श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के जो कोई भी धर्म बताए गए हैं, वे केवल व्यवहारोपयोगी होने के नाते ही बताए गए हैं, वे कहते हैं कि ऐसे ब्रह्म के धर्म अपारमार्थिक हैं क्योंकि वस्तुतः ब्रह्म तो निर्धर्मक है- अतः उनकी यह बात भक्तिमार्ग से विरुद्ध है। मायावादियों का ऐसा मानना है कि जगत का निर्माण करना, सृष्टि रचना, अवतार लेना इत्यादि धर्म ब्रह्म के हैं ही नहीं, ब्रह्म तो निर्विशेष-निराकार है। परन्तु जब तक ऐसे ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता तब तक ब्रह्म को समझने मात्र के लिए दैनिकव्यवहार में आनेवाले जगत-जीव-ब्रह्म इत्यादि की व्यावहारिक सत्ता बता दी जाती है, परन्तु, ब्रह्मज्ञान होने पर ये सब भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है- ऐसा अद्वैतवेदान्त का मानना है। उदाहरण के रूप में समझें कि मान लो यदि किसी ने हाथी को कभी देखा न हो, तो उसे रेखाओं से हाथी का चित्र बना कर समझाया जाता है। जब वो उस चित्र के आधार पर हाथी समझ लेता है और कभी वास्तव में जीवित हाथी को देखता है तो उसे हाथी के वास्तविक रूप का ज्ञान होता है। परन्तु जब तक उसे वास्तविक हाथी नहीं दिखा था, तब तक तो उसे हाथी के चित्र से ही तो हाथी को समझना पड़ा। अब वास्तविक हाथी को देखने के पश्चात् उसे ये ज्ञान भी हो जाता है कि चित्र वाला हाथी मिथ्या था और तब उसे उस चित्र की आवश्यकता भी नहीं रहती। यदि वह तब भी चित्र वाले हाथी को ही पकड़े रखे, तो वह वास्तविक हाथी तक कभी नहीं पहुँच पायेगा। ठीक इसी प्रकार अद्वैतवेदान्त का मानना है कि जबतक ब्रह्मज्ञान प्राप्त होकर मूलब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, तब तक व्यवहार में आने वाले जीव, जगत इत्यादि के आधार पर ब्रह्म को समझाया जाता है, परन्तु एक बार जब मूलब्रह्म का ज्ञान हो जाए, तब तो ये सभी हाथी के चित्र की भाँति स्वतः ही मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं- यह अर्थ है।

नैयायिकमते तु "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः" इति जगत्कर्तृकत्वेनेश्वरसिद्धावपि ज्ञानेच्छाप्रयत्नातिरिक्तधर्माणामभावाद्भक्तिमार्गविरोधित्वम् ॥ मीमांसकानां निरीश्वरत्वादेव श्रोतव्याभावान्न श्रवणार्थिप्रेरणम्,

तत्तन्मार्गीयप्रेरकप्रवृत्तौ तत्तन्मार्गीयैरेव सङ्गात्तन्मार्गीयश्रवणस्यैव सिद्धेस्तच्छ्रवणस्य भक्तिमार्गविरोधित्वान्न भक्तिमार्गसाधकत्वम् । नैयायिकों का मत यह है कि, यद्यपि "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः" इस वाक्यानुसार जगत् का कर्ता होने के नाते ब्रह्म की ईश्वरता सिद्ध हो चुकी है, तथापि वे ब्रह्म में 'ज्ञान', 'इच्छा', 'प्रयत्न' इत्यादि के अतिरिक्त अन्य किसी धर्मों का होना स्वीकार नहीं करते, जो कि भक्तिमार्ग से विरुद्ध है। मीमांसक तो खैर निरीश्वरवादी ही होते हैं अतः इसलिये जब उनके यहाँ श्रवण करने के लिए ईश्वर जैसा कोई तत्त्व है ही नहीं, तो वे श्रवणकीर्तन के लिये किसी को प्रेरित करेंगे/करते ही नहीं। फलितार्थ यह हुआ कि, उन-उन मार्गों के प्रेरकों द्वारा उन-उन मार्गानुगामियों का ही संग मिलता होने के कारण अन्यमार्गीयश्रवण ही सिद्ध होगा, जो भक्तिमार्ग से विरुद्ध होता होने के कारण भक्तिमार्ग का साधक नहीं बनेगा।

बाधकान्तराण्यप्याहुः साधनानां च रक्षणादिति । साधनानामाश्रमसाधकधर्माणां स्नानशौचप्रणवजपादीनां रक्षणं यथोक्तप्रकारानुष्ठानम् । तेनैव सर्वकालव्याप्त्या न भक्तिमार्गीयश्रवणादिप्रवृत्त्यवसर इत्यनङ्गीकारः ।।३।।

आचार्यचरण ऊपर बताए कारण के अतिरिक्त श्रवणकीर्तन इत्यादि सिद्ध करने के उद्देश्य से किए गए परित्याग में आड़े आने वाले अन्य बाधकों को भी **साधनानां च रक्षणात्** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। **साधनानां च रक्षणात्** का अर्थ है- आश्रमजीवन के साधक स्नान-शौच-ॐकारजप इत्यादि साधनों का रक्षण करना, यानि आश्रम में इनका जैसा-जैसा प्रकार बताया गया है, वैसे-वैसे प्रकार से अनुष्ठान करना; इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, इन्हीं सब कार्यों को निपटाते-निपटाते सारा समय व्यतीत होता रहेगा और भक्तिमार्गीयश्रवणकीर्तन आदि में प्रवृत्त होने का अवसर ही नहीं मिल पायेगा, अतः आपश्री श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के उद्देश्य से किए गए परित्याग को स्वीकार नहीं कर रहे हैं ॥3॥

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ।।४।।
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तपाषण्डी स्यात्तु कालतः ।। ५।।

किञ्च, अभिमानात् सर्वादरणीयत्वेन स्वस्मिन्नाश्रमज्येष्ठत्वाभिमानात्तस्य च भक्तिसाधनविरोधित्वात्तथा । किञ्च, नियोगादुक्तपरित्यागस्य शास्त्राज्ञाधीनत्वाद्वक्ष्यमाणस्य च तदनधीनत्वात्तथा । किञ्च, तद्धर्मैश्च विरोधतः । तद्धर्मैर्वक्ष्यमाणभक्तिमार्गीयपरित्यागधर्मैः, चकारात्स्वरूपेण च विरोधात्तथा ।

पेछले श्लोक में बताए गए कारणों के अतिरिक्त परित्याग का निषेध करने का एक कारण यह भी है कि, आपमें अभिमान पनप सकता है। यानि संन्यासी हो जाने के पश्चात् सभी लोगों से आदर मिलने लगेगा और अपने आपमें चारों आश्रमों में श्रेष्ठ संन्यास-आश्रम में होने का अभिमान भी पनपेगा, जो कि भक्तिमार्गीयसाधनों से विरुद्ध है अतः आचार्यचरण उपरोक्त हेतु से परित्याग करने का निषेध कर रहे हैं। एक कारण और भी है कि, **नियोगात्** यानि कि ऊपर बताया गया संन्यास तो शास्त्र-आज्ञानुसार लिया जाता है, जबकि यहाँ जिस परित्याग के विषय में आपश्री को बताना है, उस परित्याग में शास्त्र-आज्ञा या विधिगत संन्यास की अपेक्षा नहीं है। और **तद्धर्मैश्च विरोधतः** यानि इस ग्रन्थ में कहे जाने वाले भक्तिमार्गीयपरित्याग के धर्मों की तुलना में जिस प्रकार का संन्यास ऊपर बताया गया, वैसा संन्यास विरुद्ध जाता है और इन दोनों के परस्पर स्वरूपों में भी विरोध है; यह भी कारण है जिसके लिये आपश्री श्रवणकीर्तन इत्यादि सिद्ध करने के उद्देश्य से किए गए परित्याग का निषेध कर रहे हैं- यह बात आपश्री ने **'च'** शब्द से कही है।

यनु श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं त्यागकर्तुर्भक्तिमार्गीयश्रवणाद्यज्ञानात्तत्तज्ज्ञानहेतुकत्यागस्य तदङ्गत्वेन गौणत्वात्तस्याकर्तव्यत्वमस्तु । भक्तिमार्गीयश्रवणादिस्वरूपज्ञानवतः गृहस्थितौ व्यासङ्गेन तदनिर्वाहं ज्ञात्वा तत्परित्यागस्य मुख्यत्वमस्त्वित्यपि पक्षस्य वक्ष्यमाणत्यागवैजात्यात् सहेतुकमकर्तव्यत्वमाहुः गृहादेरिति । उक्तपरित्यागानन्तरमपि साधनदशायां भक्तिमार्गीयपूर्णभगवद्भावाभावान्निरन्तरनिर्वाहस्याशक्यत्वेन चित्तचाञ्चल्यादेतन्मार्गविजातीयैरेव सङ्गो भवति, नान्यथा ।

केन्तु यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, चलो श्रवणकीर्तन में प्रवृत्त होने के हेतु से त्याग करने वाले को भक्तिमार्गीयश्रवणकीर्तन पद्धति का ज्ञान नहीं है इसलिये अन्यमार्गीय प्रकार की जिन-जिन पद्धतियों का ज्ञान उसे है, उन उन प्रकार से श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के हेतु से किया गया परित्याग भी उन्हीं मार्गों का अंगभूत बनेगा अतः ये बात तो ठीक है कि वैसा परित्याग गौण है और ऐसा परित्याग करने के लिए मना किया जा रहा है तो भले ही नहीं करना चाहिए, परन्तु, जिन्हें भक्तिमार्गीयश्रवणकीर्तन के स्वरूप का ज्ञान है, ऐसे भगवदीय यदि घर में रहते हुए गृहकार्यों में फँसे रहते होने से भक्तिमार्गीयश्रवणकीर्तन का निर्वाह न हो पाता होने

के कारण परित्याग करते हों, तो ऐसे परित्याग को तो मुख्य ही मानना चाहिए, फिर आचार्यचरण ऐसे परित्याग के लिए मना क्यों कर रहे हैं- यदि कोई ऐसा सोचता हो तो यह पक्ष भी इस ग्रन्थ में बताए गए परित्याग से विपरीत जाता है अतः इस पक्ष को भी आचार्यचरण **गृहादेः** इत्यादि शब्दों द्वारा हेतु/कारण देते हुए न करने का उपदेश दे रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- गृहकार्यों की व्यस्तता भगवींच्चतनेंम अड़ी अतिा होन काे समस्या काे दूर करने के उद्देश्य से जो पीरत्याग कर रहाँ ह, वह पीरत्याग करने क पश्चात् भी, चूँकि अभी उसकी साधनदशा है और अभी उसमें भक्तिमार्गीय पूर्णभगवद्भाव परिपक्व नहीं हुआ होता है, इसलिये भक्तिमार्गीयसंन्यास का निरन्तर निर्वाह होना अशक्य होता है और उसका चित्त डाँवाडोल होता रहता है, अतः चित्तचंचलता के कारण उसे एतन्मार्ग से विजातीय लोगों का ही संग मिलता है, अन्य भक्तिमार्गीयों का नहीं।

अतादृशैः सङ्गो न भवतीत्यत उक्तमग्रेपीति । विजातीयानां च विषयाक्रान्तचित्तत्वात्तत्सङ्गस्याल्पस्यापि पूर्वभावनिर्वाहनाशकत्वेन स्वस्यापि विषयाक्रान्तिसम्भवात् कालक्रमेण पूर्वभावनिर्वाहाभावात् कृतस्यापि त्यागस्य मुख्यफलासाधकत्वाद्भक्तिमार्गविचारे पाषण्डित्वमेवेत्यत उक्तं स्वयं चेति । विषयाक्रान्तपाषण्डीत्यत्र कर्मधारयः । तुशब्देनापाषण्डित्वपक्षनिरासः ।।४।।५।।

जो विजातीय नहीं हैं, यानि कि अपने भाव के सजातीय हैं, ऐसों का संग नहीं मिलेगा- इस बात को कहने के लिये आपश्री ने **अग्रेपि** इत्यादि शब्दों से कहा है, यानि घर में रहते हुए तो खैर एतन्मार्गीयों का संग नहीं ही मिला परन्तु परित्याग करने के पश्चात् **आगे भी** नहीं मिलेगा- यह अर्थ है। और विजातीयों का चित्त तो विषयाक्रान्त होता है अतः ऐसों का अल्पमात्रा का संग भी पहले के भगवद्भाव नाश कर देता है, जिसके कारण खुद के भी विषयाक्रान्त हो जाने की सम्भावना रहती है और कालान्तर में वह अपने पहले के रहे-सहे भाव का भी निर्वाह नहीं कर पाता और किया हुआ त्याग भी मुख्यफल की सिद्धि नहीं कराता, इसलिए ऐसी परिस्थिति में भक्तिमार्ग की दृष्टि से वह पाषण्डी ही सिद्ध होगा। 'विषयाक्रान्तपाषण्डी' में कर्मधारयसमास समझनी चाहिए, इसका अर्थ यह हुआ कि फिर वह विषयाक्रान्त और पाषण्डी दोनों हो जायेगा। और, "संन्यास लेने के पश्चात् फिर कोई कभी पाषण्डी नहीं हो सकता" इस पक्ष का निरास आचार्यचरणों ने 'तु' शब्द से किया है, यानि परित्याग करने के या संन्यासी हो जाने के पश्चात् भी पाखण्डी होने की संभावना बनी रहती है- यह फलितार्थ है ॥4॥5॥

यद्यपि दुःसंगो भावस्थितौ बाधकस्तथापि भावस्थित्यर्थमेवोपक्रमाद् दुःसंगेपि कदाचिद्भावस्तिष्ठेदिति पक्षनिराकरणमाहुः विषयाक्रान्तदेहानामिति ।

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ।।६।।

विषयाश्चक्षुरादिसर्वेन्द्रियविषयाः रूपरसादयस्तैराक्रान्तः व्याप्तः देहो येषां तेषां सर्वदा हरेरावेशो न भवति । यत एते प्रकारा बाधका अतः अत्र साधने भक्तौ साधनरूपभक्तिमार्गे भक्तिसाधनार्थं त्यागः सुखावहो न, पुरुषार्थसाधको न भवतीत्यर्थः । एवकारेण सर्वात्मना पुरुषार्थासाधकत्वमुक्तम् ।।६।।

यद्यपि दुःसंग भगवद्भाव टिका रहने में बाधक होता है, तथापि भगवद्भाव बनाए रखने के लिये ही यदि संन्यास लिया हो, तो संभव है कि कदाचित् दुःसंग होने के बाद भी भाव टिका रहे अतः परित्याग करने में कोई आपत्ति नहीं है- इस पक्ष का निराकरण करने के लिये आचार्यचरण **विषयाक्रान्तदेहानां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

विषयाः का अर्थ है- चक्षु आदि समस्त इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने वाले रूप-रस आदि सांसारिकविषय; इन विषयों से आक्रान्त जिनकी देह है, उनमें सर्वदा हरि का आवेश बना नहीं रहता। चूँकि ऊपर कहे समस्त प्रकार भगवद्भाव बनाए रखने में बाधक हैं अतः भक्ति की साधनावस्था में(यानि जब भक्ति पूर्णतया परिपक्व नहीं बनी है तब की अवस्था में)भक्ति के साधनों को सिद्ध करने के हेतु से किया जाने वाला परित्याग सुखदायी नहीं होता, यानि पुरुषार्थसाधक नहीं होता- यह अर्थ है। **एव** शब्द के प्रयोग से आचार्यचरणों ने यह कहा है कि, ऐसा त्याग भक्ति के साधनों को सिद्ध करने के लिए तो ठीक परन्तु किसी भी प्रकार से पुरुषार्थ का साधक नहीं होता ॥6॥

तर्हि भक्तिमार्गे त्यागकथनस्य प्रयोजनाभावाद्वैयर्थ्यमायातीति चेत्तत्र प्रयोजनमाहुः विरहानुभवार्थमिति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ।।७।।

ननु विरहस्य संयोगपूर्वकत्वात् साम्प्रतं तस्याभावात् कथं विरह इति चेत् , सत्यम् वक्ष्यमाणपरित्यागस्य पूर्णपुष्टिमार्गीयभगवद्भावानन्तरभावित्वेन तत्पूर्वदशायां भगवत्स्वरूपसेवनस्यावश्यकत्वात्तत्र भावपूर्वकश्रीमुखदर्शनतत्तदङ्गस्पर्शजनितसङ्गाभिलाषाया अतिप्रचुरत्वेन तच्छान्त्यभावजन्यत्वात् सङ्गमपूर्वकत्वं विरहस्य भगवद्विरहस्यानुभवः निरन्तरं तद्भावापत्तिस्तदर्थं तत्सिद्ध्यर्थमित्यर्थः । तेन शुद्धपुष्टिमार्गीयपूर्णभाववानधिकारीति ज्ञापितम् ।

यदि ऐसी ही बात है फिर तो भक्तिमार्ग में त्याग करने का अब कोई प्रयोजन ही न रहा, फिर आचार्यचरण व्यर्थ में इस ग्रन्थ में परित्याग/संन्यास की चर्चा क्यों कर रहे हैं ?- यदि ऐसा सन्देह होता हो तो आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में भक्तिमार्ग में त्याग करने का वास्तविक प्रयोजन **विरहानुभवार्थम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इसके आगे श्रीगोकुलनाथचरणों ने किसी पूर्वपक्षी की शंका रखी है, जिसमें शंका यह है कि विरह का अनुभव तो एक बार संयोग/संगम होने के पश्चात् ही संभव बन सकता है अतः जब संयोग ही नहीं हुआ है तो विरह का अनुभव भी कैसे होगा। इस शंका के समाधान में आपश्री भगवत्सेवा यानि कि स्वरूपसेवा को संयोग/संगम होने के अर्थ में बता रहे हैं, यानि भगवत्स्वरूप की सेवा प्रभु से संयोग की अवस्था है, इसे ध्यान में रखते हुए आगे की पंक्तियाँ पढ़नी चाहिए। आचार्यचरणों ने इस श्लोक में यह तो कह दिया कि भगवद्विरह का अनुभव करने के लिए भक्तिमार्ग में त्याग करना चाहिए, परन्तु प्रश्न यह है कि प्रभु से विरह का अनुभव तो तब हो सकता है जब एक बार संयोग प्राप्त हो चुका हो; किन्तु अभी उसे संयोग तो प्राप्त हुआ ही नहीं है फिर वह विरह का अनुभव आखिर करेगा कैसे ? यदि कोई ऐसी शंका करता तो एक घड़ी बात ठीक है, परन्तु, आचार्यचरण इस ग्रन्थ में जिस प्रकार के परित्याग की बात कह रहे हैं, वह परित्याग पुष्टिमार्गीय पूर्णभगवद्भाव सिद्ध होने के पश्चात् होता है और ऐसे भाव के सिद्ध होने के पहले भगवत्स्वरूप की सेवा करनी आवश्यक होती है, और भगवत्सेवा करते समय जब जीव को भावपूर्वक भगवन्मुखारविन्द के दर्शन एवं उनके तत्तत् श्रीअंगों का स्पर्श होता है, तब उसके मन में भगवान का संग प्राप्त करने की अभिलाषा अतिप्रचुर हो जाती है, जो कि शांत न होती होने के कारण उत्पन्न हुआ भगवद्विरह का अनुभव वास्तव में तो संगम हुआ होने के पश्चात् ही उत्पन्न होने वाला विरह है; **विरहानुभवः** अर्थात् भगवान के विरह का अनुभव करना, यानि मन में निरन्तर ऐसे भगवद्भाव को प्राप्त करना- ऐसे विरह का अनुभव करने के लिये परित्याग करना चाहिए- यह आचार्यचरणों का भाव है। इससे आचार्यचरणों ने यहाँ यह बताया है कि, शुद्धपुष्टिमार्गीय पूर्णभाववाले ही इस ग्रन्थ में कहे गये परित्याग करने के अधिकारी हैं, अन्य कोई नहीं।

तादृशस्य सर्वात्मभाववद्भक्तसम्बन्धिरासादिलीलाविचारस्यावश्यकत्वेन तस्याश्च परमफलत्वेन स्वस्यापि तन्मार्गीयत्वेन तत्फलोत्कटाभिलाषया साम्प्रतं तत्पूर्त्यभावात्तत्पूरकस्याधुना दर्शनाद्यभावाद्विरहस्यावश्यकत्वम् । गृहस्थितौ गृहस्थितानां तद्भावैजात्यात् तत्सङ्गस्यैतद्भावनाशकत्वेन तदनुभवाभावाद् गृहत्यागस्यावश्यकत्वम्, तस्य परित्यागज्ञापनार्थं वेषकल्पनमाहुः स्वीयेति । स्वीयाः भार्यापुत्रादयस्तत्कृतो बन्धः, त्यागे प्रतिबन्धः, तन्निवृत्त्यर्थं वेषकल्पनम् । स वेषः अत्र अस्मिन्मार्गे प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थमेव । न चान्यथा, अन्यप्रयोजनार्थं न भवतीत्यर्थः । यथा मर्यादामार्गीयचतुर्थाश्रमपरिग्रहहेतुत्वेनावश्यकत्वाय वेषकल्पनं तथास्मिन्मार्गे न भवतीत्यर्थः ।।७।।

उपरोक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि, ऐसे शुद्धपुष्टिमार्गीय पूर्णभाववाले भक्त को सर्वात्मभाववान व्रजभक्तों(गोपिकाओं)से सम्बन्धित रास-आदि लीलाओं का चिंतन/विचार आना तो अवश्यंभावी होता ही है, और रास-आदि लीला में प्रवेश पाना तो शुद्धपुष्टिमार्ग का परमफल है और चूँकि वह खुद भी पुष्टिमार्गीय है अतः उसे ऐसा फल प्राप्त होने की उत्कट अभिलाषा बनी रहती है; किन्तु स्वरूपसेवा करते समय जब उसकी अभिलाषा पूर्ण नहीं हो पाती और उसकी ऐसी अभिलाषाओं की पूर्ति करने वाले भगवान के दर्शन अभी उसे हुए नहीं होते हैं, अतः उसे भगवान के विरह का अनुभव होना तो अवश्यंभावी होता ही है। किन्तु घर में रहते हुए परिवारजन चूँकि उसके भाव से विपरीत होते हैं और उनका संग ही उसके भगवद्भाव का नाशक भी होता है अतः उनके दुःसंग के कारण उसे ऐसे भगवद्विरह का अनुभव होना संभव न होता होने के कारण उसका गृहत्याग करना अवश्यंभावी हो जाता है ; इसलिए अपने परित्याग को उन्हें जताने मात्र के लिये ही उसे संन्यासी का वेश पहनना होता है, ज्ञानमार्गीयसंन्यास में बताये गये विधिपूर्वकसंन्यास में निर्देश किये गये गेरुआ वस्त्र के कारण नहीं- इस बात को आचार्यचरणों ने **स्वीयबन्धनिवृत्यर्थम्** इत्यादि शब्दों से समझाया है। स्वीयजनों का अर्थ है- पत्नी, पुत्र आदि परिवारजन; इनका बन्धन कहने का अर्थ है- उसके त्याग में इन स्वीयजनों द्वारा उत्पन्न किए जाने वाले प्रतिबन्धों की निवृत्ति करने के लिये उसने गेरुआ वेष धारण किया होता है। यानि आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, शुद्धपुष्टिमार्गीय

पूर्णभगवद्भाव रखने वाले भक्त ने इस मार्ग में परित्याग/संन्यास लेने के पश्चात् गेरुआ वेष केवल इसीलिये धारण किया होता है ताकि वह अपने परिवारजनों के प्रतिबन्धों को दूर रख सके, अन्य किसी दूसरे प्रयोजन के लिये नहीं। यानि ज्ञानमार्गीयसंन्यास में बताये गये विधिपूर्वकसंन्यास में निर्देश किये गये गेरुआ वस्त्रों के कारण वह गेरुआ वस्त्र नहीं धारण करता अपितु इसलिये धारण करता है ताकि उसके परिवारजन अब उसके वेश को देखकर अपने लिये निरुपयोगी मानकर उससे कोई अपेक्षा न रखें और उसके प्रति उदासीन हो जाएँ, जिसके कि वह एकान्तचित्त होकर भगवद्विरह का अनुभव कर सके- यह अर्थ है। जिस प्रकार मर्यादामार्गीय चतुर्थाश्रम का परिग्रहण करने के लिये नियमानुसार गेरुआ वस्त्र धारण करना होता है, उस प्रकार या उस हेतु से भक्तिमार्ग में(हमारे मार्ग में)धारण नहीं किया जाता- यह अर्थ है ॥7॥

मार्गद्वये परित्यागाविशेषेपि मार्गभेदनिरूपणार्थं परित्यागनिमित्तं वेषकल्पननिमित्तं चोक्त्वा गुरून् साधनं च निरूपयन्ति कौण्डिन्यो गोपिका इति ।

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥८॥

कौण्डिन्य ऋषिः अनन्तव्रतप्रस्तावे निरूपितः । गोपिकाः प्रसिद्धा इति न प्रकारविशेषोक्तिः । यद्यपि कौण्डिन्यस्य मर्यादामार्गीयत्वेनैतन्मार्गाज्ञानादेतन्मार्गोपदेष्टृत्वासम्भवादुरुत्वं न सम्भवति, तथापि दत्तात्रेयवत्स्ववैराग्योपयोगितत्तद्धर्मशिक्षणेनोपदेष्टृत्वाभावेपि पृथ्व्यादिषु यथा गुरुत्वाङ्गीकारस्तथा कौण्डिन्यस्याप्यनन्तगुणश्रवणेन तन्मिलनार्तिजनितविप्रयोगभावजनितवैक्लव्येन च प्रश्नायोग्येष्वपि प्रश्नकरणात्सहसा तत्त्यागस्यैतन्मार्गीयत्यागस्य चैतावद्धर्मसाम्यात्कौण्डिन्येपि गुरुत्वकथनम् ।

ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग दोनों मार्गों में परित्याग एक समान ही प्रतीत होता है तथापि दोनों मार्गों के परित्याग का भेद बताने के लिये आचार्यचरणों ने दोनों मार्गों में परित्याग करने का कारण भी बताया एवं यह भी बताया कि दोनों मार्गों में संन्यासी का वेश धारण करने का कारण भी क्या है, अब अग्रिमश्लोक द्वारा आपश्री इस भक्तिमार्ग में परित्याग करने में गुरु एवं उसके साधन क्या हैं, यह **कौण्डिन्यो गोपिकाः** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। यानि भक्तिमार्गीयपरित्याग किसने, कब और कैसे किया है, यह आचार्यचरण आगे बता रहे हैं।

कौण्डिन्य ऋषि के विषय में अनन्तभगवान की कथा में निरूपण किया गया है। गोपिकाएँ तो प्रसिद्ध ही हैं अतः आचार्यचरणों ने केवल **गोपिकाः** कह दिया और उनका कोई विशेष प्रकार नहीं बताया। यद्यपि कौण्डिन्यऋषि मर्यादामार्गीय हैं और इस मार्ग मे अनभिज्ञ होने के कारण उनका एतन्मार्गीय उपदेश देना संभव नहीं हो सकता और इसीलिये वे इस मार्ग के गुरु भी नहीं हो सकते, तथापि जिस प्रकार दत्तात्रेयजी ने उनके वैराग्य में उपयोगी उन-उन धर्मों की शिक्षा देते होने के कारण पृथ्वी आदि को गुरु के ढंग से स्वीकार कर लिया था, फिर भले ही पृथ्वी आदि ने दत्तात्रेयजी को कोई उपदेश नहीं दिया था, ठीक उसी प्रकार कौण्डिन्यऋषि ने भी अनन्तभगवान के गुणों का श्रवण किया था एवं भगवान से न मिल पाने के कारण उन्हें विप्रयोग के कारण विकलता भी हुई थी, जिसके कारण उन्होंने उनसे भगवत्सम्बन्धी प्रश्न किये, जो प्रश्न करने योग्य भी नहीं थे- इत्यादि बातों के द्वारा जो त्याग उनमें उस समय सहसा प्रकट हुआ, वह इस मार्ग के अनुरूप ही त्याग था, इस कारण केवल इतनी ही समानता होने के कारण आचार्यचरणों ने कौण्डिन्यऋषि को भी इस मार्ग के गुरु कह दिया है, तात्पर्य यह हुआ कि केवल इतने ही सीमित लक्षणों के दृष्टिकोण से कौण्डिन्य ऋषि को गुरु कहा गया है, सर्वांश में नहीं।

गोपिकानामप्युपदेष्टृत्वाभावेपि तन्मार्गप्रकटनेन तद्भावानुरूपाचरणेन च 'दुहन्त्य'इत्यनेन विरहेण गृहत्यागेनापि गुरुत्वम् । गुरूनुक्त्वा साधनमाहुः साधनमिति । यदग्रे वक्ष्यमाणं तत्साधनमित्यर्थः । तदेवाहुः भाव इति । स्वस्मिन् गोपिकाभावानुरूपभावनया सिद्धभावस्य साधनत्वमिष्टम्, अन्यद् दानव्रतादिकमपि साधनत्वेन नेष्टमित्यर्थः ॥८॥

वैसे तो गोपिकाओं ने भी कभी किसी को गुरु की भाँति उपदेश नहीं दिया है, तथापि गोपिकाओं द्वारा ही यह मार्ग प्रकट हुआ है और उन्होंने इस मार्ग के भावानुरूप आचरण करते हुए *"वेणुनाद सुनकर जो गोपियाँ गायों का दूध दुह रहीं थीं, वे उसे छोड़कर प्रभु के पास चल दीं(श्री0भा0 10/29/5)"* इस वाक्य में बताए संदर्भ के अनुसार गृहत्याग किया था अतः इस कारण भी वे इस मार्ग की गुरु हैं। गुरु को बताकर अब आचार्यचरण **साधनम्** इत्यादि शब्दों से इस मार्ग के साधन बता रहे हैं। यानि श्लोक के दूसरे चरण में आपश्री ने जिस भाव की बात बतायी है, वही भाव भक्तिमार्गीयपरित्याग सिद्ध करने का साधन है, जिसे आपश्री ने **भावः** इत्यादि शब्दों से कहा है। तात्पर्य यह कि, गोपिकाओं के भाव के अनुरूप भावना करने के द्वारा हमारे भीतर जो भाव सिद्ध होता है, वही भक्तिमार्गीयपरित्यागसिद्ध करने का साधन है, इसके अतिरिक्त दान-व्रत इत्यादि साधन के तौर पर आचार्यचरणों को स्वीकार्य नहीं है-

यह अर्थ है ॥8॥

नन्वेतद्भावापत्त्यनन्तरभाव्यवस्थाया बुद्धिविपर्यासहेतुत्वेन दुःखहेतुत्वेन च प्राकृतत्वमित्याशङ्कां तद्भावस्वरूपनिरूपणेन परिहरन्ति विकलत्वमित्यादिना ।

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥९॥

विकलत्वं वैक्लव्यं तथा तद्वदेव अस्वास्थ्यं कुत्रापि स्वास्थ्याभावः प्रकृतिर्विप्रयोगभावस्य प्रकृतिः स्वाभाविको धर्मः प्राकृतं [1]लौकिकं न भवतीत्यर्थः । हि युक्तश्चायमर्थः । यत्रैकादशे श्रीमदुद्धवपृष्टेन भगवता श्रद्धानिरूपणप्रस्तावे आध्यात्मिकश्रद्धादीनां सगुणत्वं निरूप्य 'सात्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी। तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणे'ति स्वपूजाश्रद्धाया निर्गुणत्वं निरूपितं, ज्ञाननिरूपणप्रस्तावेपि कैवल्यादिज्ञानानां सगुणत्वं निरूप्य 'कैवल्यं सात्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् । प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत'मिति स्वविषयकज्ञानस्य निर्गुणत्वं निरूपितम् । यत्र मर्यादामार्गेपि स्वसम्बन्धित्वेन वस्तुनो निर्गुणत्वं, तत्र साक्षात्सर्वाधिकभक्तिमार्गीयभगवद्भावजधर्माणां निर्गुणत्वे किं वाच्यमिति हिशब्देनोक्तम् ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है, उपरोक्त भाव उत्पन्न होने के पश्चात् जीव की जिस प्रकार की अवस्था होती है, उसे देखकर तो ऐसा लगता है कि मानों उसने मानसिक संतुलन खो दिया हो एवं उस पर बड़ा दुःख आन पड़ा है, जिसे देखकर यह सभी कुछ प्राकृत-अवस्था के जैसा लगता है यानि यों लगता है मानों लौकिक में किसी रोग या अन्य किसी वस्तु के प्राप्त न होने के दुःख के कारण जिस प्रकार से विचलित अवस्था हो जाती है, वैसी अवस्था लगती है- ऐसी शंका होने पर अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण उपरोक्त विप्रयोगभाव का स्वरूप बताने के माध्यम से उक्त शंका का परिहार **विकलत्वम्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री इस विप्रयोगभाव का स्वरूप बताते हुए आज्ञा करते हैं- विकलता एवं अस्वस्थता यानि कहीं पर भी स्वस्थता(मन प्रफुल्लित होना) का अनुभव न कर पाना विप्रयोग की प्रकृति/स्वभाव ही है, उसका स्वाभाविक धर्म है, यानि ये प्राकृत/लौकिक लक्षण नहीं है। तात्पर्य यह कि, जब भगवद्विप्रयोग होता है तब मन में विकलता होनी, सर्वत्र अस्वस्थता का अनुभव करना, कहीं मन न लगना इत्यादि बातें तो स्वाभाविकरूप से अपने आप हो जातीं हैं, ऐसी अवस्था को रोग आदि के द्वारा या मानसिक संतुलन खो देने के कारण पागलपन वाली लौकिक अवस्था नहीं माननी चाहिए- यह अर्थ है। **हि** शब्द बताता है कि, यही अर्थ ठीक है। अब जहाँ एकादशस्कन्ध में श्रीमदुद्धवजी के पूछने पर भगवान ने श्रद्धा का स्वरूप बताते हुए आध्यात्मिकश्रद्धा आदि को सगुण बता कर *"सात्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा(श्री0भा-11/25/27)"* इस वाक्य द्वारा अपनी पूजा में श्रद्धा रखने को भी निर्गुण बता दिया हो; और उसी प्रकार जहाँ भगवान ने ज्ञान का स्वरूप बताने में भी कैवल्य इत्यादि ज्ञान को सगुण बताते हुए *"भगवान ने कहा- मेरे वास्तविक स्वरूप का ज्ञान निर्गुणज्ञान है(श्री0भा-11/25/24)"* इस वाक्य द्वारा मर्यादामार्ग में भी उनके विषयकज्ञान(भगवद्विषयक)को निर्गुणज्ञान बता दिया हो, वहाँ साक्षात्, सर्वाधिक, भक्तिमार्गीय भगवद्भाव से उत्पन्न हुए विप्रयोग आदि धर्मों को यदि आचार्यचरणों ने निर्गुण बताया हो, तो बताइए कि अब इसमें और क्या कहना शेष बच जाता है- इसलिये आपश्री ने इस पक्ष की दृढ़ता बताने के लिये निश्चयवाचक **हि** शब्द का प्रयोग किया है। यानि जहाँ भगवान ने भगवत्सम्बन्धी भावों को मर्यादामार्ग में भी निर्गुणभाव बताया है, वहाँ शुद्धपुष्टिमार्गीय भगवद्विग्रहसंबंधी भाव तो अप्राकृत, अलौकिक, निर्गुण होने ही हैं, उन्हें लौकिक या प्राकृत कैसे कहा जा सकता है- यह अर्थ है।

ननु भगवत्सम्बन्धित्वेनालौकिकत्वान्निर्गुणत्वमस्तु, तथापि दुःखात्मकत्वात् कथं सर्वोत्कृष्टत्वमिति चेत् , सत्यं, दुःखत्वाभावादेवोत्कृष्टत्वं वदामः । तद्यथा पुरुषोत्तमस्वरूपस्य 'रसो वै स'इति श्रुत्या रसात्मकत्वेन प्रतिपादितत्वाद्रसस्य च संयोगविप्रयोगात्मकत्वेन द्विरूपत्वाद्यथा विरोधिकृतक्षतनिष्पीडनताडनकोपादीनां दुःखात्मकत्वं, तथा क्षतत्वादिधर्मसाजात्येपि संयोगरसान्तःपातित्वेन परमानन्दरूपत्वं तथा विप्रयोगरसजनितवैक्लव्यादीनामपि विप्रयोगरसात्मकत्वेन कर्मादिजन्यवैक्लव्यवत्प्रतीयमानत्वेपि रसरूपत्वान्न तेषां दुःखत्वम् । यथा आनन्दादप्यश्रूणि, शोकादप्यश्रूणि । न हि तत्राश्रुत्वसाजात्यादुभयोरेकफलत्वं सेत्स्यति, तथात्रापि तत्तद्धर्मसाम्येपि न तत्तद्रूपत्वमिति सर्वमनवद्यम् ।

चलो, यह बात मान ली कि विकलता एवं अस्वस्थता भगवत्सम्बन्धी होने के कारण अलौकिक होते हैं एवं निर्गुण भी, परन्तु फिर भी

---

१. लौकिको भावो भवतीत्यर्थः । २. सर्वमवदातमिति पाठः ।

दुःखात्मक तो होते ही हैं, फिर इन्हें सर्वोत्कृष्ट क्यों कहा जा रहा है ? यदि कोई ऐसी शंका करता हो तो हम "वास्तव में तो इसमें दुःख है ही नहीं" यह कह कर ही इसकी सर्वोत्कृष्टता बता रहे हैं। वह इस प्रकार कि, पुरुषोत्तम का स्वरूप तो *"निश्चितरूप से ब्रह्म ही रस है(तैत्ति0उप-2/7/1)"* इस श्रुति के अनुसार रसात्मकतया प्रतिपादित किया गया है और रस तो संयोग-विप्रयोग दोनों प्रकार का होता है, इसलिये जिस प्रकार हमारे किसी विरोधी व्यक्ति द्वारा किये गए क्षत-निष्पीडन-ताडन-क्रोध आदि दुःखात्मक लगते हैं, उसी प्रकार नायक-नायिका के परस्पर संयोगरस में वही क्षत-निष्पीडन-ताडन-क्रोध इत्यादि परमानन्दरूप ही लगते हैं; ठीक उसी प्रकार विप्रयोग से उत्पन्न हुई विकलता एवं अस्वस्थता आदि अवस्थाएँ चूँकि विप्रयोगरसात्मक हैं अतः रसरूप ही होती हैं और दूसरे व्यक्ति जब भगवद्विरह में जीव को इन अवस्थाओं में देखते हैं,तो उन्हें ऐसा लगता है कि उसे बड़ा कष्ट हो रहा है। परन्तु, भले ही देखने वाले को ये अवस्थाएँ कर्मानुसार उत्पन्न होने वाली लौकिकविकलता या लौकिकदुःख जैसी प्रतीत होती हो, तथापि जो जीव इन अवस्थाओं का अनुभव कर रहा है उसे ये दुःखात्मक नहीं लगतीं। जैसे आनन्द में भी अश्रु निकलते हैं और शोक में भी, वैसे। दोनों ही परिस्थियों में अश्रु निकलने का अर्थ यह नहीं है कि, दोनों अवस्थाओं का एक ही फल है, ठीक उसी प्रकार यहाँ अलौकिक-लौकिक दोनों ही परिस्थितियों में भले ही एक जैसे लक्षण दिखाई देते हों, तथापि भगवद्विप्रयोग के कारण उत्पन्न होने वाली विकलता एवं अस्वस्थता को प्राकृत यानि लौकिकजन्य नहीं समझना चाहिए- इसलिये हमारे कहे में कुछ भी अप्रामाणिकता नहीं है।

एतादृगवस्थापत्त्यनन्तरमपि व्यावहारिकज्ञानलौकिकविवेकादिगुणसत्त्वेपि को विरोध इति चेत्तत्राहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं मर्यादामार्गीयं गुणास्तन्मार्गीया एव मनःस्वास्थ्यहेतुरूपाः । तस्य पूर्वोक्तभक्तिमार्गीयभाववतः एवं वर्तमानस्य पूर्वोक्तवैक्लव्यादिभावपूर्त्यैव स्थितस्य, बाधकाः रसानुभवे फले वा पूर्वोक्तभावनाशकत्वात्प्रतिबन्धकाः ।।९।।

किन्तु एक शंका यह होती है कि, भले ही भगवद्विप्रयोग में उपरोक्त विकलता एवं स्वस्थता अनुभूत होती रहे, तथापि व्यावहारिकज्ञान, लौकिकविवेक आदि गुणों का भी यदि अनुसंधान बना रहे तो इसमें आखिर हानि क्या है ? इससे भगवच्चिन्तन में कौन सा विरोध आ जाने वाला है ? यानि यदि देहानुसंधान बना रहे तो इसमें क्या आपत्ति है ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण **ज्ञानं** इत्यादि शब्दों से इसका निराकरण करके यह बता रहे हैं कि, ये सभी भगवद्भाव दृढ़ होने में बाधक हैं। यहाँ कहे **ज्ञानं** का अर्थ है- मर्यादामार्गीयज्ञान; **गुणाः** का अर्थ है- मर्यादामार्गीयगुण, जो उसके मन को स्वस्थ बनाने में कारणभूत होते हैं; आपश्री आज्ञा करते हैं कि, ये सभी पूर्व में कहे उस भक्तिमार्गीय को, जो कि विकलता एवं अस्वस्थता का अनुभव कर रहा है, उसको भगवद्रस का अनुभव करने रूपी फल प्राप्त करने में उसके भाव के नाशक होते हैं अतः प्रतिबन्धक होते हैं। आपश्री ने इन्हें बाधक क्यों कहा, यह आपश्री ने अग्रिमश्लोक में बताया है ॥9॥

ननु मार्गद्वयेपि त्यागस्याविशेषात्कथं ज्ञानमनःस्वास्थ्यादीनां ज्ञानमार्गे साधकत्वं भक्तिमार्गे बाधकत्वमिति शङ्कानिरासाय फलभेदेन समाधानमाहुः सत्यलोक इति ।

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ।।१०।।

सत्यलोके ब्रह्मलोके 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इति श्रुतौ ज्ञानयुक्तसंन्यासिन एव ब्रह्मलोकस्थित्यनन्तरमेव ब्रह्मणा सह मोक्षनिरूपणाद् ब्रह्मलोकगतौ ज्ञानस्यैव मुख्यत्वान्मनःस्वास्थ्यव्यतिरेकेण ज्ञानस्थैर्याभावाज्ज्ञानमनःस्वास्थ्यादीनामेव फलसाधकत्वम् । भक्तिमार्गे साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धस्यैव फलत्वात्तस्य 'रसो वै सः' इति श्रुत्या रसात्मकत्वात् रसस्य च भावात्मकत्वात्तत्सम्बन्धे पूर्वोक्तविप्रयोगरसात्मकभावस्यैव साधनत्वात् ज्ञानमनःस्वास्थ्यादीनां तद्भावरूपसाधननाशकत्वाद्बाधकत्वमित्यत आहुः भावनेति । यत्र भक्तिमार्गे ।।१०।।

एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग दोनों ही मार्गों में त्याग तो एक जैसा ही बताया गया है, फिर क्यों ज्ञानमार्ग में तो ज्ञान को और मन की स्वस्थता होनी(चित्त शांत रहना)इत्यादि को साधक बताया गया है और भक्तिमार्ग में बाधक ?? इस शंका का निराकरण करने के लिये इन दोनों मार्गों में प्राप्त होने वाले फलों का अंतर बताते हुए इस प्रश्न का समाधान आपश्री **सत्यलोके** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- **सत्यलोक** यानि ब्रह्मलोक में *"जिन संन्यासियों ने वेद का सार भलीभाँति समझ लिया है और*

---

१. लौकिकमिति पाठः ।

शुद्धसत्त्व हो गए हैं और जो सांसारिकविषयों से पूर्णरूपेण मुक्त हो गये हैं, वे अपने जीवन के अन्त में मुक्त होकर ब्रह्मलोक में प्रवेश पाते हैं(महा0नारा0उप-9/6)" इस श्रुति के अनुसार ज्ञानी संन्यासियों को ही ब्रह्मलोक में स्थान मिलने के पश्चात् ब्रह्माजी के संग मोक्ष प्राप्त होना बताया गया है, यानि ब्रह्मलोक में प्रवेश पाने में ज्ञान की ही मुख्यता सिद्ध होती है, और मन की स्वस्थता के बिना ज्ञान तो टिकेगा ही नहीं अतः ज्ञानमार्ग में तो खैर ज्ञान और मन की स्वस्थता(चित्त शांत रहना)इत्यादि ही फलसाधक होते हैं। जबकि भक्तिमार्ग में तो साक्षात् पुरुषोत्तम से सम्बन्ध होना ही फल है, और साक्षात् पुरुषोत्तम से सम्बन्ध होना *"निश्चितरूप से ब्रह्म ही रस है(तैत्ति0उप-2/7/1)"* इस श्रुति के अनुसार रसात्मक है, और रस भावात्मक होता है अतः साक्षात् पुरुषोत्तम से सम्बन्ध होने पर पूर्वोक्त विप्रयोगरसात्मकभाव ही साधन होता है और इसके विपरीत ज्ञान और मन की स्वस्थता होनी इत्यादि उस भावरूप साधन के नाशक होने के कारण बाधक होते हैं- यह बात आपश्री ने **भावना** इत्यादि शब्दों द्वारा बतायी है। **यत्र** का अर्थ है- इस भक्तिमार्ग में ॥10॥

एवं मार्गद्वयेपि प्रकारभेदेन साधनफले निरूप्य ज्ञानमार्गे फलप्राप्तौ विलम्बहेतुं भक्तिमार्गे विलम्बाभावहेतुं च ज्ञानमार्गे प्रकारकथनेन भक्तिमार्गे दृष्टान्तकथनेन चाहुः तादृशा इति ।

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ॥११॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

तादृशाः[1] संन्यासयुक्तज्ञानिनस्ते सकामनिष्कामभेदेन सत्यलोकादौ ब्रह्मलोकादौ तिष्ठन्त्येव । संन्यासाश्रमग्रहणमात्रेणैव सत्यलोकस्थितिपक्षनिराकरणार्थं न संशय इत्युक्तम् । सत्यलोकादावित्यत्र तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तेन निष्कामानामेव सत्यलोकस्थितिः, सकामानां लोकान्तरेपि स्थितिरिति ज्ञापितम् । एवकारेण सत्यलोकस्थितौ मुक्तिविलम्बे च हेतुरुक्तः । तत्रोपपत्तिः । 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्त' इति वाक्याद् ब्रह्मणः द्विपरार्धावसायित्वात्तावत्पर्यन्तं मुक्तेरसम्भवात्स्थितेरावश्यकत्वज्ञापनार्थमेवकारः ।

इस प्रकार से दोनों ही मार्गों के अलग-अलग प्रकार बता कर उनके साधन और फल का निरूपण करके अग्रिमश्लोक में "ज्ञानमार्ग में फलप्राप्ति में विलम्ब होने का कारण" एवं "भक्तिमार्ग में फलप्राप्ति होने में विलम्ब न होने का कारण" इन दोनों बातों को आपश्री क्रमशः ज्ञानमार्ग में फलसिद्ध होने का प्रकार कहते हुए एवं भक्तिमार्ग में फलप्राप्ति होने में दृष्टान्त बताते हुए **तादृशाः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

तादृशाः का अर्थ है- संन्यास ले चुके ज्ञानीजन; आपश्री आज्ञा करते हैं- ऐसे ज्ञानी संन्यासी सकामसंन्यासी एवं निष्कामसंन्यासी के भेद से सत्यलोक आदि में यानि कि ब्रह्मलोक आदि में स्थान प्राप्त करते ही हैं। कोई ये न समझ ले कि, केवल संन्यासाश्रम ग्रहण करने मात्र से ही किसी को भी सत्यलोक में स्थान मिल जायेगा- इस बात को बताने के लिए आपश्री **न संशयः** यों कह रहे हैं, अर्थात् इसमें संशय नहीं है कि केवल ज्ञानी संन्यासी ही सत्यलोक में स्थिति प्राप्त करते हैं, ज्ञानरहित संन्यासी नहीं। **सत्यलोकादौ** पद में तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमास है। इससे यह द्योतित होता है कि, निष्कामसंन्यासी को ही सत्यलोक में स्थान प्राप्त होता है और सकामसंन्यासी को अन्य किसी लोक में स्थान प्राप्त होता है। और **एव**कार के प्रयोग द्वारा आचार्यचरणों ने ऐसे ज्ञानी संन्यासियों को सत्यलोक में रहना एवं उनकी मुक्ति में विलम्ब होने का हेतु बताया है, यानि 'एव' शब्द यह बताता है कि ऐसे ज्ञानी संन्यासियों को सत्यलोक **में ही** रहना पड़ता है और उनकी मुक्ति विलम्ब से **ही** होती है। इस बात में प्रमाण यह है कि "ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते" इस वाक्यानुसार जब तक ब्रह्माजी की आयु के दो भाग पूर्ण नहीं होंगे, तब तक मुक्ति होनी असम्भव है और तब तक ज्ञानियों को सत्यलोक में ही रुके रहना पड़ता है- इस बात को बताने के लिये आपश्री ने **एव** शब्द का प्रयोग करके यह बताया है कि, जब तक स्वयं ब्रह्माजी मुक्त न हों, तब तक ज्ञानी संन्यासियों को अपनी मुक्ति की प्रतीक्षा करते हुए सत्यलोक **में ही** रुके रहना पड़ता है और उनकी मुक्ति में अतिविलंब होता ही है।

ज्ञानमार्गे विलम्बहेतुं निरूप्य भक्तिमार्गे दृष्टान्तेन विलम्बाभावहेतुं निरूपयन्ति । तत्र दृष्टान्तमेवाहुः बहिरिति । वह्निवदिति कथनाद्दारुस्थितवह्निदृष्टान्तोभिप्रेतः । तत्र प्रकारः । यथा दारुणि विद्यमानस्य वह्नेर्दारुसंयोगे सत्यपि न दारुदहनयोग्यत्वं, यदा मथनेन तत एव बहिः प्रकटीभूय पुनस्तेन सह सम्बध्यते, तदा सम्बन्धमात्रेणैव दारुत्वनिवृत्त्या दारुणोग्नित्वसिद्धिस्तथा भक्तहृदये विद्यमानत्वेपि मथनेनाग्निप्राकट्यवद्विगाढभावेन भावात्मकतया बहिःप्राकट्ये सति पुनरन्तःसम्बन्धः, तदा सम्बन्ध एव

---

१. सत्यज्ञानयुक्ता इति पाठः ।

फलसम्बन्धहेतुः प्रतिबन्धं दूरीकरोतीति फलस्य रसात्मकत्वेन तदनुभवहेतुरसात्मकतां सम्पादयतीति एतत्प्रकारातिरिक्तस्यैतत्फलसाधकत्वाभावार्थमुक्तं न चान्यथेति । एवमस्मिन्मार्गे विलम्बाभावोपि सिद्धः ॥११$^{१}/_{२}$॥

ज्ञानमार्ग में मुक्ति में होने वाले विलम्ब का निरूपण करके अब आचार्यचरण भक्तिमार्ग में विलम्ब न होने की बात एक दृष्टान्त द्वारा बता रहे हैं। इसमें आपश्री ने **बहिः** इत्यादि शब्दों से दृष्टान्त दिया है। आपश्री ने **वह्निवत्** कहा है, जिसके द्वारा आपश्री काष्ठ के भीतर रहने वाली अग्नि का उदाहरण देना चाह रहे हैं। उसका प्रकार यह है कि, जैसे काष्ठ के भीतर रहने वाली अग्नि का काष्ठ से संयोग हुआ होने पर भी वह उसे जला नहीं सकती, अपितु जब उसमें घर्षण किया जाता है(यज्ञ की प्रक्रिया में अरणिमंथन किया जाता है। साधारण शब्दों में दो लकड़ियों को आपस में घर्षण करके अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है एवं यज्ञ के नियमानुसार इसी प्रकार से अग्नि प्रज्ज्वलित की जानी चाहिए)तब अग्नि बाहर प्रज्ज्वलित होकर जब पुनः उसका काष्ठ से सम्बन्ध होता है, तब सम्बन्ध होने मात्र से काष्ठत्व निवृत्त हो जाता है और काष्ठ अग्नि के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उसी प्रकार यद्यपि भगवान भक्त के हृदय में विद्यमान तो रहते ही हैं तथापि घर्षण द्वारा काष्ठ में प्रकट हुई अग्नि की भाँति भगवान के प्रति विगाढभाव(भगवान के प्रति अत्यधिक प्रेम, आसक्ति)के द्वारा जब भगवान भावात्मकरूप से उसके हृदय के बाहर प्रकट होते हैं और जब पुनः उनका भक्त के अन्तःकरण से सम्बन्ध होता है, तब वह सम्बन्ध ही भगवत्प्राप्तिरूपफल सिद्ध कराने में कारण बनता है और समस्त प्रतिबन्धक दूर करता है; इसका तात्पर्य यह है कि, चूँकि फलरूपभगवान रसात्मक हैं अतः उक्त प्रकार से हुआ सम्बन्ध तो ऐसे रसात्मक भगवान का अनुभव करने में जो मूलकारण रसात्मकता है, उस रसात्मकता को भक्त में सम्पादित करता है, यानि भक्त को रसात्मक बना देता है, इसलिए इस प्रक्रिया से अतिरिक्त अन्य कोई प्रकार उक्त फल को सिद्ध नहीं कर सकता अतः आपश्री ने **न चान्यथा** कहा है। इस प्रकार से इस मार्ग में फलप्राप्त होने में विलम्ब भी नहीं होता, यह सिद्ध हुआ ॥11$^{1}/_{2}$॥

ननु पूर्वोक्तविगाढभावस्य साक्षात्सङ्गाभावहेतुत्वेन सङ्गार्थं स्वरूपानुसन्धानस्यावश्यकत्ववद्गुणानुसन्धानस्याप्यावश्यकत्वेन साक्षात्स्वरूपेण स्वास्थ्यहेतोरसम्भावितत्वाद्गुणैरेव कथं स्वास्थ्यमिति चेत्तत्राहुः गुणास्त्विति ।

गुणास्तु सङ्गरहित्याजीवनार्थं भवन्ति हि ॥१२॥

गुणानां धर्मरूपत्वाद्विप्रयोगस्य संयोगाभावहेतुत्वेन तदतिरिक्तस्य स्वास्थ्यहेतोरभावात्कदाचिदतितापेनाश्रयाभावाज्जीवनानुपपत्त्या गुणैरेव जीवनसम्पत्तिरित्यत उक्तं जीवनार्थं भवन्तीति । यथा 'तव कथामृत'मित्यत्र । हि युक्तश्चायमर्थः । परमानन्दविरहे जीवनानुपपत्तौ परमानन्दगुणानामेव जीवनसम्पादकत्वमुचितमित्यर्थो हिशब्देन द्योत्यते । तेन गुणानां यथाकथञ्चिज्जीवनमात्रसम्पादकत्वं, न तु स्वास्थ्यहेतुत्वमपि । तुशब्देन सङ्गातिरिक्तधर्मैः स्वास्थ्यपक्षो व्यावर्तितः ।

अब एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, पूर्व में बताया गया विगाढभाव(भगवान के प्रति अत्यधिक प्रेम, आसक्ति) साक्षात् भगवत्संग प्राप्त न होने का मूलहेतु होता है, यानि भगवत्संग प्राप्त न हुआ होने के कारण ही विगाढभाव उत्पन्न हुआ होता है इसलिए भगवत्संग प्राप्त करने के लिये निरन्तर भगवत्स्वरूप का अनुसंधान करते रहने की ही भाँति भगवद्गुणों का अनुसंधान रखना भी आवश्यक होता है ; अब इस परिस्थिति में साक्षात् स्वरूप द्वारा स्वस्थता मिलनी तो असम्भव है, तो फिर केवल भगवद्गुणगान से ही क्यों और कैसे स्वस्थता का अनुभव हो सकता है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यचरण इसका समाधान **गुणास्तु** इत्यादि शब्दों द्वारा अग्रिमश्लोक में कर रहे हैं।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि, भगवद्गुण भगवद्धर्मरूप होते हैं और चूँकि विप्रयोग इसीलिये उत्पन्न हुआ होता है क्योंकि भगवत्संयोग प्राप्त नहीं हुआ होता है अतः संयोग के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु ऐसी परिस्थिति में जीव को स्वस्थता(प्रफुल्लता)नहीं दे सकती, इसलिये कदाचित् उसे अत्यधिक ताप हो जाय और यदि उसे कहीं कोई आश्रय/सहारा ही न मिले, तो **उसका** जीवन ही नहीं टिक सकेगा अतः ऐसी परिस्थिति में भगवद्गुणगान से ही उसका जीवन टिका रहना संभव बनता है, **इसलिये** आपश्री आज्ञा कर रहे हैं- *"गुणगान जीवन टिके रहने में उपयोगी बनता है"*। जैसा कि गोपिकाओं की विरहदशा में भगवद्गुणगान के विषय में *"हे प्रभु! आपकी लीलाकथा भी अमृतस्वरूपा है। विरह से सताए हुए लोगों के लिए तो वह जीवनसर्वस्व (श्रीमद्भा-10/31/9)"* इस श्लोक में बताया गया है। परमानन्दस्वरूप भगवान का विरह होने पर तो परमानन्दरूप भगवान के गुणों का **ही** जीवन/प्राण टिकाए रखें, तो यह उचित ही है- इस बात को आपश्री ने **हि** शब्द द्वारा कहा है। आपश्री के इस कथन से यह **होता है** कि, विप्रयोग होने पर भगवद्गुणगान तो येनकेन प्रकारेण केवल जीवन/प्राण टिकाए रखने में ही सहायक होते हैं,

---

[illegible] पाठः ।

परन्तु जीव को स्वस्थता(प्रफुल्लता)नहीं दे सकते। **तु** शब्द बताता है कि, ऐसे विप्रयोग की परिस्थिति में भगवत्संयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी साधन के द्वारा जीव को स्वस्थता नहीं मिलती।

अथवा, ननु भगवद्विप्रयोगस्यातिप्रचुरतापात्मकत्वेनासह्यत्वात्क्षणमात्रमपि प्राणस्थित्यसम्भवस्वभाववत्त्वात् कुत्रचित्तत्कालमेव प्राणस्थित्यदर्शनम् यथा द्विजपत्न्याम् । क्वचित्तथात्वेपि प्राणस्थितिदर्शनमिति कथमेकस्यैव स्वभावविपर्यासेन कार्यद्वयकर्तृत्वमिति चेत्, सत्यम्, तस्य स्वभावविपर्यासाभाववत्त्वेपि यत्र शीघ्रं मनसो भगवद्गुणग्रहणेन व्यासङ्गाभावस्तत्र शीघ्रं पूर्वोक्तस्वकार्यकर्तृत्वम् । यत्र भगवदिच्छया शीघ्रं तद्गुणव्यासङ्गस्तत्र गुणानां तादृग्भावेपि जीवनैकस्वभावत्वेन तत्स्वभावत्वादेव प्राणस्थितिरित्यभिप्रेत्योक्तं गुणास्त्विति ।

अथवा, विप्रयोग के संदर्भ में किसी को एक शंका यह होती है कि, चूँकि भगवद्विप्रयोग अतिप्रचुर तापात्मक होता है एवं असहनीय होता है और जिसके कारण क्षणमात्र के लिये भी प्राण टिके रहना असम्भव होता है, इसलिये कहीं तो ऐसा देखने में आता है कि, विप्रयोग होने पर तत्काल ही प्राण छूट गये जैसा कि द्विजपत्नी के उसी समय प्राण छूट गए थे(देखें श्री0भा-10/23/34); और कहीं तो ऐसा देखने में आता है कि, इतना उत्कट विप्रयोग होने पर भी प्राण टिके रहे !!! तो उलझन यह होती है कि, एक ही विप्रयोग अपना स्वभाव बदल कर दो अलग-अलग कार्य कैसे कर सकता है ??..... यदि कोई ऐसी शंका करता हो, तो कहीं तक बात ठीक है, परन्तु, इस संदर्भ में यह समझना चाहिए कि, वैसे तो विप्रयोग का दो अलग-अलग विपरीत स्वभाव होने जैसी कोई बात नहीं है, तथापि, जिस जीव को शीघ्र ही मन से भगवद्गुणगान को ग्रहण करके भगवान से अलग नहीं रहा जाता, उस जीव में तो विप्रयोग शीघ्र ही अपना कार्य कर देगा। परन्तु, जहाँ भगवान की ही ऐसी इच्छा है कि जीव का चित्त शीघ्र ही उनके गुणगान में लग जाय, वहाँ भले ही जीव में उत्कट विप्रयोग उत्पन्न हो चुका हो तथापि भगवद्गुण का तो स्वभाव ही जीवन टिका कर रखने का होता है अतः भगवद्गुणों के ऐसे स्वभाव के कारण ही उसके प्राण टिके रहते हैं और उसे भगवत्प्राप्ति में अभी और समय लगना शेष होता है- इस अभिप्राय को बताने के लिये आचार्यचरणों ने **गुणास्तु** यह पंक्ति कही है।

ननु लोके गुण्यपेक्षया गुणानामल्पसामर्थ्यवत्त्वदर्शनात् कथं पूर्णानन्दरसात्मकपुरुषोत्तमविरहस्य क्षणमात्रमपि प्राणस्थितिविलम्बासहिष्णोस्तस्मिन्समये तद्गुणानां कथं प्राणस्थितिहेतुत्वमिति चेत्, सत्यम् । यद्यप्यन्यत्र गुण्यपेक्षया गुणानामल्पसामर्थ्यमस्त्वेव, तथाप्यत्र साक्षात्पुरुषोत्तमस्याचिन्त्यानन्दपूर्णस्य षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नस्य गुणा अपि तादृशा एवेति मन्तव्यम्, गुणगुणिनोरेकरूपत्वात्, अन्यथा तद्विप्रयोगदशायां गुणानां जीवनसम्पादकत्वं न भवेत् । अत एव व्रजसीमन्तिनीभि'स्तव कथामृत'मित्यस्मिन् श्लोके षड्भिर्विशेषणैः कथायाः भगवत्तुल्यत्वं निरूप्यैव स्वप्राणस्थितिहेतुत्वं निरूपितम् । यदि स्वरूपतुल्यत्वं गुणानां न भवेत्तर्हि स्वसमाजस्य जीवनमेव न भवेत् । तस्मात्पुरुषोत्तमगुणानां गुणितुल्यत्वमेव, न तु न्यूनत्वमपि। तथापि गुणगुणिनोरेतावान् विशेषः । यथा गुणिसम्बन्धेन विप्रयोगजतापनिवृत्तिपूर्वकं सर्वेन्द्रियाप्यायनपूर्वकं च परमानन्दानुभवेन स्वास्थ्यं, तथा गुणैर्न सम्पद्यत इति तेषु गुणत्वकथनम् । एतदेव मनसि कृत्वा श्रीमदाचार्यैरुक्तं गुणास्तु सङ्गराहित्यादिति । सङ्गराहित्यं वियोगस्फूर्तिः ।

अब यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, लोक में देखा जाता है कि, गुणवान की तुलना में उसके गुणों की सामर्थ्य तो अल्प होती है, अतः पूर्णानन्दरसात्मक पुरुषोत्तम के विरह में तो क्षणमात्र के लिये भी प्राणों को टिकाए रखना असहनीय होता है, फिर ऐसे समय में पूर्णानन्दरसात्मक पुरुषोत्तम के गुण(भगवद्गुणगान)कैसे प्राणों को टिकाए रखने में सहायक हो पाते हैं ?..... यदि ऐसी शंका होती हो, तो कहीं तक बात ठीक है। यद्यपि अन्यत्र सभी जगह गुणी की तुलना में उसके गुणों की सामर्थ्य तो अल्प होती ही है, तथापि, इस पुष्टिभक्तिमार्ग में साक्षात् पुरुषोत्तम के, अचिन्त्य आनन्दपूर्ण षड्गुणैश्वर्यसंपन्न प्रभु के गुण भी उनके समकक्ष ही माने गए हैं, क्योंकि गुणी और गुण एकरूप ही होते हैं। अन्यथा.....यदि ऐसा न होता तो..... प्रभु से विप्रयोग की दशा में भगवद्गुणगान गोपिकाओं के जीवन को टिकाए रखने में सक्षम न रहे होते। अतएव व्रजगोपिकाओं ने भी *"हे प्रभु ! आपकी लीलाकथा भी अमृतस्वरूपा है। विरह से सताए हुए लोगों के लिए तो वह जीवनसर्वस्व है(श्री0भा-10/31/9)"* इस श्लोक में छह विशेषणों द्वारा भगवत्कथा को भगवान के समान बता कर अपने प्राणों के टिके रहने का कारण न बताया होता। यदि भगवान के गुण भगवत्स्वरूप के तुल्य न होते, तो भगवान के विप्रयोग में भगवान के परिकर का जीवन ही टिका न रह पाए। इसलिये पुरुषोत्तम-भगवान के गुण भी गुणी-भगवान के तुल्य ही हैं,

---

१. श्रवणेति पाठः ।

उनसे कम नहीं। फिर भी गुणी और गुणों में इतना अंतर तो अवश्य है कि, जिस प्रकार से गुणी-भगवान से सम्बन्ध होने के पश्चात् भगवत्स्वरूप विप्रयोगजनित समस्त तापों की निवृत्ति करके समस्त इन्द्रियों को पोषित करते हुए परमानन्दानुभव द्वारा स्वस्थता/प्रफुल्लता/परमानन्द प्राप्त कराता है, वैसा भगवद्गुण नहीं कर सकते, वे तो विप्रयोगावस्था में येनकेन प्रकारेण केवल प्राणों को टिकाए रखने में ही उपयोगी होते हैं, इसलिए उन्हें 'गुण(न्यून)' कहा गया है। यही सब मन में विचार करके आचार्यचरणों ने **गुणास्तु संगराहित्यात्** इत्यादि वाक्य कहे हैं। संगरहित होने का अर्थ है- भगवत्संग न मिलने के कारण वियोग की स्फूर्ति होनी।

ननु कथं कुत्रचिच्छीघ्रं मनसो जीवनहेतुगुणग्रहणव्यासङ्गे भगवदिच्छा कुत्रचिन्नेति को हेतुरिति चेत्, सत्यम्, यत्र पूर्णविप्रयोगानुभवहेतुः पुनः पुनर्मूर्च्छाजागरणतादात्म्यादिसर्वभावानुभावनेच्छा तत्र गुणेषु शीघ्रं चित्तव्यासङ्गं कारयित्वा पश्चादविलम्बेन स्वप्राप्तिसिद्ध्यर्थं तद्भावस्वभावकार्यकरणम् । ये पूर्वमेवानुभूतसर्वविप्रयोगभावास्तेषां स्थितौ प्रयोजनाभावात्तत्कालमेव स्थित्यभाव इति नानुपपत्तिः काचित् ।।१२।।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, इसका हेतु क्या है कि, कहीं-कहीं शीघ्र ही जीव के मन को जीवन टिकाए रखने वाले भगवद्गुणों में आसक्त कराने वाली भगवदिच्छा देखी जाती है और कहीं-कहीं पर नहीं ?..... तो कहीं तक आपकी शंका ठीक है... परन्तु..... यह समझिए कि, जिस जीव में भगवान को पूर्णरूप से विप्रयोग का अनुभव कराना होता है, अर्थात् जीव को पूर्णविप्रयोग उत्पन्न होने की कारणभूत अवस्थाएँ यानि पुनः पुनः मूर्च्छा-जागरण-तादात्म्य इत्यादि समस्त भावों का अनुभव कराने की भगवान की इच्छा होती है, ऐसे जीव के चित्त को भगवान अपने गुणों की ओर आसक्त करवा कर शीघ्र अपनी प्राप्ति कराने के उद्देश्य से वे विप्रयोग के स्वभावान्तर्गत होने वाले भगवद्गुणगान में उसका चित्त लगवा कर, उसका जीवन टिका कर, उसे पूर्णविप्रयोग का अनुभव होने देते हैं। किन्तु जिन्होंने विप्रयोग में होने वाले समस्त भावों का अनुभव पहले ही कर लिया है और परिपक्व हो गए हैं, उनको अब और अधिक विप्रयोगावस्था में रखने का कोई प्रयोजन नहीं होता अतः वे तत्काल ही उसकी भौतिकदेह छुड़वा कर अपनी प्राप्ति करवा देते हैं, इसलिये हमारे कहे में कुछ भी अप्रामाणिकता नहीं है ॥12॥

ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य भगवदिच्छामात्रेणापि स्वास्थ्यसम्पादकत्वात्कथं न सम्पादयतीति चेत् तत्राहुः भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ।।१३।।

भगवत्पदेन षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः पुरुषोत्तम उक्तः । अस्मिन्मार्गे स्वस्यैव फलत्वात्स्वप्राप्तावेतद्भावस्यैव फलसाधकत्वाद्भावस्य च तापैकस्वभावत्वात्तदभावे फलप्राप्त्यभावाच्च स्वस्यैव तदभावसम्पादकत्वकथनेन स्वस्यैव फलप्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वेन च स्वस्य फलत्वमेव न सिध्येदित्यत उक्तं फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यत इति । ननु स्वस्य फलात्मकत्वात्फलदित्सायाश्च सिद्धत्वात्स्वरूपेण तापापगमं मा करोतु, तथापि यत्किञ्चिदस्वास्थ्यं स्वप्ने वचनेन कथं न निवारयतीति चेत् तत्राहुः स्वास्थ्यवाक्यमिति । भगवता तादृशं प्रति यत्किञ्चित् स्वास्थ्यहेतुकमपि वाक्यं वचनं न कर्तव्यं न वक्तव्यमित्यर्थः । तत्र हेतुः । वचनेन यावांस्तापो निवर्तिष्यते तावानेव फलप्राप्तौ विलम्बो भविष्यतीति ज्ञात्वा वचनेनापि स्वास्थ्यं न करोति, यदि कुर्यात्तर्हि फलविलम्बे स्वयमेव हेतुः स्यादिति स्वस्यैव विरोधित्वं स्यादिति यत्किञ्चित्स्वास्थ्यहेतुभूतस्यापि वाक्यस्याकरणम् ।

किन्तु भगवान तो कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् समर्थ हैं, यदि वे चाहें तो मात्र अपनी इच्छा से ही उसे स्वस्थता दे सकते हैं, फिर वे उसे स्वस्थता क्यों नहीं देते ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में **भगवान्** इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कह रहे हैं।

भगवत् पद के द्वारा आचार्यचरणों ने षड्गुणैश्वर्यशाली पुरुषोत्तम का निर्देश किया है। इस मार्ग में स्वयं भगवान ही फल हैं और अपनी प्राप्ति होने में यही विप्रयोग का भाव ही फलसाधक बनता है और विप्रयोग का स्वभाव केवल ताप कराने वाला ही होता है अतः जब तक ताप नहीं होगा, तब तक फलप्राप्ति भी नहीं होगी इसलिये यदि स्वयं भगवान ही उस ताप को दूर कर दें, तो वे स्वयं ही जीव को होने वाली फलप्राप्ति में प्रतिबन्धक कहे जायेंगे, जिससे वे फलरूप भी सिद्ध नहीं होंगे, इस कारण से आचार्यचरणों ने **फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते** यों कहा। चलो मान लिया कि, भगवान फलात्मक हैं और यह भी सिद्ध हो गया कि उन्हें जीव को फल देने की इच्छा भी है इसलिये वे अपने स्वरूप को प्रकट करके जीव का ताप दूर नहीं करते, तथापि, स्वप्न

द्वारा अपने वचन से भी वे जीव की थोड़ी-बहुत अस्वस्थता भी दूर क्यों नहीं करते ? तो आचार्यचरण इस शंका का **स्वास्थ्यवाक्यं** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। इससे आपश्री आज्ञा करते हैं- भगवान ऐसे जीव के प्रति यत्किञ्चित् स्वस्थता देने वाले वाक्य भी नहीं कहते; और इसका हेतु यह है कि, भगवान अपने वचन द्वारा उसका जितने अंश में ताप दूर करेंगे, उतने ही अंश में उसे फलप्राप्त होने में भी विलम्ब होता चला जायेगा- यह जानकर भगवान अपने वचन द्वारा भी उसे स्वस्थता नहीं देते, यदि वे दें तो उसके फल में विलम्ब होने का कारण वे स्वयं ही बनेंगे और बात स्वयं उनकी फलरूपता से विरुद्ध चली जायेगी अतः वे जीव को स्वस्थता देने वाले थोड़े-बहुत वचन भी नहीं कहते।

ननु यत्किञ्चिद्विलम्बहेतुत्वे को दोष इति चेत्तत्राहुः दयालुरिति । दयालुरत्यसाधारणदयासमुद्रः। यदि यत्किञ्चिद्विलम्बसहिष्णुत्वमपि चेद्ब्रवेत्, तदा तावद्दयांशस्य न्यूनत्वात्परमदयालुत्वं नोपपद्येतेति न तादृग्वाक्यकरणम् ॥१३॥

किसी के मन में ऐसा आता है कि, चलो... यदि फलप्राप्ति में यत्किञ्चित् विलम्ब हो भी गया तो इसमें क्या दोष है, कम से कम जीव को थोड़ी-बहुत राहत तो मिले !! तो आचार्यचरण **दयालुः** इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कर रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- प्रभु दयालु हैं अर्थात् असाधारण दया के सागर हैं, यदि वे जीव को होने वाली फलप्राप्ति में थोड़े से भी विलम्ब को सहन कर लेते हैं, तो उतने अंश में उनका दयालु होना कम आँका जायेगा, अतः उन्हें फिर परमदयालु नहीं कहा जा सकेगा इसलिये वे स्वास्थ्य प्रदान करने वाले वाक्य नहीं कहते ॥13॥

एवं भक्तिमार्गीयसंन्यासस्वरूपं साधनफलप्रकारविचारेणोपपाद्योपसंहरन्ति दुर्लभोयमिति ।

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।

अयमुक्तप्रकारकः परित्यागः दुर्लभः, तपोदानव्रतादिसाधनैरप्यसाध्यः । ननु वस्तुमात्रस्य दानादिसाधनसाध्यत्वात्कथमस्य दानादिसाधनासाध्यत्वमिति चेत् , सत्यम् । यथा तत्तच्छास्त्रे तत्तत्फलसाधकत्वेन तानि तानि साधनानि गणितानि, स्वर्गकामस्य ज्योतिष्टोमवत् । नहि तथा भक्तिमार्गीयपरित्यागसिद्धौ साधनशास्त्रोक्तं किञ्चित्साधनमस्तीत्यस्य दुर्लभत्वम् ।

इस प्रकार से साधन और फल के प्रकार का विचार करने के द्वारा आचार्यचरणों ने भक्तिमार्गीयसंन्यास के स्वरूप का निरूपण किया और अब आपश्री अग्रिमश्लोक में उसका उपसंहार **दुर्लभोयं** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- इस ग्रन्थ में बताया गया परित्याग कर पाना बड़ा दुर्लभ है, यानि तप-दान-व्रत इत्यादि साधनों द्वारा भी वैसा परित्याग सिद्ध नहीं हो सकता, जैसा परित्याग इस ग्रन्थ में बताया गया है। किन्तु किसी को प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो तप-दान-व्रत इत्यादि साधनों से प्राप्त न हो सकती हो, फिर इस ग्रन्थ में बताए परित्याग के विषय में यह क्यों कहा जा रहा है कि, यह उन साधनों के द्वारा भी सिद्ध नहीं हो सकता !!!..... यदि ऐसा प्रश्न होता हो, तो कहीं तक बात ठीक है, परन्तु, यह समझिए कि जिस प्रकार उन-उन शास्त्रों में बताए गए फलों को सिद्ध करने के लिये उन-उन साधनों को करना बताया गया है, यथा स्वर्ग की कामना हो तो ज्योतिष्टोम करें इत्यादि इत्यादि; किन्तु उस प्रकार से भक्तिमार्गीयपरित्याग को सिद्ध करने के लिये ऐसा कोई भी साधन शास्त्रों में वर्णित नहीं है, जो इस फल को सिद्ध कर सकता हो, अतः आचार्यचरण इस परित्याग को करना दुर्लभ बता रहे हैं।

ननु वस्तुमात्रस्य साधनसाध्यत्वाद्भक्तिमार्गीयपरित्यागस्यापि वस्तुत्वेन निरूपणात्तस्य च शास्त्रोक्तदानादिसाधनासाध्यत्वकथनात् केन साधनेनास्य सिद्धिरिति चेत्, तत्र साधनमाहुः प्रेम्णेति । प्रेम्णा भगवत्परमासक्त्या सिध्यति । अथवा, प्रेम्णा भगवत्प्रेम्णा ।

फिर प्रश्न यह उठता है कि, प्रत्येक वस्तु किसी न किसी साधन से ही तो प्राप्त होती है और भक्तिमार्गीयपरित्याग भी तो एक वस्तु ही है, तो इसको भी प्राप्त करने का कोई न कोई साधन तो होना ही चाहिए ! और जब ये कह दिया गया कि, शास्त्रों में बताए गए दान-व्रत इत्यादि किसी भी साधनों से यह साध्य ही नहीं है, तो प्रश्न होता है कि आखिर किस साधन से यह सिद्ध होगा ?..... यदि ये जिज्ञासा होती हो तो आचार्यचरण भक्तिमार्गीयपरित्याग को सिद्ध करने का साधन **प्रेम्णा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **प्रेम्णा** कहने का अर्थ यह है कि, भगवान में परम आसक्ति रखने के द्वारा यह परित्याग सिद्ध होगा। अथवा, यों भी अर्थ किया जा सकता है कि, जब स्वयं भगवान को जीव से प्रेम हो जाय, तब इस परित्याग का भाव जीव के मन में दृढ होता है।

ननु कथं जीवे भगवत्प्रेमेति चेत्, सत्यम् । एतन्मार्गप्रवर्तकाचार्यैस्तन्निष्कपटप्रपत्तिसन्तुष्टैः कृपया अस्यैतन्मार्गीयफलसिद्धिरस्त्वितीच्छया भगवन्निवेदनानन्तरं तस्मिन्नाचार्यकृपास्नेहं ज्ञात्वा स्वयमपि सन्तुष्टस्तस्मिंस्तत्फलदित्सया प्रेमयुक्तो भवतीति तेन प्रेम्णास्यापि तादृशत्वं सिध्यतीत्यत उक्तं प्रेम्णा सिध्यतीति । नान्यथा, अन्यथा एतदतिरिक्तसाधनैर्न

सिध्यतीति सुष्ठूक्तं दुर्लभोयमित्यादि ।।१३$^{1}/_{2}$।।

किन्तु, जीव को भगवान से प्रेम हो जाय वो तो ठीक है, परन्तु ये कैसे सम्भव है कि, भगवान को ही जीव के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाय !! बात ठीक है, परन्तु, यहाँ समझना यह है कि, जीव की निष्कपट शरणागति से प्रसन्न हुए इस मार्ग के प्रवर्तक आचार्यचरण जिन्होंने कृपा करके "इस जीव को इस मार्ग की फलसिद्धि प्राप्त हो" ऐसी इच्छा रखते हुए जीव को भगवन्निवेदन करवाया है, ऐसे आचार्यचरणों के माध्यम से जीव का निवेदन होने के पश्चात् "इस जीव पर आचार्यचरणों की कृपा और स्नेह है" यह जानकर स्वयं भगवान भी उस पर प्रसन्न होकर उसे फलदान करने की इच्छा से उससे प्रेम करने लग जाते हैं अतः उस प्रेम के द्वारा उस जीव को भी उक्त परित्याग सिद्ध होता है- इसलिये आचार्यचरणों ने कहा कि, यह परित्याग प्रेम द्वारा सिद्ध होता है। **नान्यथा** का अर्थ है- ऊपर कहे साधनों के अतिरिक्त अन्य किसी साधनों से यह परित्याग सिद्ध नहीं हो सकता अतः आचार्यचरणों ने ठीक ही कहा है कि, यह परित्याग सिद्ध हो पाना बड़ा दुर्लभ है ॥13$^{1}/_{2}$॥

एवं भक्तिमार्गीयत्यागविचारं उपसंहृत्य ज्ञानमार्गीयपरित्यागोपसंहारमारभन्ते ज्ञानमार्गे त्विति ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ।।१४।।
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ।।१५।।
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ।।१६।।
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ।

त्विति पूर्वसमुच्चयः । संन्यासः ज्ञानमार्गीयः द्विविधोपि, विविदिषाविद्वद्भेदयुक्तः । सोपि साधनफलभेदेन विचारितः । द्वैविध्यमेव प्रकटयन्ति ज्ञानार्थमिति । ज्ञानार्थं ज्ञानरूपफलसिद्ध्यर्थमेकः । चकाराससमुच्चितं द्वितीयमाहुः उत्तराङ्गं चेति । 'ज्ञानादेव हि कैवल्य'मिति वाक्यान्मुक्तेर्ज्ञानसिद्ध्युत्तरफलत्वाद्विद्वत्संन्यासस्योत्तराङ्गत्वं मुक्त्यङ्गत्वमित्यर्थः । यद्यपि ज्ञानमार्गीयद्वितीयसन्यासस्य मुक्त्यङ्गत्वं तथापि 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ' इति भगवद्वाक्यात् प्रपत्तेश्च भक्तित्वाद्भक्तिव्यतिरेकेण केवलज्ञानस्य मुक्त्यसाधकत्वात् । 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत' इति वाक्याच्च ज्ञानस्य भक्तिप्रतिबन्धनिवर्तकत्वोक्त्या 'विना महत्पादरजोभिषेक'मिति वचनेन भक्तेश्च महदनुग्रहकैलभ्यत्वोक्त्या च यावत्पर्यन्तं न भक्तिसिद्धिस्तावत्पर्यन्तं पूर्णज्ञानस्यापि न मुक्तिरिति ज्ञापनायोक्तं सिद्धिर्जन्मशतैः परमिति । यथा बहुशब्दस्य संख्याऽनियमवाचित्वं तथा शतशब्दस्यापीति ज्ञापनाय जन्मशतैरित्युक्तं । परं निर्धारितमित्यर्थः ।

इस प्रकार से भक्तिमार्गीयपरित्याग के विचार का उपसंहार करके अब अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण **ज्ञानमार्गे तु** इत्यादि शब्दों द्वारा ज्ञानमार्गीयपरित्याग के विचार का उपसंहार कर रहे हैं।

तु शब्द पिछले श्लोकों में आयी सभी ज्ञानमार्गीय चर्चाओं का समुच्चयरूप से परिचायक है, यानि श्रीगोकुलनाथचरणों को यह कहना है कि, आरम्भ में ज्ञानमार्गीयसंन्यास की चर्चा चली तो अवश्य थी, परन्तु प्रसंगोपात्त बीच में भक्तिमार्गीयपरित्याग की चर्चा आ गयी थी, किन्तु अब आचार्यचरण पुनः इस श्लोक से ज्ञानमार्गीयचर्चा आरम्भ कर रहे हैं, जिसको बताने वाला 'तु' शब्द है। तात्पर्य यह कि, पूर्व में आयी समस्त ज्ञानमार्गीय चर्चाओं का अनुसन्धान रखते हुए आगे पढ़ना चाहिए। आपश्री आज्ञा करते हैं- ज्ञानमार्गीयसंन्यास दो प्रकार का होता है- एक, ज्ञान प्राप्त करने के लिए लिया गया संन्यास और दूसरा, ज्ञान प्राप्त हो गया है, इसलिये संन्यास। इन दोनों ही प्रकार के संन्यासों के साधन और फल के दृष्टिकोण से आपश्री इनका विचार कर रहे हैं। उसी द्विविधता को आपश्री ने **ज्ञानार्थम्** इत्यादि शब्दों से कहा है। **ज्ञानार्थम्** का अर्थ है- ज्ञानरूप फलसिद्धि प्राप्त करने के हेतु से किया जाने वाला एक प्रकार का परित्याग। दूसरे प्रकार के परित्याग को आपश्री **उत्तरांगं च** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। चूँकि "ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है" इस वाक्यानुसार मुक्ति को ज्ञानप्राप्त हो जाने के पश्चात् सिद्ध होने वाला फल कहा गया है अतः विद्वद् संन्यास को आपश्री **उत्तरांगं** कह रहे हैं यानि मुक्ति का अंगरूप संन्यास कह रहे हैं। यद्यपि ज्ञानमार्गीय द्वितीयसंन्यास(विद्वत् संन्यास)को मुक्ति का अंग बताया गया है, तथापि *"बहुत जन्मों के पश्चात् अन्त में ज्ञानीपुरुष मेरी शरण आता है। ऐसा महात्मा मिलना तो बड़ा दुर्लभ है(भ0गी-7/19)"* इस भगवद्वाक्यानुसार भगवान की शरणागति लेनी भक्ति है और भक्ति करे बिना केवल

ज्ञान मुक्ति नहीं दे सकता। और *"जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः (विष्णुधर्मोत्तरपुराण)* " इस वाक्यानुसार भी ज्ञान को भक्ति में आने वाले प्रतिबन्धकों का केवल निवारक ही बता कर *"महापुरुषों के चरणों की धूलि से अपने को नहलाए बिना केवल तप, यज्ञापि वैदिककर्म, अन्नादि के दान, अतिथिसेवा, दीनसेवा, जल या अग्नि की उपासना इत्यादि किसी भी साधनों से भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती(श्री0भा-5/12/12)"* इस वचनानुसार भक्ति को केवल महदनुग्रह से प्राप्त होने वाली बताया गया है, अतः इसका फलितार्थ यह है कि, जब तक भक्ति सिद्ध नहीं होती, तब तक पूर्णज्ञान भी मुक्ति नहीं दिला सकता- यह बताने के लिये आचार्यचरणों ने ज्ञानमार्गीयसंन्यास के लिये **सिद्धिर्जन्मशतैः परम्** कहा, यानि ज्ञानमार्ग में सैंकड़ों जन्मों के पश्चात् फलसिद्ध होता है, यों कहा है। जिस प्रकार से 'बहु' शब्द असीमित संख्या का द्योतक है, उसी प्रकार यहाँ प्रयुक्त 'शत' शब्द भी असीमित संख्या का द्योतक है, अतः आपश्री ने फलसिद्धि में लगने वाले अनगिनत जन्मों का सूचन करने के लिए **जन्मशतैः** यों कहा। **परं** शब्द से ज्ञात होता है कि, सैंकड़ों जन्म लगने की बात निर्धारित है यानि निश्चित है।

एवं ज्ञानिनां मुक्तिप्रकारमुक्त्वा ज्ञानस्य साधनसाध्यत्वज्ञापनाय साधनानि निरूपयन्ति ज्ञानमिति । यज्ञ आदिर्यस्य श्रवणस्य, ज्ञानस्य चित्तशुद्धिहेतुकत्वाद्यज्ञस्य च चित्तशोधकत्वोक्त्या निष्कामकर्तृत्वमुक्तम् । यतस्तादृग्यज्ञस्यैव चित्तशोधकत्वम् । तदनन्तरश्रवणस्य ज्ञानसाधकत्वं मतं निश्चितमित्यर्थः । अतः कलाविति । यतः स ज्ञानमार्गीयः संन्यासः एतावत्प्रयत्नसाध्यः अतः कलौ तावत्प्रयत्नसिद्धेरसम्भावितत्वात्तद्व्यतिरेकेण संन्यासस्य फलसाधकत्वाभावात् पश्चात्तापहेतुत्वमेवेति ज्ञापनायोक्तं पश्चात्तापायेति । नान्यथा उक्तफलाय नेत्यर्थः ।

इस प्रकार से ज्ञानियों को प्राप्त होने वाली मुक्ति का प्रकार कहकर "ज्ञान साधनों द्वारा साध्य होता है" इस बात को बताने के लिये आचार्यचरण अब आगे ज्ञानमार्गीयपरित्याग के साधनों के विषय में **ज्ञानं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इन साधनों को आपश्री ने **यज्ञादिश्रवणात्** इत्यादि शब्दों से बताया है अर्थात् "यज्ञ आदि(आरंभ)में है जिस श्रवण के,वैसा श्रवण" यानि श्रवण करने से पहले यज्ञ करना ज्ञानमार्गीयपरित्याग के साधन हैं। इन साधनों के विषय में बताने के लिये आचार्यचरण का अभिप्राय यह है कि, चूँकि शास्त्रों में ज्ञान को चित्तशुद्धि का हेतु कहा गया है और यज्ञ को चित्तशोधक कहा गया होने के कारण पता चलता है कि, यहाँ आचार्यचरण जिस यज्ञ की बात कह रहे हैं, वह निष्कामभाव से किया गया होना चाहिए क्योंकि निष्कामभाव से किया जाने वाला यज्ञ ही चित्त को शुद्ध बना सकता है; और ऐसे यज्ञ के पश्चात् किए गए श्रवण को ज्ञानप्राप्ति का साधक बताया गया है, यानि जब निष्कामभाव से यज्ञ करने के पश्चात् श्रवण किया जायेगा, तो ऐसा श्रवण ही ज्ञान उत्पन्न करा सकता है, यह अर्थ है। इसलिए **अतः कलौ** इत्यादि शब्दों द्वारा आपश्री आज्ञा करते हैं कि, चूँकि ज्ञानमार्गीयसंन्यास इतने सारे प्रयत्नों के पश्चात् ही सिद्ध होता है और कलिकाल में इतना प्रयत्न कर पाना असंभव बात है, इसलिए इसके बिना संन्यास लेना फलसाधक नहीं बन पायेगा और उल्टे पश्चात्ताप का ही हेतु बनेगा- यह बताने के लिये आपश्री ने **पश्चात्तापाय** यों कहा है; **नान्यथा** अर्थात् ऊपर संन्यास का जो फल बताया, उसका हेतु नहीं बनेगा, यानि ज्ञानप्राप्ति या मुक्ति प्राप्त नहीं हो पायेगी।

ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्यैतावत्प्रयत्नसाध्यत्वमपि ज्ञात्वा प्रतिष्ठार्थमपि चेत्कुर्यात्तदा यथोक्ताश्रमधर्मानिर्वाहात् संन्यासव्यवहारस्य वेषमात्रपर्यवसायित्वेन पाषण्डित्वमेव भवतीत्यत उक्तं पाषण्डित्वं भवेदिति । चकारः संन्यासाश्रमधर्मानाचरणपापसमुच्चयार्थः । यतः ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्यैतावद्दोषवत्त्वं तस्मात् कारणात् कलौ ज्ञाने ज्ञानमार्गे न संन्यसेत् संन्यासग्रहणं न कुर्यात्। यद्यप्याश्रमधर्मानिर्वाहात् कलौ ज्ञानमार्गीयसंन्यासनिषेधः कृतस्तथापि कश्चिदाश्रमोत्कर्षं श्रुत्वा बलात्कारेणाप्याश्रमधर्मनिर्वाहं करिष्यामीति बुद्ध्या कुर्यादिति तस्यापि निषेधमाहुः सुतरामिति । सुतरामतिशयेन कलिदोषाणां प्रबलत्वात् प्राबल्यात् पूर्वकृतव्यवसायनाशकत्वात्, इति हेतोस्तस्याकर्तव्यत्वमेव स्थितं निश्चितमित्यर्थः ।।१४, १५, १६$^{1}/_{2}$।।

परन्तु ये बात पता भी हो कि ज्ञानमार्गीयसंन्यास तो इतने सारे प्रयत्नों के पश्चात् सिद्ध होने वाला है, तथापि यदि कोई प्रतिष्ठा पाने के लिए ही संन्यास लेना चाहता हो, तो चूँकि संन्यास के नियम जिस प्रकार के बताए गए हैं, वैसे ढंग से संन्यासाश्रमधर्मों का निर्वाह नहीं हो सकता अतः संन्यास का व्यवहार तो बस केवल गेरुआ वेष धारण करने तक ही सीमित रह जायेगा और पाखण्डी ही कहलाए जायेंगे, अतएव आचार्यचरणों ने **पाषण्डी भवेत्** यों कहा है। **च** शब्द के द्वारा यह भी समझ लेना चाहिए कि पाखण्डी तो होंगे ही, साथ ही साथ संन्यासाश्रमधर्मों का पालन न करने के कारण पाप के भागी भी बनेंगे। चूँकि ज्ञानमार्गीयसंन्यास लेने पर इतने सारे दोष गलेपतित होंगे, इस कारण कलिकाल में ज्ञानमार्गीयसंन्यास नहीं लेना चाहिए। यद्यपि संन्यासाश्रमधर्मों का निर्वाह न कर पाने के कारण कलिकाल में ज्ञानमार्गीयसंन्यास का निषेध किया गया है, तथापि यदि कोई संन्यासाश्रम की महिमा सुनकर बलपूर्वक "मैं आश्रमधर्मों का निर्वाह

करूँगा" ऐसी बुद्धि रख कर संन्यासग्रहण करने को तत्पर होता हो, तो आचार्यचरण उसका भी **सुतरां** इत्यादि शब्दों से निषेध कर रहे हैं। **सुतराम्** अर्थात् कलिदोष अतिप्रबल होने के कारण संन्यासग्रहण करने से पहले उसने जो कुछ भी संन्यास के संदर्भ में मन में निश्चय किया था, वह सभी कुछ नष्ट हो जायेगा, अतः ज्ञानमार्गीयसंन्यास नहीं ही लेना निश्चित होता है, यह अर्थ है ॥14,15,16$^1/_2$॥

एवं ज्ञानमार्गीयसंन्यासस्य बलवद्बाधकप्रतिबन्धकत्वेन सोपपत्तिकमकर्तव्यत्वमुपपाद्य त्यागाविशेषाद्भक्तिमार्गत्यागेपि तेषां बाधकत्वाशङ्कानिरासाय स्वत एव बाधकत्वं सम्भाव्य निराकुर्वन्ति । तत्र सम्भावनामाह भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥१७॥

अपिशब्दः पूर्वोक्तत्यागसमुच्चयार्थः । भक्तिमार्गेपि चेद्यदि तद्वदेव दोषसम्भावना तदा तद्दोषनिवृत्त्यर्थं किं कार्यमिति पूर्वपक्षसम्भावनमुक्त्वा तन्निरासं प्रतिजानते उच्यत इति । अथवा यदि भक्तिमार्गेपि दोषसम्भावना तदा तद्दोषनिवृत्त्यर्थं भक्तिमार्गीयेण किं कार्यं किं कर्तव्यं भवता उच्यत इत्यर्थः ॥१७॥

इस प्रकार से बलिष्ठबाधकों द्वारा प्रतिबन्धक आते होने के कारण ज्ञानमार्गीयसंन्यास को तर्कसहित न करने का उपदेश देकर अब आगे आचार्यचरण यह बता रहे हैं कि, त्याग तो ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग दोनों में बताया गया है अतः यदि ज्ञानमार्ग में बाधक आड़े आते हों, तो फिर भक्तिमार्ग में भी अवश्य बाधक आयेंगे ही- ऐसी शंका का निराकरण करने के लिये आचार्यचरण स्वयं अपनी ओर से ही उसमें बाधकता की संभावना बता कर और तत्पश्चात् उसका निराकरण भी कर रहे हैं। बाधक होने की संभावना को आपश्री **भक्तिमार्गेपि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

अपि शब्द से तात्पर्य है- पूर्व में कहे ज्ञानमार्गीयत्याग की भाँति भक्तिमार्ग में भी; यानि कि उस ज्ञानमार्गीयत्याग में आने वाले बाधकों की भाँति यदि भक्तिमार्ग **में भी** दोष होने की सम्भावना लगती हो तो, तो उस दोष की निवृत्ति करने के लिये क्या करना चाहिए- इस पूर्वपक्ष की आपश्री ने जो सम्भावना व्यक्त की थी, उसका निराकरण आपश्री **उच्यते** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अथवा तो पूरी पंक्ति का अर्थ यों करें कि- पूर्वपक्षी यों प्रश्न कर रहा है कि, "यदि भक्तिमार्ग में भी दोष होने की सम्भावना लगती हो, तो उस दोष को दूर करने के लिये एक भक्तिमार्गीय को आपश्री(आचार्यचरण)क्या कर्तव्य करना बतायेंगे ?" यह अर्थ है ॥17॥

प्रतिज्ञातं दोषाभावमुपपादयन्ति अत्रेति ।

अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥१८॥

अत्रास्मिन्मार्गे आरम्भे त्यागोपक्रमे इत्यर्थः । आरम्भपदे उद्देश्यस्यानुक्तत्वेपि त्यागस्यैवोपक्रान्तत्वात्तस्यैवोद्देश्यत्वेन तदारम्भ एवेत्यर्थः । अत्रेतिपदात् ज्ञानमार्गीयत्यागारम्भकर्तुरपक्वत्वात्पूर्वोक्तदुःसङ्गसहायादिना नाशः सम्भवति, भक्तिमार्गे तु त्यागारम्भकर्तुरलौकिकभगवद्भावपूर्णत्वेनातिपक्वत्वाद् दुःसङ्गसम्भावनाया अप्यसम्भावितत्वात्तदन्यस्य नाशकत्वाभावान्न नाश इत्युक्तम् । ननु दुःसङ्गाभावान्नाशस्यासम्भावितत्वेपि कालकर्मस्वभावैर्नाशोस्त्विति चेत्, न । यथा मर्यादामार्गीयत्यागिनामाग्नीध्रभरतादीनां कालादिभिस्त्यागनाशो दृष्टस्तथा शुद्धपुष्टिमार्गीयत्यागकर्तुः कुत्रापि नाशो न दृष्ट इत्यत उक्तं दृष्टान्तस्याप्यभावत इति ।

अब आपश्री ने ऊपर जिस दोषनिवारण की बात कही थी, वह दोष भक्तिमार्ग में क्यों लागू नहीं पड़ता, यह अग्रिमश्लोक में **अत्र** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं।

अत्र/इस मार्ग में **आरम्भ** करने पर, यानि त्याग का आरम्भ करने पर- यह अर्थ है; यद्यपि आपश्री ने **आरम्भ** पद के साथ ये नहीं लिखा है कि, क्या आरम्भ करने पर ? तथापि यहाँ चर्चा तो त्याग की ही चल रही है अतः अर्थ यही होगा कि त्याग की प्रक्रिया आरम्भ करने पर; यानि त्याग आरंभ करने पर **अत्र**/इस मार्ग में नाश नहीं होगा। यह कहने का तात्पर्य यह है कि, ज्ञानमार्गीयत्याग आरम्भ करने वाला चूँकि अपरिपक्व है, अतः पूर्व में बताए गए दुःसंग अथवा तो संगी-साथियों के द्वारा उसका नाश होने की सम्भावना बनी रहती है, किन्तु भक्तिमार्ग में तो त्याग आरम्भ करने वाला चूँकि अलौकिकभाव से पूर्ण होने के कारण परिपक्व हो चुका होता है, अतः उसे दुःसंग लगने की तो संभावना भी नहीं होती, और दुःसंग के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से नाश होता नहीं, इसलिये आपश्री ने **न नाशः** यों कहा है। चलो, मान लिया कि दुःसंग न लगता होने से नाश होने की सम्भावना नहीं है, परन्तु, सम्भव है कि काल-कर्म-स्वभाव इत्यादि के द्वारा नाश हो जाय !! यदि ऐसी शंका होती हो तो,...नहीं.....इनसे भी नाश नहीं होगा क्योंकि जिस प्रकार राजा आग्नीध्रaasdfg एवं भरतजी जैसे मर्यादामार्गीय त्यागियों का कालादि के द्वारा नाश होना देखा गया है, वैसा

ुद्धपुष्टिमार्गीयत्याग करने वाले का कभी नाश हुआ हो, ऐसा एक भी उदाहरण अब तक देखने में नहीं आया है- यह बात बताने के लिये आपश्री ने **दृष्टान्तस्याप्यभावतः** यों लिखा है।

नु पूर्वोक्तैः कालादिभिर्नाशासम्भवेपि स्रक्चन्दनादीनां शीतलत्वेन तापहारकत्वात्तल्लेपादिना तापनिवृत्त्या स्वास्थ्येन दितरानुसन्धानात्तद्भावशैथिल्यात्तापनिवर्तकमस्त्विति चेत्तत्राहुः स्वास्थ्यहेतोः परित्यागादिति । वास्थ्यहेतोश्चन्दनादेर्गृहत्यागेन सहैव परित्यागात् तैर्न सम्बन्धसम्भावनेति न तैर्नाशसम्भवः । अथवा, स्रगादीनां र्मपित्तप्रकोपादिजनिततापनिवृत्तिहेतुत्वात्तन्निवर्त्यतापस्यात्रासम्भवान्न तेषामस्मिन् स्वास्थ्यहेतुत्वमित्यनुसन्धानेनाप्युक्तं वास्थ्यहेतोरित्यादि । तस्यायमर्थः । एतत्तापस्य भगवद्भावात्मकत्वाददृष्टस्य च तदजनकत्वेन तन्नाशकत्वस्याभाव त्युक्तं बाधः केनास्य सम्भवेदिति । अस्य तापस्य केनापि बाधो नाश इत्यर्थः ॥१८॥

केन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, जैसा कि पूर्व में बताया गया कि, काल इत्यादि के द्वारा नाश होने की सम्भावना नहीं है, थापि पुष्पमाला-चंदन इत्यादि शीतल होने के कारण तापहारक होते हैं अतः इनका लेप करके तापनिवृत्ति होकर स्वस्थता मिल ाती है और इतर लौकिक वस्तुओं का अनुसंधान भी रहने लगता है, और जब लौकिकवस्तुओं का अनुसन्धान रहने लगा तो विप्रयोग ा भाव शिथिल पड़ जायेगा अतः इस प्रक्रिया द्वारा तापनिवारण अवश्य हो जायेगा !!! यदि ऐसा प्रश्न होता हो, तो आपश्री इसका त्तर **स्वास्थ्यहेतोः परित्यागात्** इत्यादि शब्दों द्वारा दे रहे हैं। तात्पर्य यह कि जब उसने स्वस्थ बनाने वाले चन्दन इत्यादि वस्तुओं ा गृहत्याग करने के संग ही त्याग कर दिया है, फिर उनसे सम्बन्ध होने की तो सम्भावना ही नहीं है, तो उनसे ताप का नाश हो ाना भी संभव नहीं है। अथवा, यों समझ लें कि, पुष्पमाला-चन्दन इत्यादि पदार्थ तो धूप-पित्त इत्यादि के प्रकोप से उत्पन्न होने ाले ताप की निवृत्ति करने में उपयोगी होते हैं और ये पदार्थ जिस ताप का निवारण करते हैं, उस ताप की तो यहाँ सम्भावना भी हीं की जा सकती, यहाँ होने वाला ताप तो सर्वथा अलौकिकताप है और वे पदार्थ इस संदर्भ में स्वस्थता नहीं दे सकते, इस कारण ा भी आचार्यचरणों ने **स्वास्थ्यहेतोः परित्यागात्** यों कहा है। इस सभी बातों का अर्थ यह है कि, यह ताप भगवद्भावात्मक है और ुमने ऊपर की चर्चा के अनुसार यह समझ लिया कि, इस ताप को कोई दृष्टसाधन(लोक में उपलब्ध दृष्टिगत साधन)तो दूर नहीं कर कता, तो अब बात बची अदृष्टसाधन(जो लोक में उपलब्ध न हो)की, तो इसमें ये समझना है कि, जब इस प्रकार के ताप को कोई दृष्टसाधन उत्पन्न ही नहीं कर सकता, तो फिर उसके द्वारा ताप का नाश भी कैसे हो सकेगा, अतः आपश्री **बाधः केनापि सम्भवेत्** ों आज्ञा कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि- इस ताप का नाश कौन कर सकता है? कोई भी नहीं, यह अर्थ है ॥18॥

एवं दृष्टादृष्टोपायानां नाशकत्वाभावमुक्त्वा भगवतोपि नाशहेतुत्वमाशङ्क्य निराकुर्वन्ति हरिरिति ।

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥१९॥

द्यपि हरिः सर्वदुःखहर्ता तथाप्यत्रास्मिन्मार्गे ईश्वरत्वाद्बाधां कर्तुं न शक्नोति । अत्रोपपत्तिः । यस्य यथा स्वरूपं तस्य थात्वेन ज्ञानमीश्वरस्यैव भवति, अतः अस्य भावस्य नाशे हेत्वभावमपि जानाति, स्वस्य भक्तभावाधीनत्वमपि ानातीति स्वस्याशक्यत्वं ज्ञात्वा न प्रवर्तत इत्यत उक्तं हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधामिति । एवं गवद्धेतुकबाधाभावं निरूप्य कैमुतिकन्यायेन तदितरहेतुकबाधाभावमाहुः कुतोऽपर इति । अत्र व्यतिरेके दृष्टान्तमाहुः अन्यथेति । अन्यथा यद्येवं न, तदा मातरोपि स्वबालान् स्तन्यैः न पुपुषुः, पोषणं न कुर्युः । मातर इति बहुवचनं र्वजात्युपलक्षकम् । क्वचित्पदेन सर्वदेशकालनियमो ज्ञापितः ।

स प्रकार से आपश्री ने भक्तिमार्गीय विप्रयोगताप का दृष्ट-अदृष्ट सभी उपायों द्वारा नाश न होना बता तो दिया, परन्तु दाचित् भगवान ही जीव के विप्रयोगताप का नाश कर दें, तो क्या करें- ऐसी आशंका यदि किसी को होती हो, तो अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण उसका निराकरण **हरिः** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- यद्यपि हरि सर्वदुःखहर्ता हैं तथापि इस पुष्टिमार्ग में तो वे ईश्वर होने के कारण उसे बाधा नहीं कर कते। इसमें युक्ति यह है कि, जिसका जैसा स्वरूप है, उसे उस ढंग से तो केवल ईश्वर ही जान सकते हैं, इसलिये वे इस बात को भी ानते हैं कि जीव के विप्रयोगभाव को नष्ट करने का कोई कारण ही नहीं बनता। वे ये भी जानते हैं कि, वे भक्त के भाव के अधीन हैं और उसके भाव में बाधा उत्पन्न करना उनके लिये अशक्य है, यह जानकर भी वे उसे बाधा नहीं करते- यह कहने के लिये आचार्यचरणों ने **हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां** यह कहा है। यों भगवान द्वारा बाधा नहीं खड़ी की जाती इस मुद्दे का निरूपण करके अब आचार्यचरण

कैमुतिकन्याय से **कुतोऽपरे** इत्यादि शब्दों द्वारा यह बता रहे हैं कि, जब भगवान ही बाधा उत्पन्न नहीं करते, तो अन्य दूसरे भी कहाँ से बाधा उत्पन्न करेंगे !! इस बात को समझाने के लिये आपश्री ने **अन्यथा** इत्यादि शब्दों द्वारा विपरीतक्रम से उदाहरण दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि, **अन्यथा** यानि यदि ऐसा न मानें, तो फिर यह कहना पड़ेगा कि माताएँ भी अपने बालकों का स्तनपान कराके उनका पोषण नहीं करतीं। तात्पर्य यह हुआ कि, जिस प्रकार यह कदापि संभव नहीं हो सकता कि कोई माता अपने बालक को स्तनपान न करा कर उसका पोषण न करे, ठीक उसी प्रकार यह भी कदापि संभव नहीं हो सकता कि, भगवान अपने जीव के भाव में बाधा उत्पन्न करें- यह अर्थ है। **मातरः** शब्द बहुवचन में दिया होने के कारण इसे समस्त जातियों की माताओं का उपलक्षक मानना चाहिए, यानि मनुष्यों में ही अपितु सर्वत्र यह नियम है कि, कोई भी माता कभी भी अपने बालक का पोषण न करे, ऐसा संभव नहीं है। **क्वचित्** शब्द का अर्थ है- सभी देश काल में यही नियम है, यानि किसी देश में या किसी भी काल में माताएँ अपने बालक का पोषण करती ही हैं।

(अथवा हरिरत्रेति । अत्र पूर्वं हरिपदमुक्त्वा अग्रे बाधां कर्तुं न शक्नोतीति यदुक्तं तस्यायमाशयः । यद्यपि हरिपदेन सर्वदुःखहरणसामर्थ्यमायाति तथापि दुःखहर्तृत्वमनुक्त्वा यद्बाधाभावकर्तृत्वमुक्तं, तेनास्य विगाढभावस्य स्वरूपात्मकत्वात् स्वरूपस्य च द्विदलरसात्मकत्वादस्य भावस्य रसात्मकत्वमेव, न तु दुःखरूपत्वम् । यद्यस्य दुःखरूपत्वं स्यात् तदा हरित्वेन तन्निवृत्तिं कुर्यादेव, अन्यथा नाशार्थस्य याथार्थ्यं न स्यात् । अत एव हरित्वमुक्त्वा फलबाधाभावकथनमेवोक्तं, न तु दुःखहर्तृत्वमुक्तम् । स्वयमेव चेत्स्वास्थ्यं कुर्यात्तदा स्वस्यैव फलप्रतिबन्धकत्वं भवेदित्येतदभिप्रायज्ञापनार्थमप्युक्तं हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे इति ।) यथा मातृणां बालपोषकत्वाभावाशक्यत्वमेवमत्रेश्वरस्य बाधाकरणमिति भावः ।।१९।।

(अथवा, **हरिरत्र** इत्यादि शब्दों का दूसरा अर्थ समझें। यहाँ आचार्यचरणों ने पहले तो 'हरि' पद कहा और फिर बाद में जो यों कह दिया कि "हरि भी बाधा नहीं कर सकते" इसका आशय समझें। यद्यपि 'हरि' शब्द का अर्थ होता है- भक्तों के समस्त दुःखों को हरने की सामर्थ्य रखने वाले भगवान; तथापि आचार्यचरणों ने यह नहीं कहा कि 'समस्त दुःखों का हरण करने वाले हरि' परन्तु ये कहा कि 'भक्त को कोई भी बाधा न करने वाले हरि'; इसका तात्पर्य यह है कि, भक्त को विप्रयोग की दशा में होना वाला विगाढ़भाव भगवत्स्वरूपात्मक होता है और भगवत्स्वरूप द्विदलरसात्मक होता है, इसलिये यह विगाढ़भाव रसात्मक ही होता है, दुःखात्मक नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह कि यदि ये विगाढ़भाव दुःखात्मक होता, तब तो भगवान हरि होने के नाते उसका दुःख दूर कर ही देते। यानि यदि वे भक्त के दुःख दूर न करें, तो दुःख दूर करने के कारण उन्हें दिए गए 'हरि' नाम की भी यथार्थता कैसे सिद्ध हो ! इसलिए चूँकि इस विगाढ़भाव में दुःख नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, इसलिये आचार्यचरणों ने 'हरि' पद का प्रयोग करने पर भी यों कहा के वे फल में बाधा नहीं करते; यों नहीं कहा कि वे दुःख दूर करते हैं क्योंकि विप्रयोगभाव वास्तव में तो दुःखात्मक होता ही नहीं। इतना सब कहने का तात्पर्य यह कि, यदि भगवान उसे स्वस्थता दे दें, तो वे खुद ही फलप्राप्ति में प्रतिबन्धक माने जायेंगे- इस अभिप्राय को बताने के लिये आचार्यचरणों ने **हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे** यह पंक्ति कही है। आपश्री के इस दृष्टान्त से आपश्री का भाव यह है कि, जिस प्रकार माताओं का अपने बालकों का पोषण न करना अशक्य बात है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर का भी अपने भक्तों को बाधा खड़ी करनी अशक्य बात है ॥19॥

यद्यप्येतन्मार्गीयतापस्य सर्वानाश्यत्वं, तथापि ज्ञानमार्गस्तापनाशमात्रे प्रसिद्ध इति तन्मार्गबोधकवचनैस्तापनाशमाशङ्क्य तेषामपि तापनाशकत्वाभावमाहुः ज्ञानिनामपीति ।

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ।।२०।।

तत्र हेतुः । ज्ञानमार्गस्य भक्तिमार्गापेक्षया दुर्बलत्वेन भक्तिमार्गस्य च प्रबलत्वेन तद्वाक्यानां नैतद्भावाभिभावकत्वम् । ज्ञानभक्तिमार्गयोर्दुर्बलत्वप्रबलत्वविचारः श्रीमदाचार्यैर्दशमस्कन्धविवरणे 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीत'इत्यत्र कालनियामकत्वमुक्त्वापि भक्त्युद्रेकानन्तरं 'समुद्विजे भवद्धेतो'रिति वचनेन ज्ञानमार्गीयमाहात्म्योपमर्दनपूर्वकं भक्तिमार्गप्राबल्यमेव निरूपितमिति विस्तरभिया नात्र विचारः ।

अब एक आशंका यह होती है कि, यद्यपि ये ठीक बात है कि, इस भक्तिमार्ग में होने वाला ताप किसी से भी नष्ट नहीं हो सकता, तथापि ज्ञानमार्ग तो किसी भी प्रकार के ताप का नाश करने के लिये ही प्रसिद्ध है, फिर क्यों न ज्ञानमार्गीयवचनों द्वारा ताप को दूर कर लिया जाय !! यदि ऐसी आशंका होती हो, तो आचार्यचरण **ज्ञानिनामपि** इत्यादि शब्दों से यह बता रहे हैं कि, ज्ञानमार्गीयवचनों से भी यह भक्तिमार्गीय विप्रयोगताप दूर नहीं हो सकता।

इसका कारण यह है कि, ज्ञानमार्ग भक्तिमार्ग की तुलना में दुर्बल है और भक्तिमार्ग प्रबल है अतः ज्ञानमार्गीयवाक्य भक्तिमार्गीयभाव को प्रभावित नहीं कर सकते। ज्ञानमार्ग और एवं भक्तिमार्ग के क्रमशः दुर्बल एवं प्रबल होने की बात श्रीमदाचार्यचरणों ने दशमस्कन्ध के विवरण में इस प्रकार से कही है कि *"हे प्रभु! आपके भय से मृत्यु भी भाग गयी है(श्री0भा-10/3/27)" इस श्लोक के अन्तर्गत माता देवकी ने पहले तो भगवान को काल के भी नियामक बताया और तत्पश्चात् "आपके लिए मैं कंस से बहुत डर रही हूँ(श्री0भा-10/3/29)"* यह कहा; आचार्यचरणों ने इस श्लोक के विवरण में माता देवकी में भक्ति का उद्रेक बताकर तत्पश्चात् ज्ञानमार्गीयमाहात्म्य को निरस्त करके भक्तिमार्ग की प्रबलता निरूपित की है, जिसका विस्तारभयेन हम यहाँ विचार नहीं कर रहे हैं। ऊपर कहे श्रीभागवत के श्लोकों में यह बात आती है कि माता देवकी ने भगवान के कारागृह में प्रकट होने के पश्चात् उन्हें काल के भी नियामक बताकर उनकी स्तुति की है और तत्पश्चात् जब उनमें भगवान के प्रति भक्ति उत्पन्न हुई तो स्तुति करने के पश्चात् तुरंत उन्होंने ये भी कहा कि, हे प्रभु ! मुझे आपके लिए कंस से भय लग रहा है कि कहीं वो आपको मार न डाले अतः आप अपने आयुधों को छुपा लीजिए। इन श्लोकों का उदाहरण देकर श्रीगोकुलनाथचरण यह समझाना चाह रहे हैं कि, भक्तिभाव ने पहले उत्पन्न हुए ज्ञानमार्गीयभाव को दबा दिया, जिससे ज्ञानमार्ग की तुलना में भक्तिमार्ग की प्रबलता सिद्ध होती है।

तथापि ज्ञानमार्गस्यापि प्रामाणिकत्वात् कदाचित् ज्ञानिवाक्यैश्चित्तव्यासङ्गमात्रत्वमपि भवेदिति तस्याप्यभावार्थं भगवत्कृतां रक्षामाहुः न भक्तं मोहयिष्यतीति । (जन्मप्रकरणीयतृतीयाध्याये भगवत्प्रादुर्भावानन्तरं वसुदेवस्तुत्यनन्तरं देवकीमातृचरणैर्मर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञानपूर्वकं 'रूपं यत्त'दिति स्तुतावन्ते 'मत्यों मृत्युव्यालभीत' इति पद्ये कालनियामकत्वेन पूर्वं स्तुत्वापि पश्चा'दुपसंहर विश्वात्म'न्निति प्रार्थनानन्तरं व्यूहरहितशुद्धपुरुषोत्तमप्राकट्यानन्तरं शुद्धभक्तिमार्गीयभावप्राकट्ये सति पूर्वस्तुतिहेतुभूतमर्यादामार्गीयभावत्वेन पूर्वस्तुत्युक्तमर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञानजनितकालनियन्तृत्वादिज्ञाननिराकरणसामर्थ्यं शुद्धभक्तिमार्गीयभावस्यैव दृष्टम् । न तु पूर्वभावस्यैतद्भावनिराकरणसामर्थ्यम् । यद्येवं न स्यात्तद्वैपरीत्यं स्यात् । तस्माद्भक्तिमार्गस्यैव सर्वमार्गाधिक्यप्राबल्यं विचार्यैवाचार्यैरुक्तं न भक्तं मोहयिष्यतीति ।)

आचार्यचरणों ने वहाँ इतना सब यद्यपि स्पष्ट कर ही दिया है, परन्तु ज्ञानमार्ग भी प्रामाणिक ही है अतः कदाचित् कभी ऐसा भी हो सकता है कि ज्ञानी के वाक्यों द्वारा प्रभावित होकर चित्त ज्ञानमार्ग में लग जाय!! तो आचार्यचरण आगे **न भक्तं मोहयिष्यति** इत्यादि शब्दों द्वारा यह बता रहे हैं कि, भगवान उनसे भी भक्त की रक्षा करते हैं। (इसका तात्पर्य यह है कि जन्मप्रकरण के तीसरे अध्याय में भगवान का प्रादुर्भाव होने पर वसुदेवजी द्वारा भगवान की स्तुति कर लेने के पश्चात् मातृचरण देवकी ने भगवान के मर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञान के अनुसार "रूपं यत् तत्(श्री0भा-10/3/24)" इन श्लोकों द्वारा स्तुति आरम्भ करके अन्त में *"मत्यों मृत्युव्यालभीत(श्री0भा-10/3/27)"* इस पद्य में पहले भगवान को काल का भी नियामक कह कर उनकी स्तुति करने के बाद भी *'हे प्रभु! मैं कंस से बहुत डर रही हूँ, इसलिए आप शंख, चक्र, गदा, और पद्म का अपना चतुर्भुजस्वरूप छुपा लीजिए(श्री0भा-10/3/30)"* इस पद्य द्वारा कंस के भय से भगवान को उनके आयुध एवं व्यूहों छुपा लेने की प्रार्थना की; और जब भगवान उनकी प्रार्थनानुसार उनके समक्ष व्यूहरहितपुरुषोत्तमस्वरूप मे प्रकट हुए, और जब उस स्वरूप के दर्शन करके माता देवकी के मन में शुद्धभक्तिमार्गीयभाव का प्राकट्य हुआ, तब माता देवकी ने पूर्व में जिस मर्यादामार्गीयभाव से भगवान की स्तुति की थी और उस मर्यादामार्गीय माहात्म्यज्ञान के कारण भगवान को काल के भी नियामक बताया था, तो यही देखा गया कि भगवान के उस मर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञान को भी शुद्धपुष्टिमार्गीयभाव ने दबा दिया। पूर्व के मर्यादामार्गीयमाहात्म्यज्ञान वाले भाव में ऐसी सामर्थ्य नहीं थी कि इस शुद्धपुष्टिभक्तिमार्ग वाले भाव को दबा सके। यदि ये सच न होता तो पूरा प्रसंग विपरीत रीति से हुआ होता यानि पहले भक्तिमार्गीयभाव जाग्रत हुआ होता और बाद में मर्यादामार्गीयभाव, किन्तु ऐसा नहीं हुआ, पहले मर्यादामार्गीयभाव उत्पन्न हुआ और बाद में शुद्धपुष्टिमार्गीयभाव, जिसने मर्यादामार्गीयभाव को दबा दिया । इसलिये भक्तिमार्ग ही समस्त मार्गों की तुलना में अधिक प्रबल है- यह विचार कर आचार्यचरणों ने **न भक्तं मोहयिष्यति** यों कहा।

रक्षाकरणे हेतुमाहुः आत्मप्रद इति । आत्मानं स्वरूपानन्दं प्रकर्षेण ददातीत्यात्मप्रदः । यद्यप्यधुना तत्प्रकारकदानस्याप्रतीतिस्तथापि वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वेति शास्त्राच्छीघ्रं दास्यतीति सिद्धवदेवोक्तमात्मप्रद इति । तदनन्तरमप्याहुः प्रियश्चेति । यो यस्य प्रियः स तत्कार्यसिद्धौ यदि विलम्बं सहेत तदा प्रियत्वमेव न स्यादिति शीघ्रं तत्कार्यसिद्ध्यर्थं चित्तव्यासंगमसहमानोऽविलम्बेन रक्षामेव कृतवान्, न तु विलम्बम्, अतः सम्यगेवोक्तं प्रियश्चापीति ।

. पुष्टि ।

एवं रक्षायामव्यभिचारिहेतुद्वयमुक्तम् ।

भगवान इस प्रकार से भक्त की रक्षा क्यों करते हैं, यह आपश्री **आत्मप्रदः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि भगवान भक्त को अपनी आत्मा, अपना स्वरूप ही दे देते हैं, इसलिये वे आत्मप्रद कहे जाते हैं। यद्यपि जिस प्रकार के विप्रयोगताप की चर्चा चल रही है, वह अवस्था आने तक भगवान ने जीव को अपनी आत्मा या अपने स्वरूप का दान दिया नहीं होता है, तथापि "जो वर्तमान के समीप हो, उसे वर्तमान की भाँति ही समझना चाहिए" इस वाक्यानुसार ऐसी तापात्मक अवस्था आने के बाद भगवान का शीघ्र उसे ऐसा दान देना तो निश्चित ही है अतः आचार्यचरणों ने भगवान को **आत्मप्रदः** कहा है। भक्त की रक्षा करने का दूसरा कारण आपश्री **प्रियश्च** शब्द से कह रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, जो जिसका प्रिय होता है, वह उसके कार्य को सिद्ध करने में यदि विलम्ब होना सहन कर लेता है, तो वह उसका प्रिय ही नहीं माना जा सकेगा अतः भगवान अपने भक्त के कार्य को शीघ्र पूरा करने के लिये उसका चित्त उनके अतिरिक्त कहीं और लगना सहन न करते हुए, विलम्ब न करते हुए उन सभी प्रतिबन्धों से उसकी रक्षा ही करते हैं, विलम्ब नहीं करते, अतः आचार्यचरणों ने भगवान को प्रिय कहा है तो वह उचित ही है। इस प्रकार से आचार्यचरणों ने भगवान द्वारा भक्त की रक्षा करने में न बदलने वाले दो कारण 'आत्मप्रद' एवं 'प्रिय' इन दो शब्दों द्वारा कहे, यानि भगवान का 'आत्मप्रद होना' और 'अपने भक्तों से प्रेम करना' ये दो स्वभाव कभी बदलते नहीं अतः इस कारण वे भक्त की रक्षा सदा करेंगे ही- यह अर्थ है।

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यतीत्यत्र मोहाभावार्थं रक्षाकरणं निरूप्य रक्षाकरणस्यावश्यकत्वाय तद्गतधर्मद्वयपूर्वकं रक्षामुक्त्वापि पुनर्यदुक्तं किमर्थं मोहयिष्यतीति तत्रायमाशयः । भक्तत्वेपि यत्रात्मप्रदानेच्छा तत्रैव ज्ञानिवाक्यजमोहनिवृत्त्यर्थं रक्षा, यत्र नात्मप्रदानेच्छा तत्र ज्ञानिवाक्यजमोहनिवृत्तिरक्षापि नेत्यर्थः । तत्र निदर्शनम् । द्विजपत्नीनां व्रजसीमन्तिनीवद्गसानुभवोपयोगिदेहवत्त्वमत्यार्तिभरेण गत्वा सेवां करिष्याम इति बुद्ध्या सर्वसामग्रीसम्पादनपूर्वकं पत्यादिसर्वबन्धुनिराकरणपूर्वकं चागमनम् । आगतासु तास्विव भगवद्वचनं तद्गदेवोत्तरदानेन सर्वप्रकारसाम्येप्यात्मप्रदानेच्छाऽभावान्न 'प्रीतयेनुरागाये'त्यादिज्ञानमार्गीयवाक्यैर्जनितमोहस्य निवृत्त्यर्थं न रक्षाकरणम् ।

यद्यपि आचार्यचरणों ने **ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति** इस वाक्य द्वारा भक्त को मोह होने से उसकी रक्षा करने वाली बात निरूपित कर दी एवं तत्पश्चात् भगवान के लिए अपने भक्त की रक्षा करनी आवश्यकता क्यों है, इस बात को भी तदन्तर्गत 'आत्मप्रद' एवं 'प्रिय' इन दो कारणों से बता दिया, तथापि श्लोक के दूसरे चरण में आपश्री ने फिर से जो **किमर्थं मोहयिष्यति**(आखिर भगवान अपने भक्त को मोहित/भ्रमित क्यों करेंगे?)यों कहा है, उसका आशय यह है कि ; भगवान अपने स्वरूप का दान तो अपनी स्वामिनियों को करते हैं, परन्तु, केवल भक्त होने के नाते जहाँ भगवान को उसे अपने स्वरूप तक दे देने की इच्छा है,वहाँ वे क्यों उसे ज्ञानमार्गसम्बन्धी वाक्यों से मोहित/भ्रमित करेंगे अपितु मोह की निवृत्ति करने के लिये उसकी रक्षा ही करेंगे; किन्तु जहाँ जिस भक्त को उन्हें अपना स्वरूपदान देने की इच्छा नहीं है, वहाँ वे ज्ञानमार्गसम्बन्धी वाक्यों से उत्पन्न होने वाले मोह की निवृत्ति करने के लिये उसकी रक्षा नहीं करेंगे- यह अर्थ है। इसका प्रमाण यह है कि, द्विजपत्नियों की देह व्रजगोपिकाओं की भाँति भगवद्रसानुभवोपयोगिदेह थी अतः अति आर्तिपूर्वक "हम प्रभु के पास जाकर उनकी सेवा करेंगी" ऐसा सोचकर भोजन आदि समस्त सामग्रियाँ लेकर, पति आदि समस्त बन्धु-बान्धवों के बन्धनों को दूर करके वे भगवान के पास पहुँचीं। उन द्विजपत्नियों को भगवान ने गोपिकाओं को कहे वाक्य की ही भाँति ही लौट जाने वाले वचन कहे एवं उन द्विजपत्नियों ने भी न लौटने के लिये भगवान को वही उत्तर दिया, जो गोपिकाओं ने दिया था; अतः द्विजपत्नियों एवं व्रजगोपिकाओं में तो यद्यपि सभी प्रकार से समानता थी तथापि, चूँकि भगवान को द्विजपत्नियों को अपना स्वरूप का दान देने की इच्छा नहीं थी इसलिये भगवान ने उन्हें *"देवियों! अब तुम मुझसे जुड गयी हो और अब सारा संसार तुम्हारा सम्मान करेगा, इसलिए अब तुम वापस घर लौट जाओ(श्री0भा-10/23/32)"* इत्यादि ज्ञानमार्गीयवाक्यों द्वारा उन्हें मोहित/भ्रमित कर दिया और उनका मोह/भ्रम दूर करके उनकी रक्षा नहीं की, अतः वे भगवान के ज्ञानीवाक्यों से मोहित/भ्रमित होकर वापस लौट गयीं।

व्रजसीमन्तिनीष्वात्मप्रदानेच्छाप्राचुर्यात्तथा रक्षा कृता । यथा 'रजन्येषे'त्यादिमर्यादाधर्मवाक्यैः 'श्रवणाद्दर्शना'दित्यादिज्ञानमार्गीयवाक्यैश्च मोहसम्भावनापि नाभूत् । प्रत्युत स्वविचारितप्रयोजनविरोधित्वेन तन्निराकरणमभूत् । अग्रेपि चतुश्चत्वारिंशाध्याये भगवत्प्रेषितः श्रीमदुद्धवः 'श्रूयतां प्रियसन्देश' इति भगवत्सन्देशव्याजेन तापवैक्लव्याद्यभावार्थमुपदिष्टस्यापि ज्ञानस्य भगवता स्वात्मप्रदानेन रक्षितत्वेन सर्वात्मना

स्वोपदिष्टमार्गमोहाभावदर्शनपूर्वकं 'दृष्ट्वैवमादिगोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लव'मिति पूर्वोक्ततापवैक्लव्यादिदर्शनेन सर्वात्मना स्वप्रयासनिष्फलत्वं तापादिभावस्यातिप्रबलत्वं दृष्ट्वा तासु सर्वाधिकानिर्वचनीयोत्कर्षदर्शनेन स्वस्मिन् भगवत्कृपापात्रत्वेप्यत्यपकर्षस्फूर्त्या स्वस्य साक्षात्तच्चरणारविन्देषु शिरः स्पर्शनेन नमनायोग्यत्वं ज्ञात्वा 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणु'मित्यनेनैकरेणुमेव यत्र नमस्कृतवान् । तस्माद्यत्रैवात्मप्रदानं तत्रैव ज्ञानमार्गीयवाक्यमोहाभावः, नान्यत्रेत्येतावत्प्रमेयं मनसि कृत्वोक्तं किमर्थं मोहयिष्यतीति ।।२०।।

किन्तु भगवान को व्रजगोपिकाओं को अपने स्वरूप का दान देने की प्रचुर इच्छा थी इसलिये उन्होंने उन गोपिकाओं को मोहित/भ्रमित नहीं होने दिया और उनके भगवद्भाव की रक्षा की। भगवान ने उनके भगवद्भाव की इस प्रकार से रक्षा की कि, *"गोपियों ! यह रात का समय बड़ा भयानक होता है, इसलिए तुम अपने घरों को लौट जाओ(श्री0भा-10/29/19)"* इत्यादि मर्यादामार्गीय धर्मवाक्यों एवं "भगवान ने गोपियों से कहा- मेरी लीला और गुणों के श्रवण से और रूप के दर्शन से जिस प्रकार के अनन्य प्रेम की प्राप्ति होती है, वैसे प्रेम की प्राप्ति मेरे पास रहने से नहीं होती, इसलिए तुम सभी वापस लौट जाओ(श्री0भा- 10/29/27)" इत्यादि ज्ञानमार्गीय वाक्यों को सुनने पर भी उनके मोहित होकर वापस व्रज में लौट जाने की सम्भावना भी न रही। उल्टे हुआ यह कि, वे जो मनोरथ लेकर आयीं थीं, उन मनोरथों से भगवान के वचन विरुद्ध जाते देखकर उन्होंने भगवान के भी वाक्यों का खंडन कर दिया था। इसके आगे चौंवालीसवें अध्याय(सुबोधिन्यनुसार)में भगवान द्वारा व्रज में भेजे गए उद्धवजी ने *"हे गोपियों ! अपने प्रियतम भगवान का सन्देश लाया हूँ, सुनो(श्री0भा-10/47/28)"* इस श्लोकानुसार भगवान का सन्देश सुनाने के बहाने उन गोपिकाओं की तापविकलता आदि दूर करने के लिये उन्हें ज्ञान का उपदेश किया, परन्तु भगवान ने तो गोपिकाओं को अपने स्वरूप का दान दिया हुआ था इसलिये अपने द्वारा दिए उपदेश से किसी भी प्रकार से गोपिकाओं स्पे।गमेतिहा।ग्रीन।न।नेहरा।देखकर।ज।उद्धवजी।ने।गोपिकाओं।स।*"उद्धवजी।ने।व्रज।में।रहकर।गोपियों।की।प्रसन्नता।के।लिए।*

प्रेमविकलता और बहुत सी प्रेमचेष्टाएँ देखीं(श्री0भा-10/47/57)" इस वाक्यानुसार पूर्व में व्रज में आगमन के समय जिस प्रकार का ताप, विकलता आदि देखी थी, वही ताप, विकलता उन्हें ज्ञानोपदेश करने के पश्चात् भी दिखाई दी, उसमें कुछ भी अंतर नहीं आया अतः उन्हें सभी प्रकार से अपना प्रयास निष्फल होता दिखाई दिया एवं उसकी तुलना में उनके तापादि भाव की प्रबलता दिखाई दी और साथ ही साथ उन्हें गोपिकाओं में सबसे अधिक अवर्णनीय उत्तमता और खुद में भगवान के इतने कृपापात्र होते हुए भी निम्नता का आभास हुआ, तब उन्हें लगा कि, वे तो उन गोपिकाओं के साक्षात् चरणारविन्दों में अपना मस्तक टिकाकर उनको नमन करने के भी योग्य नहीं हैं अतः उन्होंने *"मैं गोपिकाओं की चरणधूलि को बारंबार प्रणाम करता हूँ और उसे अपने मस्तक पर चढ़ाता हूँ(श्री0भा-10/47/63)"* इस श्लोकानुसार उनके चरण की एक रेणु को ही नमस्कार किया। इसलिये समझिए कि जहाँ पर भगवान ने उक्त प्रकार से अपने स्वरूप का दान कर दिया हो, वहीं पर यानि उसी भक्त को ज्ञानमार्गीयवाक्यों से मोह/भ्रम नहीं होता, अन्यत्र नहीं- इतने सब प्रमेय/सिद्धान्त का अपने मन में विचार करके ही आचार्यचरणों ने **किमर्थं मोहयिष्यति** यों कहा है ॥20॥

एवं संन्यासनिर्णयमुपपाद्योपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ।।२१।।

यस्माद्भक्तिमार्गीयः संन्यासप्रकार एतादृशोऽतो यदि तादृक्प्रकारवत्त्वं तदैतदुक्तप्रकारेण परित्यागः विरहानुभवैकार्थः परित्यागो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः । अन्यथा एतदुक्तप्रकाराकरणे स्वार्थात् स्वस्यात्मनोर्थात् पुरुषार्थसिद्धेः प्रकाशाद् भ्रश्यते च्युतो भवतीत्यर्थः । इति एवंप्रकारिका मे मदीया मतिः । मदीयत्वकथनेन मतेरनुभवरूपत्वं नेरूपितम् । निश्चिता निःसन्दिग्धेत्यर्थः ।।२१।।

इस प्रकार से भक्तिमार्गानुसारी संन्यासनिर्णय कहकर अब अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण **तस्मात्** इत्यादि शब्दों से इसका समापन कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- चूँकि भक्तिमार्गीयसंन्यास का प्रकार हमने जैसा इस ग्रन्थ में कहा है, ऐसा है, अतः यदि हमारे कहे अनुसार परित्याग करना हो, तो केवल भगवद्विरह का अनुभव करने के लिये ही परित्याग करना चाहिये, यह अर्थ है। आपश्री आगे आज्ञा करते हैं- **अन्यथा** यदि हमारे कहे प्रकारानुसार न करके स्वार्थ-वश अर्थात् पुरुषार्थसिद्धि के हेतु से परित्याग करेंगे तो भ्रष्ट होंगे- यह अर्थ है। आपश्री "इति मे मतिः" इत्यादि शब्दों द्वारा यह कह रहे हैं कि "मेरी इस प्रकार की मति है", यानि "मेरी मति' कहा

होने का अर्थ है- आपश्री ने अपनी मति यानि अपने अनुभव को यहाँ निरूपित किया है। "निश्चिता मतिः" का अर्थ है- आपश्री के मति में कोई भी सन्देह नहीं है॥ 21॥

एवं पूर्वश्लोके मतेर्निश्चितत्वकथनान्निश्चितत्वे हेतुमाहुः इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ।।२२।।

इतीति समाप्तौ, कृष्णप्रसादेन कृष्णः सदानन्दः पुरुषोत्तमः, तस्य प्रसादः प्रसन्नता पूर्णकृपेत्यर्थः, तेन साधनेन कृत्वा वल्लभेन श्रीकृष्णवल्लभेनेत्यर्थः । विनिश्चितं विशेषेण इदमित्थतया निर्णीतम् । निश्चये कृष्णप्रसादस्य साधनत्वोक्त्या तदितरसाधनासाध्यत्वमुक्तम् । निर्णीतमेवाहुः संन्यासवरणं भक्ताविति । भक्तौ भक्तिमार्गे संन्यासवरणं संन्यासाङ्गीकारप्रकारः । अथवा भक्तौ भक्तौ सत्यां अथवा भक्तौ भक्त्यर्थं भजनार्थं इदं संन्यासरूपं भगवतो वरणं वरणमेवेत्यर्थः । विपरीते बाधकमाहुः अन्यथेति । अन्यथा भक्तिव्यतिरेकेण करणे उक्तप्रकाराभावात् पतितो भवेत्, तस्मान्मार्गात् च्युतो भवेदित्यर्थः ।।२२।।

इस प्रकार से पूर्वश्लोक में आपने अपने मति की जो निश्चितता कही है, उस निश्चितता का कारण आपश्री **इति** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। **इति** का अर्थ है- अब ग्रन्थ समाप्त हो रहा है। **कृष्णप्रसादेन** शब्द का अर्थ है- कृष्ण-सदानन्द-पुरुषोत्तम; ऐसे कृष्ण के प्रसाद का अर्थ है- उनकी प्रसन्नता, उनकी पूर्णकृपा। उस कृपारूपी साधन के द्वारा वल्लभ ने यानि श्रीकृष्ण के वल्लभ ने उक्त संन्यास के संदर्भ में अपनी मति कही है। आपश्री ने **विनिश्चितम्** कहा है, जिसका अर्थ है- आपश्री ने इस ग्रन्थ में संन्यास लेने का जो प्रकार बताया है, वही ठीक है। आपश्री ने अपनी मति में जो निश्चितता बतायी है, उसमें कृष्णकृपा को साधन बताया है, जिससे ज्ञात होता है कि, कृष्णकृपा के अतिरिक्त अन्य साधनों द्वारा मति में निश्चितता नहीं आ सकती। इन सभी से आपश्री ने जो निर्णीत किया, वही **संन्यासवरणं भक्तौ** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **भक्तौ संन्यासवरणं** का अर्थ समझें। एक अर्थ हो सकता है- भक्तिमार्ग में संन्यासग्रहण करने का जो प्रकार है, वह आपश्री बता रहे हैं। अथवा, हृदय में भक्ति उत्पन्न होने पर जो संन्यास ग्रहण किया जाता है, वैसा प्रकार आपश्री बता रहे हैं, अथवा ये वाला संन्यास भक्ति/भजन करने के लिये भगवान द्वारा किया जाने वाला भक्त का वरण का ही द्योतक है। इससे विपरीत यदि किसी अन्य प्रयोजन से संन्यास लेंगे, तो उसमें आने वाले बाधक को आपश्री **अन्यथा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य है- भक्ति दृढ़ हुए बिना संन्यासग्रहण करेंगे, तो ऐसा परित्याग इस ग्रन्थ में बताए गए प्रकारानुसार परित्याग न होने के कारण पतित हो जायेंगे यानि इस मार्ग से गिर जायेंगे- यह अर्थ है॥22॥

पितृपादाब्जकृपया विवृतोऽस्ति यथामति । संन्यासनिर्णयस्तेन प्रसीदन्तु मयीश्वराः ।।१।।
भक्तिमार्गे पुमर्था ये सिद्धास्ते सर्वथा मयि । तैरेव च कृतार्थोहमिति मे सुदृढा मतिः ।।२।।
इति श्रीमत्प्रभुचरणैकधनेन श्रीवल्लभेन विरचितं संन्यासनिर्णयविवरणं सम्पूर्णम् ।।

पितृचरणकमलों की कृपा से मैंने संन्यासनिर्णयग्रन्थ की यथामति विवृति की है, जिससे ईश्वर(आचार्यचरण) मुझ पर प्रसन्न हों॥1॥
भक्तिमार्ग के जो पुरुषार्थ होते हैं, वे सभी मुझे सर्वथा सिद्ध हो गए हैं और उन्हीं से मैं कृतार्थ हुआ हूँ- यह मेरी सुदृढ़मति है॥2॥
यह श्रीमत्प्रभुचरणों में एकनिष्ठ होना ही धन जिसका है, ऐसे श्रीवल्लभ द्वारा विरचित संन्यासनिर्णयग्रन्थ का विवरण सम्पूर्ण हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीमद्रघुनाथविरचितविवरणसमेतः ।

विट्ठलेशपदाम्भोजं भक्त्या नत्वा विचार्यते ।
आचार्यप्रोक्तसंन्यासनिर्णये तत्प्रसादतः ।।१।।

अथ कर्ममार्गैकनिष्ठानां भगवत्प्राप्तिलक्षणमुख्यफलासम्बन्धात्क्लेशनैरन्तर्यदर्शनेन जारठेपि तत्क्लेशजनितग्लान्यभावाच्च कदाचित्सङ्गवशाद्भगवदीया अप्येवंविधा मा भूवन्नित्येतदर्थमादावेव सुखोपायं संन्यासं निरूपयन्ति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ।।१।।

शरीरादिवैकल्ये जाते पूर्वदशां स्मृत्वा मया तदानीमेव भगवदर्थं किमिति न यत्तमितीदृशो यस्तापः स पश्चात्तापः । भगवत्तद्भक्तातिरिक्तविषयाणां परितः सर्वतो बाह्याभ्यन्तरराहित्येन यस्त्यागः स परित्याग इत्युच्यते । स पूर्वोक्तपरित्यागो मार्गद्वये कर्तव्यत्वेनोपदिष्ट इत्यर्थः ।।१।।

श्रीविट्ठलेश के चरणकमलों को भक्तिपूर्वक नमन करके।
आचार्यचरणों द्वारा कहे संन्यासनिर्णयग्रन्थ पर उनकी कृपा से विचार कर रहा हूँ ॥1॥

अब जिनकी केवल कर्ममार्ग में ही निष्ठा है, उनको भगवत्प्राप्तिरूप मुख्यफलसम्बन्ध न होता होने के कारण निरन्तर क्लेश होता देखा गया है और वृद्धावस्था में भी उन्हें क्लेशजनित ग्लानि नहीं होती अतः ऐसों के संगदोष के कारण कभी भगवदीय भी भगवत्प्राप्ति से वंचित न रह जाएँ, तदर्थ आचार्यचरण ऐसी नौबत आ पड़े उसके पहले ही सुख का उपायरूप भक्तिमार्गीयसंन्यास का स्वरूप **पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक में **पश्चात्ताप** का अर्थ है- आयु के कारण शरीर आदि विकल हो जाने पर अपनी पहले की युवावस्था का स्मरण करके "जब स्वस्थता/यौवनावस्था थी, तब ही मैंने भगवत्प्राप्ति के लिये प्रयत्न क्यों नहीं किया ?" इस प्रकार का जो ताप है, ऐसे ताप को आचार्यचरण **पश्चात्ताप** शब्द से कह रहे हैं। भगवान एवं उनके भक्तों के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों का चहुँओर से, सभी प्रकार से, बाह्य-आभ्यान्तर सभी पदार्थों से रहित होकर जो त्याग किया जाता है, उस त्याग को आपश्री **परित्याग** शब्द से कह रहे हैं। ऐसा परित्याग ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग दोनों मार्गों में कर्तव्यरूप से करने का उपदेश दिया गया है- यह अर्थ है ॥1॥

तृतीयमार्गस्यापि सत्त्वात्तत्रापि कथं नेत्यत आह कर्ममार्ग इति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ।।२।।

अत्र कर्ममार्गपदेन सकामान्तःकरणस्य संन्यासनिषेधो बोध्यते । अन्यथा प्रवृत्तिमार्गे संन्यासविधायकवाक्याश्रवणादेवाकरणे सिद्धे तन्निषेधो नोपपद्येत । प्राप्तिपूर्वकत्वान्निषेधस्य । युगान्तरे तु शरीरशोषणव्रतादिनाप्यन्तःकरणस्य विषयपराङ्मुखतोपपद्यते । कलौ तु तत्साधनव्रतादिकर्मणां सादुण्याभावाद्यथोक्तफलानर्हत्वेन संन्यासानुपयुक्तत्वात्सुतरां न कार्य इत्यर्थः । तदेवं मार्गद्वय एव कर्तव्यत्वेन प्राप्तौ ज्ञानापेक्षया भक्तेरभ्यर्हितत्वात्प्रथमं भक्तिमार्गे कथं कर्तव्य इत्येतादृशी विचारणा क्रियत इत्यर्थः ।।२।।

तीसरा मार्ग कर्ममार्ग भी है, तथापि आपश्री कर्ममार्ग में परित्याग न करना अग्रिमश्लोक में **कर्ममार्ग** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं।

यहाँ 'कर्ममार्ग' पद के द्वारा आचार्यचरण सकाम अन्तःकरण वालों के लिए संन्यास का निषेध बता रहे हैं। कर्ममार्ग दो प्रकार का होता है- एक सकामकर्ममार्ग और दूसरा निष्कामकर्ममार्ग। यदि यज्ञ आदि या कोई धार्मिककर्म द्वारा स्वर्गादि या पुरुषार्थों की कामना हो, तो ऐसा कर्म सकामकर्म कहा जाता है। और यदि किसी भी फल की कामना न हो और केवल चित्तशुद्धि के लिए ही कर्म किए जाते हों, तो ऐसा कर्म निष्कामकर्म कहा जाता है। आचार्यचरण इनमें से केवल सकामकर्ममार्गियों के लिए ही संन्यास का निषेध कह रहे हैं।

प्रवृत्तिमार्ग/कर्ममार्ग में तो संन्यास का विधान करने वाले वाक्य ही उपलब्ध नहीं होते अतः संन्यास न लेने की बात तो अपने आप ही सिद्ध हो जाती है, सो उसका निषेध कहने के लिये अवकाश ही कहाँ है ! क्योंकि जब कोई वस्तु प्राप्त होती होगी, तभी तो उसका निषेध कहा जायेगा। अन्य युगों में तो व्रत इत्यादि करने के द्वारा शरीर का शोषण करके अपने अन्तःकरण को सांसारिक विषयों से मोड़ लिया जाता था। किन्तु कलिकाल में तो कर्ममार्ग में बताए गए साधन एवं व्रत इत्यादि उसमें कहे अनुसार अंगसहित न हो पाने के कारण जसी फल मलिना चौहिए, वस प्रकार का फल प्रोप्त करिने का यार्यिंता नहीं आता इस करिण कालेकार्ल म र्कममार्गायसेन्यास अनुपयुक्त है, अपितु नहीं ही लेना चाहिए- यह अर्थ है। इसलिए कर्ममार्ग में तो खैर संन्यास लेना प्राप्त ही नहीं है किन्तु ज्ञानमार्ग भक्तिमार्ग दोनों में कर्तव्यरूप से करना प्राप्त है और चूँकि हमारे लिये तो ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्गसम्बन्धी चर्चा अभीष्ट है आपश्री प्रथमतया भक्तिमार्ग में किस प्रकार से संन्यास ग्रहण करना चाहिए, इसका विचार कर रहे हैं ॥2॥

श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थं कर्तव्यश्चेत्स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ।।३।।

श्रवणादीति। वैय्[1]याभावपूर्वकं भक्तिसाधनश्रवणादिषु प्रवृत्त्यर्थं संन्यासश्चेत्कर्तव्यस्तदा स एवंविधः इह भक्तिमार्गे स्वीक्रियत इत्यर्थः । ननु श्रवणादिसाधनानां भक्त्यनुकूलत्वाद्भक्तिसाधनश्रवणादिसम्पत्त्यर्थं संन्यासः कुतो नेत्यत[2] सहायसङ्गसाध्यत्वादिति । भगवत्तत्त्वं जिज्ञासोरेकाकिनः श्रवणादेः सहायस्य सङ्गः सम्पत्तिस्तत्साध्यत्वात् । श्रावयितारं विना श्रवणं सम्भवति । नच श्रुतस्यापि ग्रन्थपर्यालोचनगुरूपसत्त्यादिना विना स्थैर्यम्, अतस्तदंश त्यक्तस्यापि पुनः स्वीकारे वान्ताशित्वमेव । इदमेकं बाधकम् । अपरमाह साधनानामिति । अल्पकालपर्य श्रवणादिसाधनमादरणीयमित्यपि नास्ति, यतो यावज्जीवमपक्वकषायैर्योगिभिः साधनानि रक्ष्यन्त एव । इदं द्वितीयम् ।।३

अब **श्रवणादि** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- व्यग्रता/व्यस्तता से रहित होकर शांतिपूर्वक भक्ति साधन श्रवणकीर्तन आदि में प्रवृत्त हो सकें- यदि ऐसे उद्देश्य से कोई संन्यास लेना चाहता हो, तो ऐसा संन्यास इस भक्तिमा स्वीकृत नहीं है- यह अर्थ है। किन्तु इसमें एक शंका यह होती है कि, श्रवणकीर्तन इत्यादि साधन तो भक्ति प्रवृद्ध करने में अनु ही होते हैं, फिर भक्ति के साधन कहे जाने वाले श्रवणकीर्तन को सिद्ध करने के लिये यदि संन्यास लिया जाय तो क्यों मना कि जा रहा है ? तो आचार्यचरण **सहायसंगसाध्यत्वात्** इत्यादि शब्दों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इससे आपश्री को यह बत है कि, भगवत्तत्व का जिज्ञासु तो एकाकी/अकेला रहने वाला होता है, जबकि श्रवणकीर्तन इत्यादि तो श्रवणकीर्तन में सह होने वालों का संग मिलने से ही सिद्ध हो सकते हैं; श्रवण कराने वाले के बिना तो श्रवण प्राप्त होना संभव ही नहीं है !! और त तत्त्व का श्रवण किया है, वह गुरु के संग बैठकर ग्रन्थों का अवलोकन किए बिना तो हृदय में टिकेगा भी नहीं अतः जब एक उसने सभी का त्याग ही कर दिया है, तो फिर उन सभी को पुनः स्वीकारना तो वमन किए हुए को पुनः खा लेने जैसा निन्द कार्य ही है। यह एक बाधक है, अब दूसरे बाधक को आपश्री **साधनानाम् च रक्षणात्** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। इसका ता यह है कि, मात्र अल्पकालपर्यन्त ही श्रवणादि साधन करने हों और तत्पश्चात् छोड़ देने हों ऐसा भी नहीं है क्योंकि अपरिपक्व वाले एवं जिनके पाप अभी पूरी तरह से मिटे नहीं हैं, ऐसे योगी तो जीवनपर्यन्त इन साधनों का निर्वाह करते ही हैं या करना पड़ता ही है। यह आपश्री ने दूसरा बाधक कहा। यानि ऊपर बताए योगी को तो निरन्तर श्रवणादि साधन करते ही पड़ेंगे और जब वह यही करता रहेगा तो संन्यास/परित्याग के लिए अवकाश नहीं रहेगा- यह अर्थ है ॥3॥

अभिमानादिति ।

अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ।।४।।

विविदिषादशायां सर्वथा कामक्रोधाद्यनपगमाद् ग्रन्थादिपक्षपातेन प्रतिवादिनिराकरणाय यत्नोपि सम्भाव तादृशश्चाभिमानकृतः संन्यासे कृतेऽल्पोपि नोचित इत्यर्थः । इदं तृतीयम् । नियोगादिति । गुर्वाज्ञा नियोगः । तदव प्रत्यवायः, तत्करणे व्यासङ्गः, तथा सति नेष्टसिद्धिरिति भावः । इदं चतुर्थम् । तद्धर्मैरिति । संन्यासे सर्वत्यागस्य मुख्यत श्रवणादीनां ग्रन्थादिस्वीकारसाध्यत्वात् परस्परं धर्मैर्विरोधाद्भक्तिमार्गेन्यशेषत्वेन संन्यासो न प्रशस्त इत्यर्थः ।।४।।

---

१. वैराग्यभावपूर्वकमिति पाठः । २. कर्तव्यत्वेन प्राप्तौ ज्ञानापेक्षया भक्तिमार्गे न स्वीक्रियत इति पाठः ।

अब **अभिमानात्** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं।

ज्ञानप्राप्त करने के लिये गए संन्यास में चूँकि अभी कर्ता के काम-क्रोध इत्यादि दूर नहीं हुए होते हैं, इसलिए ज्ञानप्राप्ति हेतु जब ग्रन्थ इत्यादि का अध्ययन करेंगे तो अपने मार्गानुसार उनकी व्याख्या करने के कारण उसके सामने प्रतिवादी भी आ खड़े हो जायेंगे, जिनके प्रश्नों का निराकरण करने का यत्न भी उसे करना पड़ सकता है; और यत्न करने में उसे अभिमान पैदा होगा कि हमने इतना अध्ययन किया, ऐसा शास्त्रार्थ किया, इनको पराजित किया, अपने मत का स्थापन किया इत्यादि इत्यादि, तो संन्यास लेने के पश्चात् अल्प मात्रा में भी ऐसा अभिमान करना उचित नहीं है- यह अर्थ है। यह तीसरा बाधक है। अब चौथे बाधक को बताने वाले **नियोगात्** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। **नियोग** का अर्थ है- गुरु-आज्ञा; यदि गुरु-आज्ञा का पालन न करें, तो दोष लगता है और यदि करोगे तो फिर से उन्हीं व्यासंग में फँसोगे जिनका त्याग कर आए हो; अतः जिस कारण से संन्यास लिया है, वह इष्टसिद्धि भी नहीं होगी- यह भाव है। यह चौथा बाधक है। अब **तद्धर्म** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, श्रवणकीर्तन आदि सिद्ध करने के एवं संन्यास ग्रहण करने के दोनों के धर्म परस्पर एक-दूसरे से विरुद्ध हैं। संन्यास में सर्वत्याग की मुख्यता है और श्रवणकीर्तन व्यवस्थितरूप से करने के लिए ग्रन्थ आदि की आवश्यकता होती है अतः परस्पर एकदूसरे के धर्मों से विरुद्ध होने के कारण भक्तिमार्ग में श्रवणकीर्तन इत्यादि अन्य वस्तुओं को सिद्ध करने के उद्देश्य से(अन्यशेषत्वेन)संन्यास लेना प्रशस्त(प्रशंसनीय) नहीं है- यह अर्थ है॥4॥

भगवद्धर्माचरणे अनर्थाकरगृहादीनां बाधकत्वात् प्रतिबन्धापगमाय संन्यासो यदि कर्तव्यस्तदापि बाधकत्वमाह अग्रेपीति ।

अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्स कामतः ॥५॥

गृहादिसङ्गभावाय संन्यासे कृतेपि तदनन्तरं तादृशैः पूर्वोक्तसहायादिभिरेव सङ्गो भवति । अन्तःकरणस्य सर्वांशे भगवत्परत्वाभावात् । नान्यथा । (न) भगवदेकपरतेत्यर्थः । ननु भगवदर्थत्वेनैवमपि क्रियमाणे फलं भविष्यत्येवेति चेत्तत्राह स्वयं चेति । भक्तिमार्गविरुद्धमिदमिति ज्ञात्वापि यः संन्यसेत्, स विषयवासनावलितान्तःकरणत्वेन भगवद्रसाननुभवात्यक्तविषयेष्वेवाभिनिविशेत् । स कामतः कामित्वाद्विषयाक्रान्तः पाषण्डी च भवेत् । धर्मध्वजित्वात् । दृढतरवैराग्याभावे तादृशधर्माचरणं निष्फलमेव । तदुक्तं भगवता 'दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् । स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्' । अन्यदपि, 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यत' इति ॥५॥

अब चूँकि भगवद्धर्माचरण में गृहपरिवार तो अनर्थों का भंडार होता है और यदि इन प्रतिबन्धकों को दूर करने के लिए कोई संन्यास लेता हो, तो आचार्यचरण **अग्रेपि** इत्यादि शब्दों से उसे भी बाधक बता रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- गृहपरिवार का संग छोड़ने के लिए यदि संन्यास लिया भी जाता है, तो संन्यास लेने के पश्चात् भी **तादृशैः** यानि पूर्व के श्लोक में बताए उन्हीं सहायक संगी-साथियों का संग मिलेगा, जिस प्रकार के लोगों से छुटकारा पाने के लिए संन्यास लिया था, और ऐसा इसलिए क्योंकि अभी उसका अन्तःकरण सर्वांश में भगवत्पर नहीं बना है, यदि वह सर्वांश में भगवत्पर हो गया होता तो उसे किसी संगी-साथियों की आवश्यकता ही न रहती, यह अर्थ है। **नान्यथा** अर्थात् अभी उसकी भगवदेकपरता सिद्ध नहीं हुई है, इसीलिए अन्यों के संग की आवश्यकता पड़ी। अब कोई यहाँ ऐसी शंका करता है कि, यदि भगवत्प्राप्ति के लिए संन्यास लिया हो, तो उक्त प्रकार से भी संन्यास लेने पर फल अवश्य ही प्राप्त होगा- तो आचार्यचरण इसका उत्तर **स्वयं च** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि- "इस प्रकार से संन्यास लेना भक्तिमार्ग के विरुद्ध है" इस बात को जानते हुए भी जो उक्त प्रकार से संन्यास लेता है, तो चूँकि अभी उसका अन्तःकरण विषयवासनाओं से लिप्त है अतः उसे भगवद्रस का अनुभव नहीं होगा, जिसके कारण वह जिन विषयवासनाओं को छोड़ आया है, उन्हीं में उसका मन डूब जायेगा । तब **स कामतः** यानि तब वह सांसारिक कामनाएँ रखता होने के कारण विषयों से आक्रान्त और पाखण्डी हो जायेगा, क्योंकि ऐसा संन्यासी धर्मध्वजी कहलाता है। जब तक दृढ़तर वैराग्य न हुआ हो, तब तक संन्यासधर्म का आचरण निष्फल ही जाता है। यही बात भगवान ने *"जो मनुष्य कर्मों को दुःखरूप समझ कर त्याग देता है, वह राजसत्याग करके भी त्याग के फल को प्राप्त नहीं करता(भ0गी-18/8)"* इत्यादि वाक्यों में कही है। और इसके अतिरिक्त *"जो मूढ बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोककर मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात दम्भी कहा जाता है(भ0गी-3/6)"* इत्यादि वाक्य भी प्राप्त होते हैं ॥5॥

---

१. **अनर्थाकरणेति पाठः ।**

नन्वेतादृशानामपि कदाचिन्महता कालेन फलं भविष्यत्येवेति चेत्तत्राह विषयाक्रान्तेति ।

विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ।।६।।

विषयाभिनिविष्टान्तःकरणानां हरेरावेशः चित्ते हरिस्वरूपस्थितिर्न भवतीति शेषः । तच्च[1] सर्वदा, न कालनैयत्येन । अत इति । यतः पूर्वोक्तानां दोषाणां सम्भवः अतः कारणादत्र अस्मिन्विचारे, भक्तौ भक्तिमार्गे, साधन इति निमित्तसप्तमी । तेन साधनसम्पत्त्यर्थं यः परित्यागः स सुखं नावहति, न करोतीत्यर्थः । न केवलं सुखाभावः, किन्तु दुःखमपि इति भावः ।।६।।

किन्तु इस प्रकार लिया गया संन्यास भी दीर्घकाल में ही सही परन्तु कभी तो फलीभूत होगा ही- यदि कोई ऐसा सोचता हो तो आचार्यचरण इसका निराकरण अग्रिमश्लोक में **विषयाक्रान्त** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- सांसारिक विषयों में अभिनिविष्ट हुए अन्तःकरण में हरि का आवेश यानि उनके चित्त में हरि का स्वरूप कभी टिक नहीं पाता। तिस पर भी आपश्री कह रहे हैं **नावेशः सर्वदा** यानि किसी भी काल में नहीं टिक पायेगा। **अतः** यानि चूँकि पूर्व में कहे सभी दोषों की संभावना लगातर बनी रहती है **अतः** इस कारण आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि- इस साधनरूपभक्तिमार्ग में संन्यास लेकर परित्याग करना सुखदायी नहीं है। **साधने** शब्द में निमित्तसप्तमी है, जिसका अर्थ है- भक्ति के साधन सिद्ध करने के निमित्त यदि संन्यास लेते हैं अर्थात् भक्ति के साधनों को सिद्ध करने के हेतु से यदि संन्यास लिया जाता है तो वह सुखदायी नहीं होता। सुखदायी नहीं होता केवल इतना ही नहीं, किन्तु दुःखदायी भी होता है, यह भाव है ॥6॥

तर्हि किं लिप्सुः प्रवर्तेतेत्यपेक्षायामाह विरहेति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ।।७।।

'तन्मनस्कास्तदालापा' इत्यादिषु प्रसिद्धो यो व्रजसुन्दरीणां श्रीकृष्णाङ्गसङ्गवियोगकालीनो भावविशेषः कश्चनानिर्वचनीयः अनुभवैकवेद्यो यः सोत्र विरहपदेनोच्यते, तस्यानुभवः साक्षात्कारः, तदर्थं तु संन्यासो भक्तिमार्गीयः प्रशस्त इत्यर्थः । उक्तमपि पुनः शिक्षार्थमाहुः स्वीयेति । स्वस्य बन्धो बन्धनहेतुर्गृहादिः, तन्मात्रैकनिवृत्त्यर्थं वेत्संन्यासः, तदा सोत्र भक्तिमार्गे बन्ध एव ज्ञेयः, तस्य स्वमार्गीययथोक्तफलासम्पादकत्वात् । नान्यथा । बन्धातिरिक्तफलासम्पादक इत्यर्थः । अत्र चेदिति पदमध्याहार्यम् ।।७।।

तो फिर प्रश्न यह उठता है कि, जब कलिकाल में संन्यासग्रहण करने पर कुछ प्राप्त ही नहीं होना है, तो फिर कोई उसमें प्रवृत्त ही क्यों होगा ? यदि ऐसी अपेक्षा होती हो, तो आचार्यचरण इसके विषय में **विरह** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इस श्लोक में आपश्री का 'विरह' शब्द से तात्पर्य है- श्रीभागवत के *"गोपियों का मन कृष्णमय हो गया था। उनकी वाणी से कृष्णचर्चा के अतिरिक्त कोई बात ही नहीं निकलती थी। उनका रोम-रोम, उनकी आत्मा श्रीकृष्णमय हो रही थी(श्री0भा-10/30/44)"* इत्यादि श्लोकों में प्रसिद्ध व्रजसुन्दरियों को श्रीकृष्णसंग से वियोग के समय में होने वाला जो विशेष भाव है, जो केसी भी प्रकार से शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता और जो केवल अनुभव के द्वारा ही जाना जा सकता है, उस भाव को आपश्री यहाँ 'विरह' पद के द्वारा कह रहे हैं। उस 'विरह' का अनुभव करने का अर्थ है- ऐसे विरह से साक्षात्कार होना; यानि आपश्री आज्ञा करते हैं-उस विरह का अनुभव/साक्षात्कार करने के लिए भक्तिमार्गीयसंन्यास ग्रहण करना प्रशंसनीय है- यह अर्थ है। आचार्यचरणों ने जिस संन्यास के विषय में बताया, उसके विषय में शिक्षा देने के लिए **स्वीय** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **स्वीयबन्धन** का अर्थ है- खुद के बन्धन के मूलकारण गृहपरिवारजन आदि; यदि केवल स्वीयजनों के बन्धन की निवृत्ति करने के लिए ही संन्यास लिया जाय, तो वैसा संन्यास भक्तिमार्ग में बन्धनरूप ही जानना चाहिए(यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि, मूलग्रन्थ की पंक्तियाँ व्यवस्थित प्राप्त नहीं होती । व्याख्या को देखते हुए यदि मूलपाठ में **स्वीयबन्धनिवृत्यर्थं वेषः** के स्थान पर **स्वीयबन्धनिवृत्यर्थं बन्धः** पाठ होता तब तो श्रीरघुनाथचरणों की पंक्ति का अर्थ करने में कोई कठिनाई न हुई होती। अतः पंक्तियाँ जिस प्रकार से प्राप्त हुई हैं, वैसा अनुवाद कर दिया है-अनुवादक)।

---

[1] . तत्र न सर्वदेति पाठः ।

नान्यथा का अर्थ है- ऐसा संन्यास बन्धन के अतिरिक्त अन्य किसी फल को प्राप्त नहीं कराता। इस पंक्ति में **चेत्**(यदि) पद को जोड़कर अर्थ करना चाहिए अर्थात् "**यदि** स्वीयजनों के बन्धन की निवृत्ति करने के लिए संन्यासग्रहण करते हैं, तो बन्धन बना ही रहेगा- यह अर्थ है॥7॥

न'न्वाचार्यवान् पुरुषो वेदे'त्यादिवाक्यैर्गुर्वनुग्रहलभ्यत्वं संन्यासादेः श्रूयते, तदुक्तसाधनाचरणं च । तच्च सर्वं प्रकृते कथं सेत्स्यत इत्यत आह कौण्डिन्यगोपिका इति ।

कौण्डिन्यगोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥८॥

कौण्डिन्यनामा यो महर्षिः । याश्च रासमण्डलान्तर्वर्तिन्यो गोपिकाः । कौण्डिन्यश्च गोपिकाश्चेति द्वन्द्वः । विरहानुभवार्थिसंन्यासे गुरव उपदेष्टार एताः प्रोक्ताः सम्यगुक्ताः । नहि भक्तिमार्गे एतदतिरिक्तस्यान्यस्यैवंविधत्वं सम्भवति । यद्यपि तासां साक्षादुपदेष्टृत्वं न दृश्यते, तथापि तदाचरणं श्रुत्वा दृष्ट्वा वा यः प्रवर्तते, तं प्रति तादृशालौकिकमार्गप्रदर्शकत्वात्तासामेव गुरुत्वं युक्तम् । श्रूयते च भविष्योत्तरे अनन्तव्रतकथायां कौण्डिन्यस्य सर्वत्यागपूर्वकं भगवदेकपरतया स्थितस्य शीघ्रमेव तत्प्राप्तिः । तद्यथा 'ततो जगाम कौण्डिन्यो निर्वेदाद्वनगह्वरम् । अनन्तं मनसा ध्यायन् कदा द्रक्ष्यामि केशवम् । व्रतं निरशनं कृत्वा ब्रह्मचर्यं जपन् हरिम् । विह्वलः प्रययौ सोप्यरण्यं जनविवर्जित'मित्यादि ।

चलिए, भक्तिमार्गीयसंन्यास ग्रहण तो करें परन्तु *"आचार्य ही भगवत्स्वरूप को जानते हैं(छान्दो-6/14/2)"* इत्यादि वाक्यानुसार संन्यास इत्यादि प्रक्रियाएँ तो केवल गुरु के अनुग्रह से ही सिद्ध हो पाती हैं एवं उनके द्वारा निर्दिष्ट साधनों के आचरण द्वारा; परन्तु ये सभी कुछ इस भक्तिमार्ग में कैसे शक्य हो पायेगा ? तो आचार्यचरण **कौण्डिन्यगोपिकाः** इत्यादि शब्दों से इस भक्तिमार्ग के गुरु कौन हैं एवं साधन क्या हैं, यह बता रहे हैं।

कौण्डिन्य से आपश्री का तात्पर्य है- 'कौण्डिन्य' नाम के महर्षि एवं **'गोपिकाः'** शब्द से आपश्री का तात्पर्य है- भगवान के रासमण्डल के अन्तर्गत आने वाली गोपिकाएँ। **कौण्डिन्यगोपिकाः** द्वन्द्वसमास है, जिसका अर्थ होगा- 'कौण्डिन्य' एवं 'गोपिकाएँ' ये दो इस भक्तिमार्ग के गुरु हैं। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, विरह का अनुभव करने हेतु लिए जाने वाले संन्यास में गुरु यानि उपदेशकर्ता के रूप में ये गोपिकाएँ कही गयीं हैं। इस भक्तिमार्ग(शुद्धपुष्टिमार्ग) में इन गोपिकाओं के अतिरिक्त अन्य कोई भी इनके जैसा नहीं हो सकता। यद्यपि गोपिकाओं ने साक्षात् एक गुरु के रूप में कभी भी उपदेश नहीं किया है, तथापि इनके आचरण के विषय में सुनकर या देखकर जो इनकी भाँति विरह का अनुभव करने के लिए संन्यासग्रहण करता है, तो इस दृष्टिकोण से उसके अलौकिकमार्ग की पथप्रदर्शिका होने के नाते गोपिकाओं को ही गुरु कहा जाना ठीक ही है। और कौण्डिन्यऋषि के लिए भविष्योत्तरपुराण में अनन्तभगवान के व्रतकथा के प्रसंग में उल्लेख आता है कि, इन्होंने सर्वत्याग करके केवल भगवत्परायण रहते हुए शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति कर ली थी। जिसका *"ततो जगाम कौण्डिन्यो...जनविवर्जितम्"* इत्यादि श्लोकों में वर्णन भी प्राप्त होता है।

व्रजसुन्दरीणां तु 'गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै'रित्यादिषु स्फुटमेवालौकिकतथाविधत्वम् । यद्यप्येतासां साम्यं कर्तुं मनसाप्यशक्यम्, तथापि त्यागस्येतोधिकस्य सर्वथा अभाव एवान्यत्रेति ज्ञापनार्थम् । एतादृशसर्वात्मभावपूर्वकान्यविषयपरित्यागे झटिति भगवत्प्राप्तिरिति भावः । साधनं च प्रोक्तमित्यर्थः । किं तत्साधनमित्यपेक्षायामाह । तनोति स्वरूपानन्दानुभवं विस्तारयतीति तत् । तादृशो यो यस्य भक्तस्य यादृशी भावना तया सिद्धः सम्पन्नो भावविशेषः स एव साधनस्थानीयः । एतदतिरिक्तस्यान्यस्य यागादेः साधनत्वं नेष्यत इत्यर्थः । यद्वा तदुरुत्वेनोक्तं यत्तत्साधनम् ॥८॥

व्रजसुन्दरियों के विषय में तो *"अपने प्रियतम श्रीकृष्ण की गोपियाँ उनके समान ही बन गयीं। उनके शरीर में भी श्रीकृष्ण की ही गति-मति, वही भाव-भंगिमा उतर आयी(श्री0भा-10/30/2)"* इत्यादि श्लोकों में इनका अलौकिक सर्वत्याग, भगवदेकपरता, भगवत्प्राप्ति इत्यादि बातें स्पष्टतया प्राप्त होती हैं। यद्यपि इन गोपिकाओं की बराबरी करनी क्रिया से तो दूर परन्तु मन से भी नहीं की जा सकती, तथापि इनसे बढ़कर त्याग अन्य किसी ने भी नहीं किया है, इसलिए आपश्री ने इनको गुरु बताया है। तात्पर्य यह कि, यदि इनकी भाँति भगवान के प्रति सर्वात्मभाव रखते हुए भगवदतिरिक्त अन्यविषयों का परित्याग करेंगे, तो झट से भगवत्प्राप्ति हो जायेगी- यह भाव है। **साधनं च** का अर्थ है- कौण्डिन्यऋषि और गोपिकाएँ गुरु तो कहे ही गए हैं, साथ ही इन्होंने जो किया, वही भक्तिमार्गीयपरित्याग करने के साधन भी कहे गए हैं। इसका अर्थ यह कि, भगवत्स्वरूपानन्द के अनुभव को बढ़ाने

वाला भाव जो कि भगवद्भावना करने से उत्पन्न होता है, वही भाव इस भक्तिमार्गीयपरित्याग करने में साधन होता है ; इसके अतिरिक्त यज्ञ इत्यादि अन्य साधन अपेक्षित नहीं है- यह अर्थ है। अथवा तो यों अर्थ कर लें कि, इस मार्ग की गुरु होने के नाते गोपिकाओं ने जो कहा है, वही साधन है ॥8॥

एवंविधसंन्यासवतः प्रवृत्तिवैलक्षण्यमन्यापेक्षया ज्ञानादिभिरप्रतीकार्यत्वं चाहुः विकलत्वमिति ।

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥९॥

उद्देश्यवस्त्वप्राप्तदशायां चिन्ताबाहुल्यादुद्विकलत्वं विक्षिप्तचित्तत्वम् । तथवास्वास्थ्यं शरीर तदलोभ वर्वण्यपाण्डुरत्वादि । एतद्द्वयमपि प्रकृतिः स्वभावान्तःपात्येव, नौपाधिकम् । तादृशावस्थस्य उपायान्तराप्रतीकार्यदुःखत्वमाह प्राकृतमिति ।

अब ऐसे प्रकार से संन्यास लेने वालों की प्रवृत्ति अन्यों की अपेक्षा विलक्षण है एवं ज्ञान आदि के द्वारा भी उनको विचलित नहीं किया जा सकता- यह बात आपश्री **विकलत्वं** इत्यादि शब्दों से अग्रिमश्लोक में कह रहे हैं।

वैसे तो जिस वस्तु की कामना की हो वह न मिलने के कारण अधिक चिन्ता करने से मन में विकलता होती है यानि चित्त विक्षिप्त होता है; ठीक उसी प्रकार **अस्वास्थ्यं** यानि शरीर को मनोवांछित प्राप्त न होने से शरीर फीका पड़ जाता है, पीला पड़ जाता है; यह दोनों लक्षण तो भगवद्विरह होने पर उस भगवद्विरहभाव की प्रकृति ही है यानि भगवद्विरह होने पर जीव में ये लक्षण स्वाभाविकरूप से ही अपने आप प्रकट हो जाते हैं, किसी रोग-उपाधि के कारण नहीं। ऐसी अवस्था में पहुँचने वाले जीव के दुःख को किसी अन्यप्रकार से दूर करना संभव नहीं होता- यह आपश्री **प्राकृतं न हि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

भगवल्लीलौपयिकस्वरूपज्ञानापेक्षयान्यद्यच्छास्त्रजन्यमल्पसारं ज्ञानं तदत्र प्राकृतमुच्यते । गुणाश्चाणिमाद्यैश्वर्यादियोगसिद्धयः । तदिदं सर्वमप्येवं वर्तमानस्यैतादृशावस्थस्य न हि बाधकाः, न समीहितान्तरायहेतवो भवन्तीत्यर्थः । एवंदशापन्नस्य शास्त्रीयं माहात्म्यादिबोधकं ज्ञानं न तच्छोकनिवर्तकम् । यत्र सर्वसम्मतस्वास्थ्यहेतुज्ञानस्याप्यप्रयोजकत्वम्, तत्र किं वाच्यमैश्वर्यादीनामिति भावः । प्रकृतेरिति पाठे वैकल्यं विपर्यासः । अन्यत् समानम् ॥९॥

यहाँ श्रीरघुनाथचरणों ने मूलश्लोक का अर्थ थोड़ा भिन्न प्रकार से किया है। इनके अनुसार मूलश्लोक को यों पढ़ना चाहिए।

विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः,

('विकलता' और 'स्वस्थता' विप्रयोगभाव की प्रकृति ही होती है, यानि कि उसका मूलस्वभाव ही होता है)

प्राकृतं ज्ञानं गुणाश्च न हि तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः॥

(और 'प्राकृतज्ञान' एवं 'गुण' ऐसे विप्रयोगी के भाव में बाधक नहीं बन सकते)

ऊपर किए अर्थ का अनुसन्धान रखते हुए आगे ये पढ़ें कि 'प्राकृतज्ञान' एवं 'गुणों' से श्रीरघुनाथचरणों का तात्पर्य क्या है। इन सभी को मिलाकर अर्थ करेंगे तो आपश्री का अभिप्राय व्यवस्थित समझ में आयेगा।

इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि भगवल्लीलौपयिक स्वरूपज्ञान की अपेक्षा अन्य शास्त्रों द्वारा अर्जित किए गए अन्य अल्पसाररूप ज्ञान को आपश्री 'प्राकृतज्ञान' कह रहे हैं; ऐसा 'प्राकृतज्ञान' एवं 'गुण' यानि कि अणिमादि ऐश्वर्य आदि योगसिद्धियाँ इत्यादि सभी कुछ उक्त प्रकार के भक्तिमार्गीय विप्रयोगभावावस्था में पहुँचे हुए जीव के मार्ग में बाधारूप नहीं बन सकते, यानि वो इनकी ओर आकर्षित नहीं होता। उसे जिस वस्तु को प्राप्त करना है, उसमें ये सभी विघ्नरूप नहीं बन सकते, उसका मार्ग रोक नहीं सकते- यह अर्थ है। इस प्रकार की उच्चविरहदशा में पहुँचे व्यक्ति को शास्त्रीयज्ञान, भगवान के माहात्म्य का बोध कराने वाला ज्ञान, उसके शोक (भगवद्विरह के दुःख) का निवारण नहीं कर सकता। अब जहाँ ज्ञान जो कि स्वास्थ्य दिलाने के लिए सर्वसम्मत है, वही अप्रयोजक सिद्ध हो रहा हो, फिर वहाँ अणिमा आदि, ऐश्वर्य आदि के लिये तो क्या कहें ! वे तो व्यर्थ सिद्ध होने ही हैं- यह भाव है। यदि मूलश्लोक की पहली पंक्ति में **प्रकृतिः** के स्थान पर **प्रकृतेः** पाठ मानें यानि "विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतेः प्राकृतं न हि" यों मानें तो इसका अर्थ होगा- विप्रयोग की ऐसी उच्चदशा आने पर उसकी प्रकृति विकल (विपरीत) बन जाती हैं एवं वह अस्वस्थता का अनुभव करने लगता है, तात्पर्य यह कि ऐसे जीव की प्रकृति उसकी स्वाभाविकप्रकृति से विपरीत बन जाती है और जीव फिर असामान्य व्यवहार करने लगता है-यह अर्थ है। इसके अतिरिक्त अन्य पदों का अर्थ तो सामान्य ही है ॥9॥

ज्ञानमार्गीयसंन्यासापेक्षया यथा भक्तिमार्गीयस्य संन्यासस्योत्तमसाधनत्वं तथैव तत्फलस्यापीत्याहुः सत्यलोक इति ।

सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषतः ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ।।१०।।

सत्यलोको ब्रह्मलोकः । तत्र ज्ञानात् संन्यासाश्रमरहितकेवलज्ञानादपि स्थितिर्भवति। संन्यासेन सहिता तु विशेषतः पुनरावृत्तिरहितेत्यर्थः । तथा च नारायणे श्रूयते 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्व' इति । भक्तिमार्गीयमाह भावनेति । यत्र यस्मिन् फले भावनैव साधनं भवति तत्र फलमपि तथा भावनानुरूपमेव भवेत् । यथा ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनानां फल्गुत्वादल्पफलसम्पादकत्वम्, न पूर्णस्य, एवं भावनानामनन्तत्वात् फलस्याप्यानन्त्यमिति भावः । अत एवाचार्यैरुक्तम् 'प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् । पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्ममे'ति । भगवच्चिन्तनपरस्य ब्रह्मलोको नानुरूपं फलमिति तु श्रीविष्णुपुराणे श्रूयते । तद्यथा, 'यस्मिन् न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोपि यच्चिन्तने विघ्नो यत्र निवेशितात्ममनसो ब्राह्मोपि लोकोऽल्पकः । मुक्तिं चेतसि यः स्थितोऽमलधियां पुंसां ददात्यव्ययः किं चित्रं यदघं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्तित' इति ।।१०।।

जिस प्रकार से ज्ञानमार्गीयसंन्यास की तुलना में भक्तिमार्गीयसंन्यास के साधन उत्तम हैं, ठीक उसी प्रकार भक्तिमार्गीयसंन्यास से प्राप्त होने वाला फल भी उसकी तुलना में उत्तम होता है- यह आपश्री अग्रिमश्लोक में **सत्यलोक** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं।

सत्यलोक का अर्थ है- ब्रह्मलोक। सत्यलोक/ब्रह्मलोक में तो **ज्ञानात्** यानि संन्यासाश्रमरहित केवल ज्ञान प्राप्त कर लेने से भी स्थान प्राप्त हो जाता है। और संन्याससहित ज्ञान द्वारा तो **विशेषतः** यानि विशेषरूप से स्थान प्राप्त होगा यानि फिर वहाँ से लौट कर वापस भूतल पर आना नहीं पड़ेगा- यह अर्थ है। यह बात नारायणोपनिषद् में *"जिन संन्यासियों ने वेद का सार भलीभाँति समझ लिया है और शुद्धसत्त्व हो गए हैं और जो सांसारिक विषयों से पूर्णरूप से मुक्त हो गये हैं, वे अपने जीवन के अन्त में मुक्त होकर ब्रह्मलोक में प्रवेश पाते हैं(महा0नारा0उप-9/6)"* इत्यादि मन्त्रों में कही गयी है। इसकी तुलना में भक्तिमार्गीयफल को आपश्री **भावना** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। भक्तिमार्गीयफल के विषय में बताते हुए आपश्री कहते हैं- जिस फल को प्राप्त करने में मात्र भावना ही साधन हो, वहाँ फल भी भावना के अनुरूप ही प्राप्त होता है। जिस प्रकार ब्रह्मलोकप्राप्ति के साधन तुच्छ होते हैं अतः वे अल्पफल ही देते हैं, पूर्णफल नहीं ; ठीक उसी प्रकार भगवद्भावना तो अनन्त होती है अतः भगवद्भावना से प्राप्त होने वाला फल भी अनन्त ही होता है- यह भाव है। अतएव आचार्यचरणों ने *"समस्त देवता प्राकृत हैं और अक्षरब्रह्म भी गणितानन्द है। केवल श्रीकृष्ण ही पूर्ण हैं(कृष्णा/8)"* यह कहा है। भगवच्चिन्तन करने वाले के लिए ब्रह्मलोक का फल उसके अनुरूप फल ही नहीं है, उसके अनुरूप तो भगवत्प्राप्तिरूप फल है- यह बात तो *"श्रीकृष्ण में चित्त लगाने वाला कभी नरक में नहीं जा सकता। उनमें चित्त लगने से ब्रह्मलोक भी तुच्छ लगने लगता है(वि0पु0-6/8/57)"* इस श्लोक द्वारा विष्णुपुराण में भी कही गयी है ॥10॥

तादृशः इति ।

तादृशः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्च प्रकटः स्वात्मा वह्निवत् प्रविशेद्यदि ।।११।।
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।

क्विन्प्रत्ययान्तस्य बहुवचनम् तादृश इति ज्ञेयम् । ये केवलज्ञानमार्गीयास्ते सत्यलोकादावेव तिष्ठन्ति, नतु पुरुषोत्तमे, भक्तिमार्गानन्तःपातित्वात् । आदिपदेन संकर्षणादिस्थानं ज्ञेयम् । यद्यपि 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्त' इति वाक्याद् ब्रह्मलोकादप्यग्रे गतिस्तत्रस्थानां श्रूयते, तथापि भजनानन्दाननुभवादेतदपेक्षया तुच्छत्वमेवेति भावः । तर्हि ब्रह्मलोकस्थानामपि कुतो न भजनानन्दानुभवः ? भजनीयस्वरूपस्यान्तःप्रवेशाभावादित्याह बहिश्च प्रकट इति ।

इस श्लोक में **'तादृशः'** शब्द क्विन्प्रत्ययान्त का बहुवचन समझना चाहिए, यानि मूल शब्द 'तादृक्' है और तादृशः उसका बहुवचन है। आपश्री आज्ञा करते हैं- जो केवल ज्ञानमार्गीय हैं, वे सत्यलोक में ही निवास करते हैं, पुरुषोत्तम तक उनकी गति नहीं हो पाती, क्योंकि ज्ञानमार्गीयभक्त भक्तिमार्ग के अन्तर्गत नहीं आते। **आदि** पद से संकर्षण आदि व्यूहों के स्थानों पर भी उनकी गति हो जाती है। यद्यपि *"ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते"* इस वाक्यानुसार ब्रह्मलोक से भी आगे की जो गति है, उस स्थान तक मुक्त होने के बाद ज्ञानमार्गीय जाते हैं, तथापि चूँकि उन्हें भगवान के भजनानन्दस्वरूप का अनुभव नहीं मिलता अतः उसकी तुलना में उन्हें मिलने वाला ये फल तुच्छ ही है, यह भाव है। तब फिर प्रश्न यह होता है कि, जिसने ब्रह्मलोक को भी प्राप्त कर लिया है, उसे भजनानन्द का अनुभव क्यों नहीं होता ? तो

इसका स्पष्टीकरण यह है कि, चूँकि भजनीयस्वरूप पुनः उनके भीतर प्रविष्ट नहीं होता, इसलिए उन्हें भजनानन्द का अनुभव नहीं होता- इस बात को आचार्यचरण **बहिश्च प्रकटः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आकाशवदन्तर्बहिश्च प्रकटः सिद्धोपि स्वात्मा भगवानन्तः स्थितोपि बहिः प्रकटीभूय स्वलीलाभिनिविष्टचित्तेषु यदैव प्रविशेत्तत्रैवान्तर्हितो भवेत्, तदैव सकलो बन्धो गृहादिर्नाशमेति, तिरस्कृतं भवति, न त्वन्येनापि प्रकारेणेत्यर्थः । अत एवोक्तम् 'प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयते'ति । यथा शुष्ककाष्ठस्थितो वह्निः शीतशातनासमर्थः, स एव मन्थनादिना बहिर्भूतो ज्वालादिरूपेण तत्रैव काष्ठं प्रविष्टः काष्ठं स्वात्मसात्कृत्वा शीतं निवर्तयति, एवं बहिःस्थितमानन्दघनस्वरूपमपि भक्तभावनाभावितं यावन्न पुनः प्रविशति, तावन्न तत्स्वरूपप्राप्तिरिति भावः । ज्ञानमार्गीयाणां तद्गन्धलेशाभावान्न तत्प्राप्तिशङ्कापि ।।११।।

आपश्री का तात्पर्य यह कि, आकाश की भाँति भगवान भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकट हैं ही, तथापि **स्वात्मा**/भगवान अन्तःकरण में बिराजे होने पर भी एक बार बाहर प्रकट होकर, फिर वापस से अपनी लीलाओं में अभिनिविष्ट चित्तवाले जीवों के भीतर जब पुनः प्रविष्ट होते हैं, और वहीं उसके अन्तःकरण में ही बस जाते हैं, तब **ही** उनके समस्त बन्धनों यानि गृह-परिवार इत्यादि का नाश होता है अर्थात् वे घर-परिवार इत्यादि का तिरस्कार कर देते हैं; इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से उसके बन्धनों का नाश नहीं होता- यह अर्थ है। अतएव श्रीभागवत में *"भगवान गोपियों का गर्व दूर करने के लिए एवं मान दूर करने के लिए उनके मध्य ही अन्तर्धान हो गए(श्री0भा0-10/29/48)"* यों कहा गया है। कहने का अर्थ यह कि, जिस प्रकार सूखी लकड़ी के भीतर छुपी हुई अग्नि ठंढ को दूर नहीं कर सकती, किन्तु लकड़ी का घर्षण करने पर वही अग्नि जब एक बार ज्वाला आदि रूप से बाहर प्रकट होकर पुनः लकड़ी में प्रविष्ट होती है, तब लकड़ी को आत्मसात करके ठंढ दूर कर पाती है ; ठीक उसी प्रकार बाह्यरूप से स्थित आनन्दघनस्वरूप भगवान भी भक्त की भावना से भावुक होकर जब तक पुनः उसके अन्तःकरण में प्रविष्ट नहीं हो जाते, तब तक उसे भगवान के भजनानन्दस्वरूप की प्राप्ति या अनुभव नहीं होता- यह भाव है। ज्ञानमार्गीयों को तो भगवान के ऐसे भजनानन्दस्वरूप प्राप्त होने की लेशमात्र गन्ध भी नहीं होती, फिर उसे प्राप्त करने की तो बात ही दूर रही ॥11॥

ननु विरहावस्थाया किमवलम्बनं जीवनमित्यत आह गुणास्त्विति ।

गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनाय भवन्ति हि ।।१२।।

भगवत्सङ्गस्य राहित्यात् । अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी । तेन सङ्गराहित्यं प्राप्य स्थिते सति गुणास्तस्यैवानुक्रियमाणा लीलास्तदीयगुणानुवादो वा । तदुक्तम् 'तव कथामृतं तप्तजीवन'मिति । त एव जीवनाय भवन्ति । हिशब्दः प्रसिद्धौ ।।१२।।

अब प्रश्न यह होता है कि, विरहावस्था में जीवन किस पर टिकेगा ? तो आचार्यचरण **गुणास्तु** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं।

संगराहित्यात् का अर्थ है- भगवत्संग से रहित होने पर ; इसमें ल्यप् का लोप होकर पंचमीविभक्ति हुई है ; तात्पर्य यह कि जब भगवत्संग से रहित होने पर **गुणाः** यानि भगवान ने अपने गुणों के अनुसार जो लीलाएँ की हैं वो अथवा तो भगवद्गुणानुवाद; इन्हीं के आधार पर उसका जीवन टिकना संभव बनेगा। यही बात गोपिकाओं ने *"हे प्रभु ! आपकी लीलाकथा भी अमृतस्वरूपा है। विरह से सताए हुए लोगों के लिए तो वह जीवनसर्वस्व है(श्री0भा-10/31/9)"* इस श्लोक द्वारा भी कही है। वही भगवद्गुणगान जीवन टिकने में सहायरूप होते हैं। यह तथ्य सुप्रसिद्ध है- यह बात बताने के लिये आचार्यचरणों ने इस बात को कहने में **हि** शब्द का प्रयोग किया गया है ॥12॥

भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ।।१३।।

अत्रास्मिन् जीवने अन्तर्हितो भगवानेव बाधकश्चेत्सोपि फलरूपत्वान्नैवंविधो भवतीत्यर्थः । ननु गुणानां जीवनहेतुत्वोक्तावपि यावन्न दृग्गोचरत्वं स्वरूपस्य भवेत्, तावत्तापापायोपि नेति तदर्थं स्वास्थ्यजनकं प्रकारान्तरेण बोधकवाक्यं कर्तव्यं चेत्तत्राह स्वास्थ्यवाक्यमिति । न कर्तव्यं न स्वयमन्यस्माच्छ्रोतव्यम् । न चान्यस्मै श्राव्यमित्यर्थः । तथाच स्वास्थ्यं भगवानेव करिष्यतीत्याह दयालुरिति । यतो निरुपधिपरदुःखप्रहाणेच्छुः, अतो भक्तानामेतादृगवस्थां ज्ञात्वा विलम्बं न करिष्यति, अतो न विरुध्यते, न प्रतिकूलमाचरिष्यति । प्रत्युत परोक्षभजनानन्ददानेपि भक्तकृत्यं प्रति स्वस्य ऋणित्वमेवाङ्गीकरोति । तच्च भगवतैवोक्तम् 'न पारयेहं निरवद्यसंयुजा'मित्यादि । एवंविधानां स्वास्थ्यवाक्यसहस्रैरपि नेष्टसिद्धिरिति परमार्थः ।।१३।।

अब अग्रिमश्लोक में **भगवान्** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं।

यदि कोई ऐसी शंका करता हो कि कोई और न सही परन्तु ऐसे विरही जीवन में स्वयं भगवान ही बाधक बन जाएँ तो क्या करें ? आपश्री आज्ञा करते हैं- भगवान स्वयं फलरूप होने के कारण इस प्रकार से फलप्राप्ति में बाधक नहीं बनते। किन्तु प्रश्न यह होता है कि, चलो, भले ही भगवद्गुणगान को जीवन टिकाए रखने में सहायक कह दिया हो, परन्तु, जब तक भगवत्स्वरूप के दर्शन न हो जाएँ, तब तक ताप भी तो दूर नहीं ही हुआ न !! इसलिए थोड़ा ताप कम हो जाए इसके लिए थोड़ी-बहुत स्वस्थता प्राप्त करने के लिए किसी अन्य प्रकार से जीव को कुछ स्वास्थ्यजनक बोधकवाक्यों का आधार ले लेना चाहिए; यदि किसी का ऐसा मानना हो तो आचार्यचरण **स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं** इत्यादि शब्दों से ऐसा करने के लिए मना कर रहे हैं। इससे आपश्री आज्ञा करते हैं- जीव यह करना चाहिए कि स्वस्थता देने वाले वाक्यों को न खुद सुनने का प्रयत्न करना चाहिए, न ही किसी को सुनाने चाहिए। क्योंकि उसे स्वस्थ तो स्वयं भगवान ही करेंगे- यह आपश्री **दयालु** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। चूँकि भगवान बिना किसी स्वार्थ के दूसरों के दुःख को दूर करने वाले हैं अतः अपने भक्तों की ऐसी अवस्था को जानकर उन्हें दर्शन देने में विलम्ब नहीं करेंगे, अतः **न विरुद्ध्यते** यानि भगवान अपने भक्त के प्रतिकूल आचरण नहीं करते। अपितु, परोक्षरूप से भजनानन्द का दान देने के लिए ही अन्तर्धान हुए होने के पश्चात् भी भगवान अपने भक्तों के प्रति ऋणी होने की ही बात स्वीकार करते हैं। यह बात स्वयं भगवान ने ही *"भगवान ने गोपियों से कहा- यदि मैं अपने जीवन से अनन्तकाल तक भी तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्याग का बदला चुकाना चाऊँ तो नहीं चुका सकता। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ(श्री0भा0-10/32/22)"* इत्यादि वाक्यों में कही है। कुलमिला कर अर्थ यह हुआ कि, ऐसे उच्चविरहदशा में पहुँचे जीवों को स्वस्थता देने वाले हजार वाक्य भी कह दिए जाएँ, तब भी उसे वो वस्तु नहीं मिल पायेगी, जो उसे चाहिए- यह इस श्लोक का गूढार्थ है ॥13॥

दुर्लभोयमिति ।

दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।

अयं भक्तिमार्गीयो यः परित्यागः स प्रेम्णा निरुपधिस्नेहादेव सिध्यति, अतो दुर्लभः, अन्यैः साधारणैः कर्तुमशक्य इत्यर्थः ॥१३½॥

अब अग्रिमश्लोक के **दुर्लभोयं** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं।

श्लोक का अर्थ है- यह भक्तिमार्गीयपरित्याग **प्रेम्णा** यानि भगवान के प्रति निस्वार्थ स्नेह रखने से ही सिद्ध होता है, अतः इस प्रकार का परित्याग करना बड़ा दुर्लभ है, यानि अन्य साधारण जीवों के लिए करना अशक्य है ॥13$^{1}/_{2}$॥

भक्तिमार्गीयं निरूप्य ज्ञानमार्गीयमाह ज्ञानमार्ग इति ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारतः ॥१४॥
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ॥१५॥
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ॥१६॥
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ।

विचारोत्रोपपत्तिस्तस्मादित्यर्थः । स द्विप्रकारकोऽपि ज्ञेयः । अपिशब्दोऽत्र गर्हायाम् ।

द्वैविध्यमाह ज्ञानार्थमिति । ज्ञानोत्पत्त्यर्थमेकः । उत्तरस्य मोक्षस्याङ्गं तदर्थमिति यावत् । यद्यपि ज्ञानार्थस्यापि मोक्षाङ्गत्वमेव, तथापि प्रयोजनवशाद् द्वैविध्यम् । अन्यथा कर्मणोपि द्वैविध्यं न स्यात् । परन्तूभाभ्यामपि जन्मशतैर्बहुजन्मभिरभ्यासेन सिद्धिर्मोक्षो भवति । न भक्तिमार्गीयवज्झटिति । अत एव भगवताप्युक्तम् 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ' इति । व्यवहारेपि विद्वत्संन्यासो विविदिषासंन्यास इति श्रूयते द्वैविध्यम् ।

भक्तिमार्गीयसंन्यास का निरूपण करके अब अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण ज्ञानमार्गीयसंन्यास का निरूपण **ज्ञानमार्ग** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

श्लोक में प्रयुक्त 'विचार' शब्द का अर्थ है- युक्ति; यानि युक्ति के द्वारा ज्ञानमार्गीयसंन्यास दो प्रकार का समझना चाहिये । 'अपि' शब्द निन्दा के अर्थ में है। उसी द्विप्रकारक ज्ञानमार्गीयसंन्यास को आचार्यचरण **'ज्ञानार्थम्'** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसमें ज्ञान प्राप्त करने के लिये लिया गया संन्यास एक प्रकार का है। और दूसरे प्रकार का संन्यास मोक्ष का अंगभूत होता है, यानि मोक्ष प्राप्त करने के लिये लिया जाता है। यद्यपि पहले प्रकार का संन्यास, यानि कि ज्ञान प्राप्त करने के लिया गया संन्यास भी मोक्ष प्राप्त

करने का ही अंगभूत होता है, तथापि, दोनों प्रकार के संन्यास लेने के प्रयोजन भिन्न भिन्न हैं, इसलिये आचार्यचरणों ने इनके दो प्रकार बताये हैं। प्रयोजन भिन्न भिन्न होते हैं इसी कारण अलग विभाग किए जाते हैं, अन्यथा तो कर्ममार्ग को भी 'सकाम' और 'निष्काम' यों दो प्रकारों में बाँटने की आवश्यकता न पड़ती। परन्तु दोनों ही प्रकारों के संन्यास द्वारा **जन्मशतैः**, यानि कि सैंकड़ों जन्मों के बाद जाकर मोक्ष प्राप्त होता है; भक्तिमार्गीयसंन्यास की भांति झट से नहीं। अतएव, भगवान ने भी *"बहुत जन्मों के पश्चात् अन्त में ज्ञानीपुरुष मेरी शरण आता है। ऐसा महात्मा मिलना तो बड़ा दुर्लभ है(भ0गी- 7/19)"* यों कहा है। व्यवहार में भी 'विद्वत्संन्यास' एवं 'विविदिषा-संन्यास' यों दो प्रकार के संन्यास सुने ही जाते हैं।

भक्तिं विहाय केवलज्ञानार्थमेव यः संन्यासः स दोषग्रस्तत्वान्न कर्तव्य इत्याहुः ज्ञानं चेति । चकारान्मोक्षोपि साधनसापेक्ष एव । तत्र हेतुः । यज्ञादिश्रवणात् । यज्ञादिकं साधनत्वेन श्रूयत इत्यर्थः । इदं तु गीतायाम् 'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा' इत्यादिषु स्फुटम् । यज्ञादीनां साङ्गानामेव फलसम्पादनक्षमत्वात्, तच्च कलौ सर्वथैव न सम्भवतीत्यतस्तत्करणं पश्चात्फलदशायां तापायैव, न सुखाय । पूर्वोक्तधर्मध्वजित्वेन पाषण्डित्वमेव स्यात् । अपिशब्दादग्रेपि फलाभावः । अत एव श्रीमद्भागवते 'श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्ये'त्यादिनोक्तम् । यत एवंकरणे पश्चात्तापः फलासम्बन्धश्च । तस्मात् ज्ञाने न, ज्ञानमार्गे न संन्यसेत्, कलौ साधनबलस्याल्पत्वात्कालकृतदोषाणां प्राबल्यात्सुतरामेव न कार्य इति वस्तुस्थितिरित्यर्थः ।।१४, १५, १६$^{1}/_{2}$।।

भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञानप्राप्ति के लिये ही लिया गया जो संन्यास होता है, वह दोषग्रस्त होता होने के कारण नहीं लेना चाहिये- यह आपश्री **ज्ञानं च** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **च** शब्द से ज्ञात होता है, कि ज्ञान तो ठीक, परन्तु मोक्ष भी साधनों के सहारे ही सिद्ध किया जा सकता है। इसका कारण आपश्री **यज्ञादिश्रवणात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानमार्गीयसंन्यास में यज्ञ इत्यादि कर्म साधनों के रूप में किये जाते हैं, यह अर्थ है। यह बात तो भगवद-गीता में भी *"बहुत से लोग दान के रूप अपनी सम्पत्ति का यजन करते हैं। कोई अष्टांगयोग द्वारा यजन करते हैं तो कोई शास्त्रों का अध्ययन करने के द्वारा यज्ञ करते हैं(भ0गी-4/28)"* इत्यादि वाक्यों में स्पष्टतया कैहा गैयैा ह। यज्ञ इत्यैादे ता जबं अगसिाहति किय जेंाय, तबं हा फलसम्पादन केरनें म सक्षम बेनतैं हैं, और येंज्ञेा क समस्तं अगकिोलकालें म करने सर्वथा सम्भव नहीं बनते, इसलिये कलिकाल में ज्ञानमार्गीयसंन्यास लेना **पश्चात्**/आगे जाकर फलदशा आने पर ताप का ही कारण बनता है, सुख का कारण नहीं। ऐसा संन्यासी पूर्व में कहे अनुसार धर्मध्वजी होने के कारण पाखंडी ही होता है। **अपि** शब्द बताता है कि ऐसे संन्यासी को आगे जाकर भी फल प्राप्त नहीं होता। अतएव श्रीभागवत में भी *"हे भगवन्! जो आपको छोड़कर केवल ज्ञानप्राप्ति के लिए श्रम उठाते हैं और दुःख भोगते हैं, उनको केवल क्लेश ही हाथ लगता है। जैसे थोथी भूसी कूटनेवाले को केवल श्रम ही मिलता है, धान नहीं(श्री0भा-10/14/4)"* इत्यादि वाक्यों द्वारा यह बात कही गयी है। ऐसा इसलिये, क्योंकि ऐसा करने पर पश्चाताप भी होता है और फल भी प्राप्त नहीं होता। इसलिये **ज्ञाने न**, अर्थात् आचार्यचरण आज्ञा करते हैं, ज्ञानमार्ग में संन्यास लेना ठीक नहीं है, तिस पर कलिकाल में तो साधनबल अल्प हो जाने के कारण एवं कालकृत दोषों की प्रबलता हो गयी होने के कारण भी नहीं लेना चाहिये, यह वस्तुस्थिति है ॥14,15,16 $^{1}/_{2}$॥

एवं भक्तिमार्गेपि दोषमाशङ्क्य समाधत्ते भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ।।१७।।
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ।।१८।।
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ।।१९।।

अत्रारम्भ इति । अस्मिन्भक्तिमार्गीयसंन्यासस्योपक्रममात्रेपि कृते न नाशः, न कृतोपक्रमवैयर्थ्यं, नापि विघ्नो भवेत्, नापि प्रत्यवायः । तदुक्तं भगवता 'नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्यवायो न विद्यते । स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयादि'ति, श्रीभागवतेपि 'तथा न ते माधव तावकाः क्वचि'दित्यादिना । किञ्च, पूर्वमेवं चिकीर्षोः कस्यचिदन्यथाभाव इत्यर्थे सर्वसम्मतदृष्टान्तस्याप्यभावात्, अतो ज्ञानमार्गीयवदत्रत्यस्य न पातादिशङ्केत्यर्थः । भक्तिरहितज्ञानमार्गीयस्य तु पातः श्रूयते श्रीभागवते 'येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः । आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोनादृतयुष्मदङ्घ्र'इति ।

ऊपर कहे ज्ञानमार्गीयसंन्यास में बताए गए दोषों की भाँति यदि कोई भक्तिमार्गीयसंन्यास में भी दोष होने की आशंका करता हो, तो

ाचार्यचरण उसका समाधान अग्रिमश्लोक में **भक्तिमार्गेपि** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

ारम्भे इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, इस भक्तिमार्गीयसंन्यास का तो उपक्रम/आरम्भ करने भी नाश नहीं होता है, अर्थात् किया गया उपक्रम व्यर्थ नहीं जाता, न विघ्न आते हैं और न ही कोई दोष आड़े आते हैं। यही बात भगवान ने *कृष्णभावना के लिए किए गए किसी भी साधन का नाश नहीं होता। इस पथ में की गयी अल्पप्रगति भी महान भय से रक्षा कर देती है"(भ0गी-2/40)"* इत्यादि वाक्यों द्वारा एवं श्रीभागवत में भी *"हे भगवन्! जिन्होंने आपसे सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी भी ानाभिमानियों की भाँति अपने मार्ग से गिरते नहीं। वे बड़े-बड़े विघ्न डालने वालों के सिर पर पैर रखकर निर्भय विचरण करते हैं(श्री0भा-0/2/33)"* इत्यादि वाक्यों द्वारा कही गयी है। और, पहले कभी इस प्रकार से भक्तिमार्गीयसंन्यास लेने वाले का कोई अहित हुआ हो- इस ात का कोई सर्वसम्मत दृष्टान्त भी नहीं है अतः ज्ञानमार्गीयसंन्यास की भाँति भक्तिमार्गीयसंन्यास लेने वाले का पतन होने की तो शंका ी नहीं है- यह अर्थ है। किन्तु भक्तिरहित ज्ञानमार्गीय का पतन होना तो श्रीभागवत में भी *"हे कमलनयन! जो आपके चरणकमलों की शरण नहीं लेते और आपके प्रति भक्तिभाव से रहित होने के कारण जिनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, वे बड़ी से बड़ी तपस्या करके चाहे जितने ऊँचे पद र भी क्यों न पहुँच जाएँ, तो भी वहाँ से नीचे गिर जाते हैं(श्री0भा-10/2/32)"* इस श्लोक द्वारा सुनने में आता है।

केश्च, असिद्धस्य स्वास्थ्यहेतोस्तुच्छविषयादेः परितः सर्वतस्त्यागादेव न बाधः सम्भवति । अन्तर्बहिः सिद्धविषयस्य तु वेष्टफलत्वादेव न तत्सम्भव इत्यर्थः । यदि तदेकाश्रितानामपि तस्मादेव बाधः स्यात्तदा मातृमात्रैकजीवनान् बालान्मातरोपि न क्वचित्पुपुषुर्न स्तन्यैः पुष्णीयुः, पुष्टाः न कुर्युः, प्रत्युतानिष्टं च कुर्युः, न त्वेवं कुत्रचिदस्तीत्यतो न बाधशङ्कालेशोपीति भावः ।।१७ ।। १८।। १९।।

एक बात यह भी है कि, जो असिद्ध हैं यानि जो विप्रयोग की उच्च फलदशा पर नहीं पहुँचे हैं अपितु जिन्होंने विप्रयोग का अनुभव करना भी आरम्भ ही किया है, ऐसों ने तो मन को स्वस्थ बनाने वाले तुच्छ लौकिकविषयों का चहुँओर से परित्याग कर ही दिया होता है इसलिए उन्हें बाधा आनी संभव नहीं बनती। और जो अन्तर्बहि दोनों प्रकार से भक्ति में विप्रयोग की सिद्धदशा में पहुँच गए हैं यानि अन्दर-ाहर सर्वत्र वे प्रभु को ही देख रहे होते हैं, अतः उन्हें तो अपना मनचाहा फल मिल ही गया होता है अतः उन्हें भी बाधा आनी संभव नहीं ोती- यह अर्थ है। किन्तु यदि केवल भगवान पर ही आश्रित जीवों को भी भगवान ही बाधा करने लगें, जो कि नितांत असंभव बात है रन्तु यदि भगवान ही बाधा उत्पन्न करने लग जाएँ, तब तो फिर यही असंभव बात कहनी पड़ेगी कि- "केवल अपनी माता पर आश्रित जीवन जीने वाले बालकों का माता भी कभी स्तनपान द्वारा उनका पोषण नहीं करतीं, प्रत्युत उनका अनिष्ट ही करती हैं"। ऐसा अनर्थ कभी भी हो नहीं सकता अतः अपने भक्त को भगवान ही बाधा करने लगें, इसकी तो लेशमात्र भी शंका नहीं है- यह भाव है ॥17,18,19॥

अल्पज्ञं प्रत्याहुः ज्ञानिनामिति ।

ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ।।२०।।

ज्ञानमार्गप्रशंसावाक्यैरपि तद्द्वारा स्वभजने प्रवृत्तं न मोहं प्रापयिष्यति । इदमुत्कृष्टमिदं वेत्येवंविधम् । ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्य स्वतन्त्रस्य कदाचिदेवमपि करणं स्यादिति चेत्तत्राह आत्मप्रद इति । स्वस्वरूपं भक्तेभ्यो दत्तवान्, तदधीनत्वेन स्थापितवान्, यश्च स्वात्मत्वेन प्रियश्च । अत एवोक्तम् 'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे'ति । अपिशब्दादेवमजानतामभक्तानामप्रियश्च । चकारात् स्वस्य भक्तस्य कृत्यनुबुभूषुत्वमपि । एतादृशस्यापि मोहकत्वे न किञ्चित्कारणमस्तीत्यर्थः ।।२०।।

कोई अल्पज्ञ जो ये समझ रहा है कि, कदाचित् ज्ञानमार्गसंबंधी वाक्य भक्ति की सिद्धदशा में पहुँचे चुके जीव को मोहित/भ्रमित करके उसका ध्यान बँटा लेंगे, तो इसका समाधान आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में **ज्ञानिनाम्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- ज्ञानमार्ग की प्रशंसा करने वाक्यों द्वारा अपने भजन में लगे हुए भक्त को भगवान मोहित/भ्रमित नहीं करेंगे। उसके मोहित/भ्रमित होने का अर्थ है- उसका ये सोचने लग जाना कि- "ज्ञानमार्ग उत्कृष्ट है या भक्तिमार्ग !!!"। किन्तु शंका यह होती है कि, भगवान तो कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथाकर्तुं समर्थ हैं, ऐसे स्वतन्त्र भगवान तो क्या पता कदाचित् उसे कभी मोहित/भ्रमित कर भी दें !! तो इस शंका का समाधान आपश्री **आत्मप्रदः** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, भगवान ने अपना स्वरूप ही अपने भक्तों को दे दिया है, वे उनके अधीन होकर रहते हैं और जो भक्त उन्हें अपनी आत्मा मानते हैं, उनके प्रिय भी हैं, ऐसे भगवान उन्हें मोहित/भ्रमित नहीं कर सकते- यह अर्थ है। अतएव श्रीभागवत में *"हे भगवन्! तुम ही समस्त देहधारियों के सुहृद् हो, आत्मा हो, और*

परम प्रियतम हो(श्री0भा-10/29/32)" यों कहा भी गया है। **अपि** शब्द से यह ज्ञात होता है कि, जो भगवान को इस प्रकार से नहीं मानता या नहीं जानता, ऐसे अभक्तों के लिये वे प्रिय नहीं हैं। **च** शब्द से यह अर्थ भी ज्ञात होता है कि, अपने भक्त के विषय में जानने की उनकी उत्कंठा भी रहती है कि चलो देखें, अब मेरा भक्त विरह में क्या करता है; तात्पर्य यह कि ऐसे भगवान के लिये अपने भक्तों को मोहित/भ्रमित करके उनकी उच्चविरहदशा की विकलता को शांत करने का कोई कारण नहीं बनता अतः नहीं करते- यह अर्थ है ॥20॥

उपसंहरन्ति तस्मादिति ।

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ।।२१।।

उक्तप्रकारेण भक्तिमार्गे स्थित्वा विरहानुभवार्थमेव क्रियताम्, अन्यथा इमं प्रकारान्तरं त्यक्त्वा प्रकारान्तरेण तदाचरणे स्वार्थात् स्वस्मिन्नेवार्थ्यते अन्विष्यत इति स्वार्थो भगवान् तस्माद् भ्रश्यते दूरे पततीत्यर्थः । इति एवंप्रकारिका मे निश्चिता बुद्धिरित्यर्थः । यद्वा, स्वार्थात् समीहितफलादित्यर्थः ।।२१।।

अब आचार्यचरण **तस्मात्** इत्यादि शब्दों से इस ग्रन्थ का उपसंहार कर रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- ऊपर कहे प्रकारानुसार भक्तिमार्ग में रहते हुए भगवद्विरह का अनुभव करने के लिये ही संन्यास ग्रहण करना चाहिए, **अन्यथा** यदि हमारे कहे प्रकार को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से संन्यास का आचरण करेंगे, तो स्वार्थ/भगवान से दूर हो जायेंगे। यहाँ 'स्वार्थ' का अर्थ है- अपने आप में ही अपने अन्तःकरण में ही जिसे ढूँढा जाय, उसे 'स्वार्थ/भगवान' कहते हैं; यानि भगवान से दूर हो जायेंगे। आपश्री आज्ञा करते हैं -**इति** इस प्रकारक मेरी निश्चयात्मक मति/बुद्धि है। अथवा तो **स्वार्थ** का अर्थ है- अपनी खुद की फलप्राप्ति की इच्छा; यानि आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- यदि हमारे कहे प्रकार को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से संन्यास का आचरण करेंगे, तो अपनी फलप्राप्ति की इच्छा को पूर्ण नहीं कर पायेंगे ॥21॥

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ।।२२।।

इतीति । कृष्णः प्रसाद्यते येन, कृष्णस्य प्रसादोन्येषां यस्मादिति वा । तत्प्रसादरूप एवेति वा । ईदृशेन वल्लभेन भक्तौ भक्तिमार्गे संन्यासस्य वरणं चरतीति स्वीकरणम् । इति उक्तप्रकारेण विशेषतो निश्चितं निर्धारितम् । भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्येदं विहायान्यथा अन्येन ज्ञानमार्गाद्युक्तप्रकारेण स्वीकरणे पातित्यमेवेत्यर्थः ।।२२।।

अब **इति** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। श्लोक में **कृष्णप्रसादेन वल्लभेन** का अर्थ है- कृष्ण को प्रसन्न किया है जिसने, या जिनके कारण दूसरों पर कृष्ण प्रसन्न होते हैं, अथवा तो जो स्वयं कृष्ण की प्रसन्नतारूप हैं(भगवान जीवों पर प्रसन्न हुए और उनका उद्धार करना चाहा तब उन्होंने आचार्यचरणों को भूतल पर भेजा अतः आचार्यचरण का भूतल प्रकट होना श्रीकृष्ण की प्रसन्नता का द्योतक है- यह अर्थ है); ऐसे श्रीवल्लभ ने भक्तिमार्ग में संन्यास को स्वीकार किया है, निरपेक्षभाव से विचरण करना स्वीकार किया है। किस प्रकार से स्वीकार किया है ? तो आपश्री कहते हैं- **इति** ऊपर कहे(ग्रन्थ में कहे)प्रकार से विशेषरूप से निश्चयात्मकतया स्वीकार किया है। **अन्यथा पतितो भवेत्** इत्यादि शब्दों के द्वारा आपश्री आज्ञा करते हैं- भक्तिमार्ग में प्रवृत्त होने वाले यदि इस ग्रन्थ में कहे प्रकार को छोड़कर किसी अन्य प्रकार से यानि ज्ञानमार्ग में बताए अनुसार संन्यास स्वीकार करेंगे, तो पतित ही होंगे- यह अर्थ है ॥22॥

आचार्यचरणाम्भोजरजोरञ्जितवागहम् ।।
कृतवान् भक्तिसंन्यासविचारे सुविचारणाम् ।।१।।
कर्मणा मनसा वाचा प्राणैर्दारैर्धनैरपि ।।
विट्ठलेश त्वदीयोस्मि नान्यथा ज्ञातुमर्हसि ।।२।।
इतिश्रीवल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतौ संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ।

आचार्यचरणकमल के पराग से रंजित हुई वाणी वाले मैंने॥
भक्तिमार्गीयसंन्यास का विचार करने वाले इस ग्रन्थ की सुविचारणा की है॥1॥
कर्म-मन-वाणी-प्राण-दार-धन सभी की दृष्टि से
हे विट्ठलेश ! मैं आपका ही हूँ, मुझे अन्य न समझें ॥2॥
यह श्रीवल्लभनन्दनचरणों में एकनिष्ठ श्रीरघुनाथ द्वारा किया गया संन्यासनिर्णय का विवरण समाप्त हुआ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोकुलोत्सवविरचितविवरणसमेतः ।

यत्पदाब्जरसास्वादविस्मृतान्यसुखा मुहुः ।
रमन्ते तद्गुणालापैस्तं वन्दे गोकुलेश्वरम् ।।१।।

अथ सकलश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायादिप्रमाणसम्मत्या भगवदानन्दानुभव एव सर्वेषां परमफलम् । तत्रापि भजनानन्दानुभवः श्रीगोपीजनवल्लभस्य । तथाहि । 'रसो वै स' इत्यादिभ्यो भगवान् रसरूपः । रसश्च श्रृंगारः । स च संयोगविप्रयोगभेदेन द्विविधः । तेन तदुभयभावात्मकभगवदानन्दानुभव एव परमफलम् । स च लीलासृष्टौ प्रवेशे सति सम्भवति । ततः पूर्वदशायां तु संयोगाभावात् सर्वपरित्यागपूर्वकं विप्रयोगभावानुभव एव परमफलम् । सर्वपरित्यागं विना लौकिकांशस्य सत्त्वादव्यग्रतया विप्रयोगानुभवासम्भवात् । स च परित्यागः कस्मिन् मार्गे कर्तव्यः, कदा वा कर्तव्यः, कथं वा कर्तव्यः, किमर्थं वा कर्तव्यः, करणानन्तरं च तस्य कीदृशी दशेत्येतत्सर्वनिर्धारार्थं विचारप्रयोजनमनुवदन्त एवाचार्याः परित्यागविचारं प्रतिजानते पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

जिनके चरणकमलों के रसास्वाद से भगवदीयों ने अन्य सुख भुला दिए हैं,
और जिनका गुणालाप करने के द्वारा भगवदीय रमण करते हैं, ऐसे गोकुलेश्वर को मैं वारंवार नमन करता हूँ ॥1॥

सकल श्रुति-स्मृति-पुराण-न्याय आदि शास्त्रों की प्रमाणपूर्वक सम्मति के द्वारा भगवदानन्द का अनुभव करना ही इन सभी का परमफल है- यह सिद्ध होता है। और भगवदानन्द के अन्तर्गत भी श्रीगोपीजनवल्लभ का भजनानन्दानुभव करना परमफल है। वह इस प्रकार कि *"निश्चितरूप से ब्रह्म ही रस है(तैत्ति0उप-2/7/1)"* इस श्रुति के अनुसार भगवान रसरूप हैं, यह सिद्ध होता है। रस का अर्थ है- श्रंगाररस; और श्रंगाररस 'संयोग' एवं 'विप्रयोग' यों दो प्रकार का होता है। इसलिए संयोगविप्रयोगभावात्मक भगवान के आनन्द का अनुभव करना ही परमफल है। और यह परमफल भगवान की लीलासृष्टि में प्रवेश पाने पर ही प्राप्त होना संभव बन सकता है। किन्तु जब तक लीलासृष्टि में प्रवेश नहीं मिलता, उसके पहले की दशा में तो भगवान से संयोग न होने के कारण सर्वसांसारिक वस्तुओं का परित्याग करके भगवान के विप्रयोग का अनुभव करना ही परमफल है। चूँकि सर्वपरित्याग करे बिना भगवदीयों में लौकिक अंश तो रहता ही है अतः उन्हें निरन्तर लगातार विप्रयोग का अनुभव हो पाना असंभव है। अतः ऐसा सर्वपरित्याग किस मार्ग में करना चाहिए, कब करना चाहिए, कैसे करना चाहिए या किसलिए करना चाहिए और परित्याग करने के पश्चात् उसकी दशा क्या होगी, इत्यादि समस्त मुद्दों का निर्धारण करने के लिए आपश्री इनके विषय में विचार करने का प्रयोजन कहते हुए परित्याग के बारे में **पश्चात्ताप निवृत्त्यर्थम्** इत्यादि शब्दों से विचार कर रहे हैं।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ।।१।।

भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च परित्यागः कर्तव्यः, तत्रापि सिद्धदशायामेव, न तु साधनदशायाम् । साधनदशायामत्यन्तवैराग्याभावेन परित्यागानिर्वाहात् पाषण्डित्वप्रसङ्गेन कृतोपि परित्यागः पश्चात्तापाय भवति । एतावत्तारतम्यज्ञानाभावे भगवदीया अपि पूर्वमेव परित्यक्त सर्वार्थाः सन्तः पश्चात्तप्ता भवेयुः, तथा तान् दृष्ट्वा स्वयमपि पश्चात्तप्ता भवेयुः, तथा चान्येषां स्वस्य च पश्चात्तापस्यानाविर्भावार्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । यद्वा । सकलदैवजीवानां भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदाज्ञया ह्याचार्याणां भूलोकेऽवतारः । सा भगवत्प्राप्तिश्चाचार्यैर्भक्तिमार्गप्राकट्येन क्रियते । तत्र यथा सर्वसिद्धान्तमुक्तवन्तस्तथा अव्यग्रतया निरन्तरं विप्रयोगभावानुभवार्थं परित्यागोपि पूर्वमेव कथनीयः । तथा चैतावत्कालं वृथा विलम्बः कृत इति यः पश्चात्तापः तस्य निवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः ।

आपश्री का तात्पर्य यह है कि, भक्तिमार्ग एवं ज्ञानमार्ग में परित्याग करना तो चाहिए, परन्तु सिद्धदशा आने पर, साधनदशा में

नहीं। चूँकि साधनदशा में अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न न हुआ होने के कारण परित्याग का निर्वाह नहीं हो पाता और पाखंडी हो जाने की आपत्ति आती है, जिसके कारण किया हुआ परित्याग भी अंततोगत्वा पश्चात्ताप ही दिलाता है। साधनदशा एवं सिद्धदशा का अंतर न समझ पाने के कारण भगवदीय भी सिद्धदशा में पहुँचने के पहले ही सभी का परित्याग कर बैठेंगे और फिर बाद में पश्चात्ताप करेंगे, और उन्हें ऐसी दशा में देखकर स्वयं आचार्यचरण को भी पश्चात्ताप होगा, अतः अन्यों को एवं स्वयं आचार्यचरणों को भी पश्चात्ताप न करना पड़े हो, तदर्थ आपश्री इस ग्रन्थ में परित्याग के वास्तविक स्वरूप का विचार कर रहे हैं। अथवा, यों समझें कि समस्त दैवीजीवों को भगवत्प्राप्ति करवाने के लिए भगवदाज्ञानुसार भूलोक में आचार्यचरणों का अवतार हुआ है। और उन्हें भगवत्प्राप्ति आचार्यचरणों ने भक्तिमार्ग को प्रकट करके करवायी है। और भक्तिमार्ग को प्रकट करके जिस प्रकार से आचार्यचरणों ने एतन्मार्गसम्बन्धी समस्त सिद्धान्त कहे हैं, उस प्रकार से भगवान के विप्रयोग का निरन्तर अनुभव करने के लिए आचार्यचरणों को परित्याग के विषय में भी पहले ही कह देना चाहिए था, अतः इतने समय तक व्यर्थ में ही विलम्ब किया- यह सोचते हुए आपश्री को जो पश्चात्ताप हुआ, उसकी निवृत्ति करने के लिए आपश्री इस ग्रन्थ में परित्याग का विचार कर रहे हैं- यह अर्थ है।

अथवा । परित्यागेन पूर्वमहर्निशं विप्रयोगभावानुभवः तदनन्तरमलौकिकदेहेन संयोगभावानुभवः । तथा च पश्चात् परित्यागानन्तरं तापश्च निवृत्तिश्च तापनिवृत्ती, तयोर्निमित्तं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः । तेनोभयप्रकारकभगवद्भावानुभवे आचार्योद्यम एव हेतुरिति सूचितम् । यच्च 'विरहानुभवैकार्थसर्वत्यागोपदेशक'इति सर्वोत्तमे उक्तम् ।

इसके आगे श्रीगोकुलोत्सवचरणों ने "पश्चात्तापनिवृत्यर्थं परित्यागो विचार्यते" इस मूलपंक्ति का दूसरे प्रकार से भी अर्थ किया है। इनके अनुसार पश्चात्तापनिवृत्यर्थं" का अर्थ है- पश्चात्(बाद में होने वाले)ताप(विप्रयोगताप को)निवृत्त्यर्थं(निवृत्त करने के लिए) परित्यागो विचार्यते(परित्याग के स्वरूप का विचार इस ग्रन्थ में कर रहे हैं)। इनके अनुसार भगवान के विप्रयोग का अनुभव करने की प्रक्रिया यह है कि- (1)सबसे पहले परित्याग करने से अहर्निश भगवान के विप्रयोग का अनुभव होता रहता है, उसके पश्चात् 2)अलौकिकदेह प्राप्त होती है और उसके माध्यम से (3)भगवान से संयोगभाव का अनुभव होता है। श्रीगोकुलोत्सवचरण इसी प्रक्रिया को उक्त पंक्ति का दूसरे ढंग से अर्थ करके समझाना चाह रहे हैं। इनके अनुसार 'पश्चात्' का अर्थ है- परित्याग करने के पश्चात्। 'ताप' का अर्थ है- विप्रयोग का अनुभव होने के पश्चात् जीव को होने वाला ताप। 'निवृत्ति' का अर्थ है- भगवान से संयोग प्राप्त होकर उस ताप की निवृत्ति होनी। इससे श्रीगोकुलोत्सवचरण यह कहना चाह रहे हैं कि, यह पूरी प्रक्रिया जिस प्रकार से सुसंपन्न हो सके तदर्थ परित्याग के स्वरूप का विचार आचार्यचरण यहाँ कर रहे हैं। अथवा, "पश्चात्तापनिवृत्यर्थं परित्यागो विचार्यते" इस मूलपंक्ति का अर्थ दूसरे प्रकार से भी समझें। प्रक्रिया यह है कि, परित्याग करने से जीव को अहर्निश भगवान से विप्रयोग होने का अनुभव होता रहता है, जिसके पश्चात् उसे अलौकिकदेह प्राप्त होकर भगवान से संयोगभाव का अनुभव होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि, परित्याग करने के **पश्चात्** जो **ताप** जीव को होता है, उस **ताप** की **निवृत्ति** होने तक की दोनों प्रक्रिया सुसम्पन्न हो सके एवं जीव को भगवान से संयोगसुख प्राप्त हो सके, उसके लिए आचार्यचरण परित्याग के स्वरूप का विचार यहाँ कर रहे हैं- यह अर्थ है। इससे यह बात समझ में आती है कि, जीव भगवान से संयोग-विप्रयोग दोनों ही प्रकार के भगवद्भावों का अनुभव कर सके या कर पाए, इसमें आचार्यचरणों द्वारा परित्याग के स्वरूप को समझाने के लिए लिया गया परिश्रम ही मूलकारण है, यानि आचार्यचरण परिश्रम लेकर परित्याग का स्वरूप न समझाते, तो जीव को भगवान के विप्रयोग-संयोग इन दोनों रसों का अनुभव न हो पाता। जिस भाव को बताया होने के कारण सर्वोत्तमस्तोत्र में आचार्यचरणों का एक नाम *"केवल भगवद्विरह का अनुभव करने के लिए ही सर्वत्याग का उपदेश करने वाले(18)"* यह भी है।

तदव्यवधानविवक्षया सवासन इति परिशब्दार्थः । ननु परित्यागः कस्मिन्मार्गे कर्तव्य इति चेत् ? तत्राहुः स मार्गद्वितये प्रोक्त इति । विशेष आधिक्यम्, तेन सिद्धदशा विशेषः । विशेषतः इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च भक्तौ ज्ञाने च विशेषं सिद्धदशां प्राप्य मार्गद्वितये भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च स परित्यागः प्रकर्षेण उक्तः, कर्तव्यत्वेन कथित इत्यर्थः ।।१।।

और आपश्री भगवद्विप्रयोग का व्यवधानरहित यानि निरन्तर अनुभव कराने वाले त्याग की बात कर रहे हैं, जिसके कारण आपश्री ने केवल त्याग न कहकर परित्याग करना कहा है, जिसका तात्पर्य है- लौकिक इन्द्रियों से ग्रहण होने वाली समस्त वस्तुओं का वासनासहित त्याग होना चाहिए- यह **'त्याग'** शब्द में जुड़े **'परि'** उपसर्ग का अर्थ है। अब प्रश्न यह होता है कि, परित्याग किस मार्ग में करना चाहिए ? इसे आपश्री **स मार्गद्वितये प्रोक्तः** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। आपश्री ने **विशेषतः**(विशेषरूप से) कहा है, यानि इससे

आपश्री परित्याग करने के लिए एक विशेष सिद्धदशा होनी आवश्यक बता रहे हैं। इसका गूढ़ार्थ यह है कि, **विशेषतः** शब्द में ल्यप् प्रत्यय का लोप होकर पंचमीविभक्ति हुई है, जिसका अर्थ है- भक्ति एवं ज्ञान की एक विशेष सिद्धदशा पर पहुँचने पर ही **मार्गद्वितये** यानि 'भक्तिमार्ग' एवं 'ज्ञानमार्ग' में परित्याग करना चाहिए- यह आपश्री बता रहे हैं, यानि सिद्धदशा पर पहुँचने के बाद ही जीव को परित्याग करना चाहिए- ऐसा कह रहे हैं ॥1॥

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ।।२।।

अथ कर्ममार्गे साधनदशायां ज्ञानमार्गे उपासनामार्गे साधनदशायां भक्तिमार्गे च परित्यागः पश्चात्तापायेति तन्निवृत्त्यर्थं परित्यागस्य विचारः क्रियते । विशेषतः विशेषं प्राप्य । स च सिद्धदशा उभयोः । यद्वा, बहुजन्मसु परित्यागः कर्तव्य इति आवृत्तिबाहुल्यमेव विशेष इति ज्ञानमार्ग एव विशेषत इत्यन्वेति । निष्कामतया कर्मकरणं चित्तशुद्ध्यर्थम्, कर्ममार्गे पत्नीं विना च यज्ञादिकरणमसम्भवीति न परित्यागः सम्भवति ।

इस श्लोक में आपश्री आज्ञा करते हैं- (1)कर्ममार्ग में, (2)ज्ञानमार्ग में उपासनारूप साधनदशा में एवं (3)भक्तिमार्ग में साधनदशा में परित्याग करने पर कालान्तर में पश्चात्ताप ही करना पड़ता है अतः पश्चात्ताप न करना पड़े इसके लिए परित्याग के वास्तविक स्वरूप का विचार कर रहे हैं। ज्ञानमार्ग के आरंभकाल में उपासना करने का विधान है और इसे ही ज्ञानमार्ग की साधनदशा कहते हैं। उपासना के पश्चात् जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब ही वह ब्रह्मविचार/ब्रह्मचिंतन के योग्य बनता है। **विशेषतः** का अर्थ है- एक विशेषदशा में पहुँचने के पश्चात् ही ज्ञानमार्ग/भक्तिमार्ग में परित्याग करना चाहिए; और विशेषदशा का अर्थ है- दोनों मार्गों की जो सिद्धदशा है, उस अवस्था पर पहुँच जाएँ, तब ही संन्यास लेना चाहिए। अथवा, **विशेषतः** पद का अन्वय केवल ज्ञानमार्ग मे ही करें, यानि यों अर्थ करें कि- चूँकि ज्ञानमार्ग में अनेक जन्म लेकर परित्याग करते रहना पड़ता है और तब जाकर सिद्धदशा पर पहुँचा जा सकता है अतः ज्ञानमार्ग में वारंवार जन्म लेना पड़ता है, इसलिए आचार्यचरण ज्ञानमार्ग में ही विशेषरूप से परित्याग होने की बात कह रहे हैं, यानि भक्तिमार्ग की तुलना में ज्ञानमार्ग में विशेषता(अंतर) यह है कि, यहाँ वारंवार जन्म लेना पड़ता है और दीर्घकाल में जाकर मुक्ति होती है । निष्काम/निःस्वार्थ रहते हुए कर्म करना चित्त को शुद्ध करने के लिये किया जाता है, कर्ममार्ग में पत्नी के बिना यज्ञ आदि करना सम्भव नहीं होता अतः पत्नी को संग रखने पर परित्याग भी संभव नहीं बन पायेगा !

पत्नीसाहित्येपि निष्कामतया कर्माचरणं संन्यास एवेति चेत् सोपि कलौ देशादिशुद्ध्यभावान्न सम्भवतीत्याहुः सुतरां कलिकालत इति । यद्वा । आयुषश्चतुर्थभागे संन्यास इति यन्मतं तस्मिन्नपि मते भक्तिं ज्ञानं च विना केवलं कर्ममार्गे विरक्तिं विना न कर्त्तव्यः परित्यागः किन्तु विरक्तावेवेति भक्तेर्ज्ञानस्य वा सिद्धदशां विना न सम्भवतीति कर्ममार्गे न परित्यागः, सुतरां कलिकाले ।।२।।

अब कोई ऐसा कहता हो कि, पत्नी को संग रखकर भी यदि निष्कामभाव से कर्म किए जाएँ तो वह संन्यास ही है- तो आचार्यचरण **सुतरां कलिकालतः** इत्यादि शब्दों से यह कह रहे हैं कि, कलिकाल में देश-काल-द्रव्य इत्यादि शुद्ध नहीं होते अतः ऐसा करना संभव नहीं होता। अथवा, तो आचार्यचरण **सुतरां कलिकालतः** इत्यादि शब्दों से यह कह रहे हैं कि, "आयु के चौथे भाग में संन्यास लेना चाहिए" ऐसा जिनका मानना है, उनके मतानुसार भी यदि केवल आयु का चौथा भाग आ जाने मात्र को लेकर परित्याग करने को प्रवृत्त हो जाया जाय, तो बिना भक्ति के और बिना ज्ञान के कर्ममार्ग में भी विरक्ति आए बिना परित्याग नहीं करना चाहिए अपितु विरक्ति आने पर ही करना चाहिए, और विरक्ति तो भक्ति अथवा तो ज्ञान की सिद्धदशा तक पहुँचे बिना आनी संभव नहीं होती अतः आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, कर्ममार्ग में परित्याग नहीं करना चाहिए, तिस पर कलिकाल में तो कदापि नहीं करना चाहिए ॥2॥

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत्स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ।।३।।
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ।।४।।
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।

स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ।।५।।
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ।।६।।
विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ।।७।।

श्रवणादीनां निरन्तरमव्यग्रतया सिद्ध्यर्थं यदि स नेष्यते भावोद्बोधकत्वाद्भगवदीयाः सहायास्तेषां संगेन श्रवणादयः साधनीयाः । पूजादीनां साधनं च रक्ष्यम्, साधनदशायां अभिमानश्च विद्यते । 'तावत्कर्माणी'ति वाक्यात् साधनदशायां पूर्णविरक्त्यभावाद्वेदादिरूपभगवन्नियोगाद्वर्णाश्रमधर्माः कर्तव्या एव । संन्यासधर्मैः सह श्रवणादीनां विरोधोऽपि ।

श्लोक में **श्रवणादीनां..... साध्यत्वात्** इत्यादि पदों का अर्थ है- निरन्तर यानि अव्यग्रता/व्यवधानरहित होकर श्रवणादि सिद्ध करने के लिए यदि संन्यास लेते हैं, तो **स नेष्यते** यानि वह आचार्यचरणों को इष्ट नहीं है। इसलिए यदि श्रवणकीर्तन ही सिद्ध करने हों, तो भगवदीय तो अपने भावों को बढ़ाने वाले होते हैं अतः श्रवणकीर्तन सिद्ध करने में वे सहायक होते हैं, इसलिए उनका संग प्राप्त करके श्रवणकीर्तन सिद्ध करने चाहिए, परित्याग करके नहीं। जबकि श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के लिए तो पूजा आदि के साधनों की भी संभाल रखनी होगी और चूँकि जीव की इस समय साधनदशा चल रही होती है अतः उसमें अभिमान भी रहा ही होता है एवं *"कर्म तब तक करते रहने चाहिए, जब तक मेरी लीलाकथा के श्रवणकीर्तन आदि में श्रद्धा उत्पन्न न हो जाए(श्री0भा-11/20/9)"* इस वाक्यानुसार भक्ति की साधनदशा में जिस समय कि पूर्णविरक्ति उत्पन्न नहीं हुई होती है, ऐसे समय में उपरोक्त श्लोकानुसार श्रद्धा उत्पन्न हो जाने तक वर्णाश्रमधर्मों का निर्वाह करने की वेदादिरूप भगवदाज्ञा का भी पालन करना ही होता है और संन्यास के धर्मों के साथ श्रवणकीर्तन आदि की प्रक्रिया भी विरुद्ध है।

गृहे भगवदीयैः संगाभावात्त्यागः कार्य इति चेत्तत्राहुर्गृहादेरिति । गृहत्यागे कदाचित्कुत्रचित्सत्संगः स्यादित्याशया कार्य इति चेत्तत्राहुः स्वयं चेति । विषयैरन्तःकरण आक्रान्ते सत्संगार्थं तस्योद्यम एव न भवतीति भावः ।। ३ ।। ४।। ५।। ६।। ७।।

अब यदि घर में भगवदीयों का संग नहीं मिल पा रहा है, इस कारण कोई गृहत्याग करना चाहता हो, तो आचार्यचरण **गृहादेः** से लेकर **नान्यथा** तक के शब्दों से यह आज्ञा कर रहे हैं कि, उक्त कारण से गृहत्याग करने पर भी आगे जाकर वैसे ही अभगवदीयों का संग मिलता है, अतः नहीं करना चाहिए। और यदि कोई "गृहत्याग करने पर कभी न कभी, कहीं न कहीं तो सत्संग मिलेगा ही" ऐसा सोचकर गृहत्याग करना चाहे तो, तो आचार्यचरण **स्वयं च** से लेकर **नैव त्यागः सुखावहः** तक के शब्दों द्वारा यह आज्ञा कर रहे हैं कि, गृहत्याग करने पर भी आगे चलकर अभगवदीयों का ही संग मिलता है और उनका संग पाकर वह स्वयं भी उनकी भाँति विषयों से आक्रान्त हो जायेगा और पाखण्डी कहलायेगा अतः उक्त कारणों से त्याग करना सुखावह नहीं है। तात्पर्य यह कि, सांसारिक विषयों से जब अन्तःकरण आक्रान्त हो जाता है, तब जीव सत्संग करने का प्रयत्न ही नहीं करता, इसलिए गृहत्याग करना व्यर्थ हो जायेगा- यह भाव है ॥3,4,5,6,7,॥

कौण्डिन्यगोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ।।८।।
विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ।।९।।
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ।।१०।।

कौण्डिन्यादावपि भावनयैव भावः सिद्ध इत्याहुर्भावो भावनयेति । ज्ञानं ब्रह्मज्ञानम्, गुणाः सत्त्वादयश्च, भगवदिच्छया यदि भवन्ति तदा ते बाधकाः । यत्र भावना साधनं तत्र भावनानुरूपं फलम् । ननु तादृशस्य ज्ञानं गुणाश्च कथं बाधका भवेयुस्तत्राहुर्भावना साधनं यत्रेति । तथा च यादृशी भावना तदनुरूपं फलम् । तेन यावत्पर्यन्तं तल्लीलाभावना तावत्तदनुरूपं फलं, यावद् ब्रह्मज्ञानेन सर्वत्र ब्रह्मभावना तावत्तदनुरूपं फलं, यावच्च सत्त्वादिगुणैः कृत्वा विषयेषु भावना तावत्तदनुरूपं फलम् । तथा च भावभावनानां साधारण्यात् फलेपि तथात्वम् ।

कौण्डिन्य इत्यादि को भी भगवद्भावना करते रहने के द्वारा ही मन में भगवद्भाव सिद्ध हुआ- यह बात बताने के लिए आपश्री ने

भावो भावनया सिद्धः इत्यादि शब्दों से कहा है। **ज्ञानं** का अर्थ है- ब्रह्मज्ञान और **गुणाः** का अर्थ है- सत्त्वरजतम आदि लौकिकगुण; यानि कि यदि भगवान की ही ऐसी इच्छा है कि भगवद्विप्रयोग में विकल हुए जीव के सामने ब्रह्मज्ञान एवं गुणम्बन्धी बातें आतीं हैं, तब वह सर्वत्र ब्रह्मभाव की भावना करने लगता है और तब ये उसके मार्ग में बाधा बनते हैं। कहने का अर्थ यह है कि, भावना जिस प्रकार की होगी या की जायेगी, फिर फल भी उसी के अनुरूप प्राप्त होगा। चूँकि कौण्डिन्य ने भगवद्भावना की थी अतः उन्हें मन में भगवद्भाव ही सिद्ध हुआ था इसलिए जहाँ जैसी भावना साधन है, वहाँ फल भी उसी भावना के अनुरूप प्राप्त होगा। किन्तु किसी को शंका यह होती है कि, भगवद्विप्रयोग में विकल बने जीव को 'ज्ञान' एवं 'गुण' किस प्रकार से बाधक बनते हैं ? तो आपश्री इसका समाधान करते हुए आज्ञा करते हैं- **भावना साधनं यत्र** यानि जैसी और जिसकी भावना करेंगे, फल भी उसके अनुरूप ही मिलेगा। इसका तात्पर्य यह है कि, जब तक भगवल्लीला की भावना करेंगे, तब तक उसी भगवल्लीला के अनुरूप फल मिलेगा; और जब तक ब्रह्मज्ञान के द्वारा सर्वत्र समस्त पदार्थों में ब्रह्म की भावना करेंगे, तब उसी भावना के अनुरूप फल मिलेगा, और जब सत्त्वादि गुणों के कारण सांसारिकविषयों की भावना करेंगे, तब उसी के अनुरूप फल प्राप्त होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि भाव-भावना साधारण विषयों के लिए की है, तो उसका फल भी साधारण ही प्राप्त होगा।

तादृशः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ।।११।।
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनाय भवन्ति हि ।।१२।।

बाधकत्वं विवृण्वन्ति तादृश इति । ब्रह्मभावनादियुक्ताः सत्यलोकादावेव तिष्ठन्तीत्यर्थः । ननु ब्रह्मभावनया किं स्यादित्यत आहुर्बहिरिति । यदि बहिः प्रकाश एव न स्याद्यदि च पश्चाद्वह्निवदन्तर्न प्रविशेत्तदापि न संसारलयः । यदि गुणेष्वासक्तिः स्यात्तदा ते बाधका भवेयुः, परन्तु तादृशानां पूर्वमेव गुणेष्वासक्तेर्निवृत्तत्वाद्गुणाः केवलं जीवनाय भवन्ति, न तु बन्धकाः ।

विरहभाव में आने वाले उन्हीं बाधकों का विवरण आपश्री **तादृशः** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। **तादृशः** अर्थात् ब्रह्मभावना आदि करने वाले ज्ञानीजन **सत्यलोक** आदि में ही सीमित रह जाते हैं- यह अर्थ है। किन्तु यदि ब्रह्मभावना करें तो उसमें आपत्ति क्या है, इसे आपश्री **बहिः** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, ब्रह्मभावना से फलसिद्धि नहीं होगी क्योंकि यदि भगवान बाहर प्रकाशित न हों एवं प्रकाशित होने के पश्चात् लकड़ी में प्रविष्ट होने वाली अग्नि की भाँति यदि पुनः अन्तःकरण में प्रवेश न करें, तब तक ब्रह्मभावना के द्वारा भी जीव की सांसारिक माया नष्ट नहीं होती। और यदि सत्त्वरजतम आदि प्राकृतगुणों में उसकी आसक्ति ही हो जाय, तब तो ये प्राकृतगुण उसके विरहभाव में बाधक बनते हैं, किन्तु यहाँ समझने वाली बात यह है कि, ऐसे विरहीजीवों की तो लौकिकसत्त्वरजतम आदि गुणों के प्रति आसक्ति पहले ही निवृत्त हो चुकी होती है अतः अब ये प्राकृतगुण तो विरहावस्था में केवल कुछ अंश में स्वस्थता देकर उनका जीवन टिकाए रखने में सहायक होते हैं, ऐसा नहीं होता कि उसका मन इन लौकिकगुणों में ही पूर्णरूप से ही रच-पच जाता है अतः लौकिकगुण उसके विरहभाव में बन्धनकारी नहीं बनते।

यद्वा । तादृशानां सर्वत्यागादन्यैः कैश्चिदपि न सङ्गः, प्रचुरविप्रयोगे च जीवनमशक्यम् । यदि च भगवदीयैः सङ्गः स्यात्तदा तद्वार्तयापि जीवनं स्यात्, भगवतश्च तादृशानामपि जीवनमन्येषामुद्धारार्थं सम्पादनीयं भवति । तदा भगवांस्तेषां जीवनार्थं प्राकृतेष्वपि गुणेषु तेषां मनो यत्किञ्चित्संयोजयति ।

अथवा, तो **गुणास्तु..... भवन्ति हि** तक के पदों का दूसरे प्रकार से यों अर्थ करें कि, विरहावस्था में पहुँच चुके तादृशजीवों ने चूँकि समस्त वस्तुओं का त्याग कर दिया होता है अतः उन्हें तब किसी का भी संग नहीं मिलता और प्रचुरवियोग में जीवन जीना अशक्य बन जाता है; यदि उन्हें किन्हीं भगवदीयों का भी संग मिलता होता तो, उनसे भगवच्चर्चा के द्वारा भी जीवन जीना संभव बन सका होता ; साथ ही साथ यह भी है कि, स्वयं भगवान भी ऐसी उच्चविरहदशा में रहने वालों का जीवन टिकाए रखना चाहते हैं ताकि ऐसे उच्चकोटि के जीवों के माध्यम से अन्य भगवदीयजीवों का भी उद्धार हो सके, इसलिए भगवान उनका जीवन टिकाए रखने के लिए एक घड़ी प्राकृतगुणों(लौकिकगुणों)में भी उनका मन लगा देते हैं, ताकि उसका थोड़ा सा ध्यान बँट जाए और विरह में कहीं उनकी देह ही न छूट जाए, परन्तु प्राकृतगुणों में उनका मन लगा देने पर भी ऐसा नहीं होता कि वे भगवद्विप्रयोग का अनुभव करना छोड़ कर पूर्णरूपेण लौकिकगुणों में ही आसक्त हो जाते हैं, इसलिए लौकिकगुण उसके

विप्रयोगभाव में बन्धकारी नहीं बन पाते- यह अर्थ है।

नन्वेवं गुणेष्वासक्त्यभावादत्यन्तवियोगे जीवनं न स्यात्, तथा च जीवनविघातकत्वेन भगवान् बाधकत्वेनाभिमतः स्यादित्याशंक्याहुर्भगवानिति ।

भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ।।१३।।
दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।।१३$^{१}/_{२}$।।

किन्तु एक शंका यह होती है कि, भले ही किसी भी उद्देश्य से भगवान ऐसे जीव का मन प्राकृतगुणों की ओर लगाएँ, परन्तु, ऐसी विप्रयोग की उच्चदशा में पहुँच चुके जीव को प्राकृतगुणों में आसक्ति तो होती ही नहीं अतः उनमें उसका मन रमने वाला भी नहीं है और इसीलिए यदि उसे भगवान का वियोग अत्यन्त बढ़ गया, तो उनका जीवन ही टिक नहीं पायेगा और इस तरह तो स्वयं भगवान ही उसके जीवनविघातक होने सिद्ध हो जायेंगे और उसके मार्ग में बाधकरूप माने जायेंगे !! यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण इसका समाधान करने के लिए **भगवान्.....न बाधकः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

जीवनविघातकत्वेपि प्रतिक्षणं फलरूपभगवद्भावानुभावकत्वान्न बाधकः । न हि तदवस्थातो जीवनमधिकमस्ति । यद्वा । ननु यदि भगवांस्तेषां मनो गुणेषु किञ्चित्संयोजितवांस्तदोत्तरोत्तरं गुणेष्वधिकासक्त्या भगवद्भावस्य विघातःस्यात्, तथा च भावविघातकत्वेन भगवान् बाधकः स्यादित्याशंक्याहुः भगवानिति । नहि भगवान् भावं विहन्तुं गुणेषु तेषां मनः संयोजयति, किन्तु तेषां जीवनार्थम् । तथा च यावता तेषां जीवनं भवति तावदेव तेषां मनो गुणेषु योजयति, न तु गुणेष्वधिकामासक्तिं जनयति । कुतः । फलरूपत्वात् । नहि फलं बाधकं भवति ।

आचार्यचरण यहाँ **भगवान्.....न बाधकः** इत्यादि शब्दों द्वारा यह समाधान दे रहे हैं कि, भले ही भगवद्विप्रयोग जीवनविघातक होता हो, परन्तु भगवद्विप्रयोग प्रतिक्षण फलरूप भगवद्भाव का अनुभव कराने वाला होता है अतः उसे बाधक या जीवनविघातक नहीं समझना चाहिए। विप्रयोग की ऐसी उच्च अवस्था से बढ़कर जीवन नहीं होता। अथवा, कोई ऐसी शंका करे कि, भगवान जीवों के मन में सत्त्वरजतम आदि गुणों को संयोजित तो कर देते हैं, परन्तु, उत्तरोत्तर कहीं उन्हीं गुणों में उसकी आसक्ति बढ़ती चली गयी और उसके भगवद्भाव का विधात हो गया, तो फिर उसके भगवद्भाव का विघात करने के कारण स्वयं भगवान ही उसके बाधक कहे जायेंगे- यदि ऐसी शंका होती हो तो, आचार्यचरण **भगवान्** इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कर रहे हैं। समाधान यह है कि, भगवान उसके भाव का नाश करने के लिये उसका चित्त लौकिक/प्राकृतगुणों की ओर नहीं लगाते, अपितु, उसके जीवन को टिकाए रखने के लिये लगाते हैं। इसका अर्थ यह है कि, जितने अंश से उसका जीवन टिका रह सकता है, केवल उतने अंश तक ही वे उसका चित्त गुणों में लगाते हैं और उसकी गुणों में आवश्यकता से अधिक आसक्ति उत्पन्न नहीं होने देते। ऐसा क्यों ? ऐसा इसलिए क्योंकि भगवान फलरूप हैं और फल कभी भी बाधक नहीं होता।

ननु भगवान् स्वतोन्यद्वारा तेषां स्वास्थ्यवाक्यान्येव कथं न सम्पादयति, येन स्वस्थतया जीवनं भवेत्, तत्राहुः । स्वास्थ्यवाक्यमिति । विप्रयोगभावं बाधित्वा जीवनसम्पादनमनुचितं यतः । न हीतोपि जीवनमधिकमस्ति, अर्हे तव्यः । तथाकरणं चाशक्यम् । न ह्येतद्भावस्य बाधनं भगवतान्येन वा कर्तुं शक्यम् । वक्ष्यन्ति च 'हरिरत्र न शक्नोती'ति । शक्यार्थे तव्यस्तदा । ननु परमदयालुः कथं तेषां जीवने उपेक्षां करोति, तत्राहुः दयालुरिति । न ह्येतादृशभावसम्पादकस्य दयालुता विरुध्यते ।।१३, १३$^{१}/_{२}$।।

अब प्रश्न यह होता है कि, भगवद्विप्रयोग के कारण यदि जीव की दशा इतनी ही विकल है, तो फिर भगवान स्वयं ही या किसी अन्य के द्वारा उन जीवों को स्वास्थ्यवाक्य क्यों नहीं कहते/कहलवाते ताकि वह स्वस्थता/प्रफुल्लता से जीवन जी सके ? तो आचार्यचरण इसका उत्तर **स्वास्थ्यवाक्यम् न कर्तव्यं** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। भगवान स्वास्थ्यवाक्य इसलिए नहीं कहते/कहलवाते क्योंकि विप्रयोगभाव जैसे उच्चभाव को बाधित करके तुच्छ लौकिकजीवन देना तो अनुचित है। भगवद्विप्रयोग से अधिक बढ़कर जीवन नहीं है ; अतः चूँकि भगवान को विप्रयोग में बाधा पहुँचाने वाले स्वास्थ्यवाक्य नहीं कहने चाहिए इसलिए आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- **न कर्तव्यं**(नहीं कहने चाहिए); यानि "नहीं चाहिए" के ही अर्थ में 'तव्य' प्रत्यय का प्रयोग है। और साथ ही साथ दूसरी बात यह भी है कि स्वयं भगवान के लिये भी उसके विप्रयोगभाव में बाधा पहुँचा पाना अशक्य ही है; ऐसी उच्चविप्रयोगदशा में पहुँचे जीव के भाव में बाधा डालनी न भगवान के लिये शक्य है और न ही किसी अन्य के लिए। आगे जाकर

इसी बात को आचार्यचरण "हरिरत्र न शक्नोति(19)" इस पंक्ति द्वारा कहेंगे। यदि ये अर्थ मानेंगे तब 'कर्तव्यं' पद में 'तव्य' प्रत्यय का अर्थ "नहीं कर सकते या संभव नहीं" हो जायेगा। जानना चाहिए कि 'तव्य' प्रत्यय का प्रयोग 'चाहिए' के अर्थ में भी होता है एवं 'सम्भव' होने के अर्थ में भी। 'कर्तव्यं' शब्द में भी तव्य' प्रत्यय है। श्रीगोकुलोत्सवचरणों ने दोनों अर्थों में तव्य प्रत्यय का अर्थ क्या होगा, यह बताया है। किन्तु प्रश्न यह होता है कि, भगवान तो परमदयालु हैं, फिर उनके जीवन की उपेक्षा क्यों करते हैं, यानि भगवान ऐसा क्यों चाहते हैं कि उनका जीवन समाप्त हो जाय ? तो आचार्यचरण **दयालुः** इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कर रहे हैं। आपश्री का इससे तात्पर्य यह है कि, जब भगवान जीव को इतने उच्चविप्रयोगभाव का सम्पादन कर रहे हैं, तो यदि वे उसका जीवन समाप्त भी कर देते हैं, तो यह बात उनकी दयालुता से विरुद्ध नहीं जाती, क्योंकि उच्चविप्रयोगभाव से बढ़कर जीवन नहीं है- यह अर्थ है ॥13,13$^{1}/_{2}$॥

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ।।१४।।
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ।।१५।।
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ।।१६।।
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ।।१६$^{1}/_{2}$।।

ज्ञानमार्गे विविदिषाविद्वत्ताभेदेन द्विविधोपि संन्यासो विचारितः । तद्द्वयमाहुर्ज्ञानार्थमिति । ज्ञानार्थं ज्ञाननिमित्तं यः संन्यासः स एकः, विविदिषासंन्यास इति यावत् । उत्तराङ्गं ज्ञानापेक्षया उत्तरं अग्रिमं मुक्तेरङ्गं यः संन्यासः स द्वितीयः, विद्वत्संन्यास इति यावत् । परन्तु ज्ञानमार्गीयसंन्यासे बहुजन्मभिर्मुक्तिः, न त्वेकजन्मना । 'बहूनां जन्मनामन्त' इति भगवद्वाक्यात् । तयोर्मध्ये विविदिषासंन्यासस्तु युगान्तरे कर्तव्यः, न तु कलावित्याहुः ज्ञानमिति श्लोकेन । तमो रजश्च विहाय केवलसत्त्वान्तःकरणः सन् निष्कामतया यदि यज्ञादिकं करोति तदा ज्ञानमुत्पद्यते । संन्यासे च साम्रयभावाद्यज्ञादिकं न सम्भवति । ज्ञाने च यज्ञादिकं साम्रयत्वेन श्रूयते । सर्वं विहाय वनं गत्वा योगादिना ज्ञानसाधनं च कलौ न सम्भवति । विघ्नानां बाहुल्येनान्तःकरणे लौकिकवासनानामनिवृत्तत्वान्मनःस्थैर्याभावाद्योगादिकमेव न सिध्यति यतः । अतो विविदिषादशायां संन्यासः कलौ पश्चात्तापायैव भवति, न तु सन्तोषायेत्यर्थः ।

श्लोक में आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- ज्ञानमार्ग में 'विविदिषा' एवं 'विद्वत्' यों दो प्रकार के संन्यास का विचार किया गया है। उन्हीं दोनों प्रकार के संन्यास के विषय में आपश्री **ज्ञानार्थमुत्तरांगं च** शब्द से कह रहे हैं। **ज्ञानार्थं** यानि ज्ञानप्राप्ति के लिया जाने वाला संन्यास एक प्रकार का है, जिसे 'विविदिषा-संन्यास' कहा जाता है। **उत्तरांगं** यानि ज्ञानप्राप्ति हो जाने के पश्चात् मुक्ति का अंगभूत जो संन्यास होता है वह दूसरे प्रकार का संन्यास है, जिसे 'विद्वत्-संन्यास' कहा जाता है। परन्तु ज्ञानमार्गीयसंन्यास में अनेक जन्मों में जाकर मुक्ति प्राप्त होती है, उसी जन्म में नहीं। जैसा कि *"बहुत जन्मों के पश्चात् अन्त में ज्ञानीपुरुष मेरी शरण आता है। ऐसा महात्मा मिलना तो बड़ा दुर्लभ है(भ0गी-7/19)"* इस भगवद्वाक्य में भी कहा गया है। इन दोनों प्रकार के संन्यासों में से विविदिषा-संन्यास तो अन्य दूसरे युगों में लिया जाने वाला संन्यास है, कलियुग में नहीं- यह आपश्री ने **ज्ञानं..... नान्यथा** इस श्लोक द्वारा कहा है। ज्ञानप्राप्ति के लिए तो ऐसा नियम है कि, तामस और राजस वृत्ति को छोड़कर केवल अपने अन्तःकरण को सात्त्विक बना लेने के पश्चात् यदि निःष्कामभाव से यज्ञ आदि किए जायेंगे, तब ज्ञानप्राप्ति होगी। और संन्यास लेने पर यज्ञसम्बन्धी सामग्रियाँ न मिलने के कारण यज्ञ करना संभव नहीं बन पायेगा। जबकि ज्ञानप्राप्ति के लिए यज्ञ आदि को उपयोगी सामग्री माना जाता है। और सब कुछ छोड़ कर वन में चले जाने पर योग आदि के द्वारा ज्ञान को सिद्ध करना कलिकाल में संभव नहीं होता। कलिकाल में विघ्नों की बहुलता है अतः अन्तःकरण में लौकिकवासनाओं की निवृत्ति न हुई होने के कारण मन स्थिर नहीं रह पाता और जिसके कारण योग आदि भी सिद्ध नहीं हो पाते। अतः विविदिषादशा में कलिकाल में संन्यास लेना केवल पश्चात्ताप ही कराता है, संतोष नहीं देता- यह अर्थ है।

किञ्च । चित्तस्थैर्याभावे सति ततोधिकं पाषण्डित्वमपि भवेदित्यपिशब्दः । चकारात्तत्कार्यरूपो नरकश्च । तस्मात् ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं विविदिषादशायां न संन्यसेत् । अथवा ज्ञानेन हेतुना संन्यसेत् , नतु ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वम् । युगान्तरे सम्भवेदपि, कलौ तु

ोषाणामतिप्रबलत्वात् कथमपि न निर्वहतीत्याहु: सुतरामिति स्थितं पर्यवसन्नम् ।।१४, १५, १६, १६$^{1}/_{2}$।।

ौर, इससे अधिक बड़ी आपत्ति यह आती है कि, चूँकि संन्यास लेने के बाद भी चित्त स्थिर नहीं हुआ होता है तः ऐसा संन्यासी पाषण्डी भी कहलायेगा- यह **अपि** शब्द का अर्थ है। **च** शब्द से यह भी ज्ञात होता है कि, ाषण्ड करने के कारण नर्क भी भोगना पड़ेगा। इसलिए आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- **ज्ञाने न** अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के लेए विविदिषादशा में संन्यास नहीं लेना चाहिए। अथवा तो **ज्ञाने न** पाठ के स्थान पर **ज्ञानेन** पाठ मान लें। ुसका अर्थ यह होगा कि, ज्ञानप्राप्त हो जाने के कारण अब संन्यास लीजिए, न कि ज्ञान उत्पन्न होने मे पहले। न्य युगों में तो ज्ञान उत्पन्न होने से पहले भी संन्यास लेना संभव बन सकता था, किन्तु, कलिकाल में तो ोषों की बहुलता होने के कारण संन्यास का निर्वाह कदापि नहीं हो सकता है- यह बात आपश्री ने **सुतरां**..... े लेकर **स्थितं** तक के शब्दों द्वारा कही है ॥14, 15, 16 $^{1}/_{2}$॥

नु यदि कलौ दोषा: प्रबला एव, तदा भक्तिमार्गेपि कथं फलसिद्धिरित्याशंक्य भक्तिमार्गे दोषलेशोपि नास्तीत्याहु: क्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ।।१७।।
अत्रारम्भे न नाश: स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावत: ।
स्वास्थ्यहेतो: परित्यागाद्बाध: केनास्य सम्भवेत् ।।१८।।
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यै: पुपुषु: क्वचित् ।।१९।।
ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रद: प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ।।२०।।
तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मति: ।।२१।।

यदि भक्तिमार्गेपि दोषसम्भावना तदा कर्तव्यत्वेन किमुच्यते । एकोपि दोषो नास्तीति ज्ञापनार्थमेकवचनम् । तमेव ोषाभावप्रकारमाहु: अत्रारम्भ इति । अत्र भक्तिमार्गे आरम्भे प्रवेशमात्र एव नाशो न भवति । यदि भक्तिमार्गेपि ोषा: स्यु:, तदा कदाचिन्नाशोपि स्यात्, न त्वेवम्, तेन दोषसम्भावनैव नास्ति ।

केन्तु यहाँ आशंका यह होती है कि, यदि कलिकाल में दोष इतने ही प्रबल हैं, तो फिर भक्तिमार्गीयपरित्याग करने पर भी कैसे फलसिद्धि हो सकेगी !!! तो आपश्री इसका समाधान **भक्तिमार्गेपि** इत्यादि शब्दों से करते हुए यह कह रहे हैं कि, भक्तिमार्ग में तो लेशमात्र भी दोष नहीं हैं।

क्तिमार्गे.....कार्यमुच्यते इस पंक्ति का अर्थ है- कोई ये प्रश्न करता है कि, यदि भक्तिमार्ग में भी दोषसंभावना लगती ो तो आप जीव को क्या करना बतायेंगे ? तो समझिए कि भक्तिमार्ग में तो एक भी दोष नहीं है- यह बताने के लिए आचार्यचरणों ने 'दोष' शब्द एकवचन में दिया है। दोष न होने के प्रकार को ही आपश्री **अत्रारम्भे** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- भक्तिमार्ग में आरम्भकाल से ही, यानि प्रवेश लेने के साथ ही नाश की संभावना नहीं रहती। तात्पर्य यह कि यदि भक्तिमार्ग में भी दोष होते तो कदाचित् नाश होता भी, परन्तु ऐसा है ही नहीं, अतः आपश्री "दोष की संभावना ही नहीं है" यों कह रहे हैं।

नु भक्तिमार्गीयाणामपि क्वचित्कामक्रोधादयो दृश्यन्ते, तत्कथं सर्वात्मना दोषाभाव इति चेत् । सत्यम् । (तत्सम्बन्ध्यङ्गीकारो) भगवदङ्गीकारो हि नित्य: । नहि भगवानङ्गीकृतं कदाचिदप्यनङ्गीकरोति । तेन यत्र क्वचिद्दोषा अपि दृश्यन्ते, तत्रापि क्रमेण दोषानपसार्य भगवान् फलं सम्पादयत्येव । अतो यथा यथा भगवान् तेषां हृदि भक्तिमार्गमानयति, तथा तथा दोषापगम: । अतो यदंशे भक्तिमार्गाप्रवेशस्तदंश एव दोषसत्त्वम्, तेन भक्तिमार्गे ोषाणामसम्बन्ध एव । किञ्च । न वा क्वचिदिदं दृष्टचरं श्रुतं वा यद्भक्तिमार्गे प्रविष्टस्यापि नाशो जात इति । तेन दृष्टान्तस्याप्यभावान्न भक्तिमार्गे दोषलेशोऽपि । अत एव भरतस्य जन्मान्तरायेपि फलसिद्धि: । अत एव मथुरास्थसत्रिणां मध्ये बहिर्मुखत्वेपि पश्चात् पश्चात्ताप एव ।

किन्तु किसी को शंका यह होती है कि, भक्तिमार्गीयों में भी कभी-कभी काम, क्रोध इत्यादि देखे जाते हैं, फिर कैसे मान लिया जाय कि भक्तिमार्ग में किसी भी प्रकार से दोष होते ही नहीं !!! आपकी बात ठीक है, किन्तु यह समझिए कि भगवान का अपने भक्त को स्वीकार करना नित्य है यानि भगवान एक बार यदि किसी को स्वीकार लें, तो कदापि उसका त्याग नहीं करते। इसलिए यदि कहीं किसी में कोई दोष दिखाई भी पड़ते हों, तथापि वस्तुस्थिति यह है कि उन दोषों को स्वयं भगवान दूर करके उसे फलदान करते ही हैं अतः इसका तात्पर्य यह हुआ कि, जैसे-जैसे भगवान उसके हृदय में भक्तिमार्ग को स्थापित करते जाते हैं, वैसे-वैसे उसके दोष भी दूर होते चले जाते हैं। अतः जितने अंश में उसका भक्तिमार्ग में प्रवेश नहीं होता, तब तक उतने ही अंश में दोष विद्यमान रहते हैं, इसलिए वास्तव में तो भक्तिमार्ग में दोषों मे सम्बन्ध होता ही नहीं। और, एक बात यह भी है कि, कहीं कभी ऐसा न देखने में आया है और न ही सुनने में कि, भक्तिमार्ग में प्रविष्ट हुए जीव का कभी नाश हुआ हो। इसलिए चूँकि ऐसा एक भी दृष्टान्त नहीं मिलता अतः भक्तिमार्ग में तो लेशमात्र भी दोष नहीं है। इसी कारण भरतजी को भले ही तीन जन्म लग गए परन्तु फिर भी फलसिद्धि अवश्य हुई। और इसीलिए मथुरा के ब्राह्मण पहले तो अपने यज्ञ इत्यादि कर्मकांडों में लगे रहे और भगवान से वहिर्मुख भी हुए परन्तु बाद में उन्हें पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने भगवान की अवहेलना करने के कारण खुद की निन्दा भी की(देखें श्री0भा-10/23/37 से 51)।

ननु भक्तिमार्गे नाशो न भवतीति सत्यं, परन्तु यदि भक्तिमार्गं न त्यजेत् । तथा च साधनदशायामत्यागेपि सिद्धदशायामत्यन्तविप्रयोगक्लेशमसहमानः सन् मनःस्वास्थ्यनिमित्तं तन्मार्गं परित्यज्य लौकिकपदार्थमेव यदि किञ्चित्परिगृह्णीयात्तदा नाशो भवत्येवेति चेत्तत्राहुः स्वास्थ्यहेतोरिति । यदैव भगवन्मार्गे प्रवेशस्तदैव लौकिकस्य परित्यागः, तदनन्तरं च यथा यथा भगवद्भावस्तथा तथा लौकिकेष्वधिकाधिकैवाऽरुचिर्जायते । तथा च लौकिकस्य स्वास्थ्यहेतोः सर्वस्यैव परित्यागात् केन पदार्थेनास्य भगवद्भावस्य बाधः अन्तरायः सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । यदि कदाचिदत्यन्तं विप्रयोगभावेनातिक्लेशादिदमपि मनस्यायाति यत्कथमपि यद्ययं भावो निवृत्तो भवेत्तदा सम्यगिति तथाप्यशक्यो भावस्य परित्यागः । न ह्येतादृशः क्षणमपि भगवन्तं विस्मर्तुं शक्नोति । न वान्येन पदार्थेनैतादृशस्य मनःस्वास्थ्यं सम्भवति ।

किन्तु एक शंका यह होती है कि, भक्तिमार्ग में नाश नहीं होता यह तो ठीक है परन्तु भक्तिमार्ग का त्याग न करें, तब। यानि की साधनदशा में चलो भक्तिमार्ग का त्याग न भी किया हो, परन्तु सिद्धदशा आने पर अत्यधिक विप्रयोग के क्लेश को सहन न करते हुए मन को स्वस्थ बनाने के लिए भक्तिमार्ग का परित्याग करके यदि थोड़ा सा भी लौकिकपदार्थ ग्रहण कर लिया, तो नाश हो ही जाता है; यदि ऐसी शंका होती हो तो, आचार्यचरण इसका समाधान **स्वास्थ्यहेतोः** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इससे आपश्री को यह बताना है कि, जिस क्षण इस भगवन्मार्ग में जीव का प्रवेश होता है, उसी क्षण वह लौकिक का परित्याग कर देता है, और उसके पश्चात् जैसे-जैसे उसका भगवद्भाव बढ़ता चला जाता है, वैसे-वैसे उसकी लौकिक के प्रति अरुचि अधिकाधिक बढ़ती ही चली जाती है। इसका अर्थ यह है कि, जब उसने मन को स्वस्थ बनाने वाले सभी लौकिकपदार्थों का परित्याग कर दिया है, फिर किस पदार्थ द्वारा उसके भगवद्भाव का नाश होना संभव बन सकता है !! किसी से भी नहीं। और यदि कदाचित् अत्यन्त विप्रयोगभाव के कारण मन में अतिक्लेश होने से उसके मन में एकबारगी ऐसा भी आ जाय कि, "येनेकेनप्रकारेण इस विप्रयोग से मुझे छुटकारा मिले तो अच्छा" तब भी उसके लिए इस भाव का परित्याग करना अशक्य होता है। क्योंकि विप्रयोग की ऐसी उच्चावस्था में पहुँचा हुआ जीव क्षणमात्र के लिए भी भगवान को विस्मृत नहीं कर सकता। और न ही भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ से ऐसे जीव को स्वस्थता ही मिल सकती है।

यद्वा, स्वास्थ्यहेतोः स्वास्थ्यनिमित्तम् । लौकिकं हि सर्वं तस्योद्वेगकारीति स्वास्थ्यनिमित्तं सर्वस्य लौकिकस्य परित्यागात् केन पदार्थेन अस्य भावस्यान्तरायो भवेत्, न केनापीत्यर्थः ।

अथवा, **स्वास्थ्यहेतोः परित्यागात्**(स्वास्थ्य पाने के लिए ही परित्याग किया था इसलिए) इत्यादि पदों का दूसरे प्रकार से यों अर्थ करें कि, स्वास्थ्य पाने के लिए ही तो उसने सभी का परित्याग किया होता है ; यानि ऐसे गूढ़भगवद्भाव रखने वाले जीव के लिए तो समस्त लौकिकपदार्थ उद्वेगकारी होते हैं अतः उन उद्वेगों से छुटकारा पाकर अपने मन को स्वस्थ बनाने के लिये ही तो(स्वास्थ्यहेतोः) उसने समस्त लौकिकपदार्थों का परित्याग किया होता है अतः अब कौन सा लौकिक बचा जिसके द्वारा उसके भगवद्भाव में बाधा आनी शेष रह गयी !!! किसी के भी द्वारा नहीं- यह अर्थ है।

अथवा । स्वास्थ्यहेतोः स्वास्थ्यनिमित्तं परित्यागात् भगवद्भावस्य परित्यागात् । अयं भावः । भगवद्भावत्यागो हि स्वास्थ्यनिमित्तं कर्तव्यः, तच्चान्येन न सम्भवति । न ह्येतादृशस्यान्येन स्वास्थ्यं सम्भवति । तथा च केनान्तरायः सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थः । वस्तुतस्तु भावत्याग एव न सम्भवतीति पूर्वमुक्तमिति निगर्वः ।

अथवा, **स्वास्थ्यहेतोः *भगद्भावस्य* परित्यागात्**।

अथवा, **स्वास्थ्यहेतोः परित्यागात्** इत्यादि पदों का अर्थ है- भगवद्भाव का परित्याग। इस प्रकार से अर्थ करने से तात्पर्य यह है कि, चूँकि अब भगवान का विप्रयोग असहनीय हो चला है अतः कुछ स्वस्थता मिल जाए इस हेतु से यदि भगवद्भाव का परित्याग कर दिया जाय- यदि कोई ऐसा सोचता हो तो, स्वस्थ होने के लिए भगवद्भाव का परित्याग तो तब किया जा सकता था, जब भगवद्भाव का परित्याग करना संभव हो सकता होता, किन्तु इस प्रकार के विप्रयोग में जीव का भगवद्भाव किसी अन्य प्रकार से शांत होना संभव ही नहीं होता। इस प्रकार की विप्रयोग की उच्चदशा में पहुँच चुके जीव को भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से स्वस्थता मिल ही नहीं सकती। तात्पर्य यह कि, ऐसे भगवद्भाव में कौन बाधा उत्पन्न कर सकता है ? कोई भी नहीं- यह अर्थ है। वास्तव में तो बात यह है कि, भगवद्भाव का त्याग करना संभव ही नहीं है, यह हम पहले कह ही चुके हैं।

नन्वेतादृशस्य स्वयं भावत्यागो न सम्भवतीति सत्यम् । परन्तु यदि कालादयः प्रतिबन्धं कुर्युः, तदा नाशो भवेदेवेति चेत्, तत्राहुर्हरिरिति । अत्र विप्रयोगभावे भगवानपि प्रतिबन्धं कर्तुं न शक्नोति, तत्र के वराकाः कालादय इत्यर्थः । न चैवमसामर्थ्यं भगवतः । वस्तुन एव तथात्वात् ।

चलो, ऐसे दृढ़ विप्रयोग का भाव रखने वाला स्वयं अपने भगवद्भाव का त्याग नहीं कर सकता यह बात ठीक है, परन्तु, यदि काल आदि ही प्रतिबन्ध करें, तब तो उसके भाव का नाश होना ही है- यदि कोई ऐसी शंका करता हो, तो आचार्यचरण **हरिः** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। इससे आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, इस प्रकार का विप्रयोगभाव दृढ़ होने पर जब स्वयं भगवान भी उसमें प्रतिबन्ध नहीं कर सकते, तब बेचारे काल आदि की तो बिसात ही क्या !! यह अर्थ है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं निकालना चाहिए कि भगवान असमर्थ हैं या उनमें सामर्थ्य नहीं है, परन्तु, इस भगवद्विप्रयोगभाव का वस्तुतः स्वभाव ही ऐसा है कि, भगवान भी उस भाव में प्रतिबन्ध नहीं करते।

ननु भक्तिमार्गे प्रवेशे सति सर्वथा न सम्भवति नाशः, परन्तु भक्तिमार्गप्रवेशे तु केवलं भगवदङ्गीकार एव मूलम् । नहि भगवदङ्गीकारं विना भक्तिमार्गरुचिर्भवति । भगवतश्च किं प्रयोजनं येन प्रवेशयेत्, तथा च कथं फलसिद्धिरित्याशंक्य भगवान् केवलं कृपयैव प्रवर्तयतीति दृष्टान्तेन बोधयन्ति अन्यथेति । यदि प्रयोजनं विना कोपि न प्रवर्तेदेव, तदैतावत्कालं विश्वस्मिन् बालान् मातरो न पुपुषुरित्येव त्वयोक्तं स्यात् न त्वेवम् । किन्तु पुपुषुरेव । तथा भगवानपि प्रयोजनं विनैव केवलं कृपयैव सर्वं सम्पादयतीत्यर्थः । अग्रे बालानां प्रयोजनसहस्रसाधकेत्वपि मातृणां तदुद्देशेन न प्रवृत्तिः, किन्तु केवलं वात्सल्यादेव सर्वं सम्पादयतीत्याशयः ।

अब यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, भक्तिमार्ग में प्रवेश करने के पश्चात् जीव का किसी भी प्रकार से नाश नहीं होता, यह बात तो ठीक है, परन्तु, मूल बात तो यह है कि, जीव का भक्तिमार्ग में प्रवेश ही तब होता है, जब भगवान उसका वरण करें। भगवान द्वारा वरण करे बिना जीव की भक्तिमार्ग में रुचि ही उत्पन्न नहीं होती ! अब प्रश्न यह है कि, भगवान किस प्रयोजन से जीव को भक्तिमार्ग में प्रवेश करवाते हैं ? और क्यों उसे फलसिद्धि भी करवाते हैं ? इस प्रकार की आशंका होने पर आगे आपश्री **अन्यथा** इत्यादि दृष्टान्त से यह बता रहे हैं कि, भगवान केवल कृपा के कारण ही जीव को भक्तिमार्ग की ओर प्रवृत्त करवाते हैं। तात्पर्य यह कि, आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- यदि तुम ऐसा मानते हो कि, प्रयोजन के बिना तो कोई किसी कार्य में प्रवृत्त ही नहीं होता, तो फिर तुम्हें ऐसा भी कहना चाहिए था कि, इतने समय तक इस विश्व में माताओं ने भी बिना किसी प्रयोजन के अपने बालकों का पोषण नहीं किया होगा ! परन्तु ऐसा संभव नहीं है, माताएँ अपने बालकों का पोषण बिना किसी प्रयोजन के करती ही हैं। उसी प्रकार भगवान भी बिना किसी प्रयोजन के केवल कृपा के कारण ही सभी कुछ सम्पादित करते हैं- यह अर्थ है। आगे जाकर बालक माता के हजार कार्य भी क्यों न कर सकते हों, परन्तु, माताएँ उस उद्देश्य से उनका पोषण नहीं करती, किन्तु केवल बालक के प्रति वात्सल्यभाव के कारण ही सभी कुछ करती हैं- यह आशय है।

ननु भगवदङ्गीकारात् प्रवृत्तस्यापि यदि ज्ञानमार्गीयैः संसर्गः स्यात्, तदा तद्वाक्यैर्बुद्धिविपर्यासे कथं फलसिद्धिरिति चेत्, तत्राहुर्ज्ञानिनामपीति । न हि भगवदङ्गीकारमभिभूय तद्वाक्यानि बुद्धिं विपर्यासयितुं शक्नुवन्ति । भगवांश्च यं भक्तिमार्गेऽङ्गीकृतवांस्तं कदापि ज्ञानिवाक्यैर्नान्यथा करोति । सिद्धदशायां तु न सम्भवत्येव, कदाचित्साधनदशायां

सम्भवेदित्याशंक्येदमुक्तम् । यद्वा । ज्ञानिनो विविधबुद्धिप्रकारकुशलाः । तेनात्यन्तचतुरेणाप्यन्यथा बोधयितुमशक्यो भक्तः । अग्रेपि कदापि मोहं न जनयतीति भविष्यत्प्रयोगः ।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, भले ही जीव भगवान द्वारा अंगीकार किए जाने के बाद ही भक्तिमार्ग में प्रवृत्त हुआ हो, तथापि, यदि कालान्तर में ज्ञानमार्गीयों से उसका संसर्ग हो जाए और उनके वाक्यों से प्रभावित होकर उसकी बुद्धि पलट जाए, तो उसे कैसे फलसिद्धि हो सकेगी ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण **ज्ञानिनामपि** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, जिस जीव में भगवदंगीकार की प्रधानता है, उसकी बुद्धि को ज्ञानमार्गीयों के वाक्य पलट नहीं सकते। भगवान भी जिनको भक्तिमार्ग में अंगीकार कर चुके हैं, उनके भाव को ज्ञानमार्गीयवाक्यों द्वारा कदापि नष्ट नहीं करते। सिद्धदशा में तो खैर भाव नष्ट होना संभव ही नहीं होता, हाँ कदाचित् साधनदशा में ऐसा हो सकता होगा"- ऐसी आशंका का समाधान करने के लिए आचार्यचरणों ने यह बात कही है। अथवा, ज्ञानीजन का अर्थ है- जो विविध प्रकार की बुद्धि द्वारा व्यक्ति को मोहित/भ्रमित करने की चतुरता रखते हों। इससे अर्थ यह निकलेगा कि, कोई चाहे कितना भी चतुर क्यों न हो, ऐसी उच्चविप्रयोगदशा में जा पहुँचे भक्त को अपनी बातों से बहला नहीं सकता। ज्ञानीजन उसे अभी तो ठीक परन्तु आगे भी कभी मोहित/भ्रमित नहीं कर सकते- यह बात बताने के लिए आपश्री ने **मोहयिष्यति** यों भविष्यकालीनक्रिया का प्रयोग किया है।

ननु कथं ज्ञायते भगवान्नैव मोहयिष्यतीति, न ह्युत्तमपदार्थं कोपि कस्मैचिद्दातुं समीहत इति चेत्, तत्राहुरात्मप्रद इति । यः स्वात्मानमपि प्रयच्छति तस्य सर्वफलदाने कः सङ्कोचः । तेन महोदारत्वात् सर्वस्वमपि ददाति, न तु मोहयति । प्रियश्च अतः प्रीतिकर्तृभ्यः सर्वस्वदानमुचितमेव । परमकृतज्ञत्वात् । निर्णयमाहुस्तस्मादिति । उक्तप्रकारेण सिद्धदशां प्राप्य स्वार्थात् स्वप्रयोजनात् ।।१७-२१।।

"किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, कैसे पता चले कि भगवान उस भक्त को मोहित/भ्रमित नहीं ही करेंगे !!! क्योंकि भगवान ज्ञान, मोक्ष इत्यादि तो सरलता से दे देते हैं परन्तु उत्तमभक्ति नहीं देते और कोई अपना उत्तमपदार्थ क्यों किसी को देना चाहेगा ! अतः जब बात उत्तमभक्ति देने पर आयेगी तो भगवान अवश्य उसे मोहित/भ्रमित करेंगे ही !" यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण **आत्मप्रदः** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। 'आत्मप्रद' पद से आपश्री यह समझाना चाह रहे हैं कि, जो भक्त को अपनी आत्मा तक दे सकता हो, ऐसे भगवान को उसे फलदान करने में भला क्या संकोच हो सकता है ? इसलिए महोदार होने के नाते वे भक्त को अपना सर्वस्व दे देते हैं, उसे मोहित/भ्रमित नहीं करते। भगवान प्रिय भी हैं अर्थात् अपने भक्तों से प्रीति करने वाले हैं अतः भगवान के लिए यदि सर्वस्वदान करने की बात कही गयी है, तो वह उचित ही है, क्योंकि भगवान अपने भक्तों के प्रति परमकृतज्ञ हैं। अब आचार्यचरण **तस्मात्** इत्यादि वाक्यों से इस ग्रन्थ का निर्णय कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- इस ग्रन्थ में कहे प्रकारानुसार सिद्धदशा में पहुँचने के बाद ही परित्याग करना चाहिए, **अन्यथा** आप अपने प्रयोजन से भ्रष्ट हो जायेंगे ॥17-21॥

उपसंहरन्ति इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ।।२२।।

कृष्णः श्रीगोकुले प्रकटः । नहि तत्प्रसादं विनैतद्भावतत्त्वं ज्ञातुं शक्यम् । अत एव तद्वल्लभत्वं स्वस्मिन् नाम्नैवाहुः । संन्यासवरणं संन्यासाङ्गीकारः । भक्तौ भक्तिमार्गे । यद्यपि ज्ञानमार्गेपि संन्यासनिर्णय उक्तः, तथाप्येतद्विचारं मनस्यागते तस्य पुरुषार्थेष्वेव गणना जायते । अन्यथा सिद्धदशां विना पातः पूर्वस्थितभावात् प्रच्युतिः ।।२२।।

अब आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में **इति** इत्यादि शब्दों से इस ग्रन्थ का उपसंहार कर रहे हैं।

कृष्णः यानि गोकुल में प्रकट होने वाले कृष्ण। आपश्री आज्ञा करते हैं कि, कृष्ण की प्रसन्नता के बिना इस ग्रन्थ में कहे भावतत्त्व को जानना शक्य नहीं है। अतएव कृष्ण के प्रिय होने की बात आपश्री ने अपना नाम 'वल्लभ' का उल्लेख करके ही कह दी है। **संन्यासवरणं** का अर्थ है- संन्यास स्वीकार करना। **भक्तौ** यानि भक्तिमार्ग में। यद्यपि ज्ञानमार्ग में भी संन्यासनिर्णय के विषय में कहा गया है, तथापि जब इस ग्रन्थ में बताए गए भक्तिमार्गीयपरित्याग का विचार मन में आता है, तब तो जीव अपने आप ज्ञानमार्गीयसंन्यास की गणना साधारण पुरुषार्थों में ही करने लगता है, यानि कि परमफल या उत्तमफल के रूप में नहीं, जो इस भक्तिमार्गीयपरित्याग द्वारा प्राप्त होता है। **अन्यथा** शब्द से आपश्री कह रहे हैं- सिद्धदशा पर पहुँचे बिना यदि संन्यास लेने जायेंगे तो पतन हो जायेगा अर्थात् जो स्थिति संन्यास लेने से पहले थी, उससे भी नीचे गिर जायेंगे ॥22॥

प्रणम्य च प्रभुं टीका गोकुलोत्सवसूरिणा ।
श्रीगोविन्दसुतेनेयं कृता संन्यासनिर्णये ।।१।।
इति श्रीगोवर्धनधारिचरणकमलैकतानश्रीगोकुलोत्सवविरचितं संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ।।

प्रभु को प्रणाम करके श्रीगोविन्दसुत-गोकुलोत्सवसूरि ने
'संन्यासनिर्णयग्रन्थ' पर यह टीका की ॥1॥
यह श्रीगोवर्धनधारी के चरणकमलों में एकनिष्ठ श्रीगोकुलोत्सव द्वारा विरचित संन्यासनिर्णय का विवरण समाप्त हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवरणसमेतः ।

पदारविन्दद्वन्द्वं तद्वन्देऽहं दिव्यमद्भुतम् ।
हृदि यद्धारणात् कोपि तापः प्रादुर्भवत्यलम् ।।१।।
मुदा तत् श्रीमदाचार्यपदाब्जं दैन्यदायकम् ।
मुहुः प्रणम्य संन्यासनिर्णयो विवरिष्यते ।।२।।
तथाहि । यावत्प्रेम यत् सकलं पुष्टिमार्गीयमस्ति तत् ।
तावद्विचारितं तत्र संन्यासो न विचारितः ।।३।।
इति तत्स्वरूपविज्ञानाभावेनैव कृते सति ।
तस्मिन् स्वीयो भवेन्मार्गाच्च्युतो हीति सुनिश्चितम् ।।४।।

चाचाश्रीगोपेशविरचित

उन दिव्य-अद्भुत युगलचरणारविन्दों को नमन करता हूँ।
जिनको धारण करने से हृदय में कोई विरला प्रचुरताप प्रादुर्भूत होता है ॥1॥
दैन्य प्रदान करने वाले उन श्रीमदाचार्यचरणकमलों को
वारंवार प्रणाम करके 'संन्यासनिर्णयग्रन्थ' का प्रसन्नतापूर्वक विवरण कर रहे हैं॥2॥
वह इस प्रकार कि - अब तक, जो भी पुष्टिमार्गीय प्रकारक भगवत्प्रेम है,
उन सबका आचार्यचरण विचार कर चुके हैं पर संन्यास का विचार नहीं किया था॥3॥
इस कारण संन्यास के स्वरूप का व्यवस्थित ज्ञान रखे बिना ही यदि संन्यासग्रहण करते हैं,
तो उसमें स्वीयजन मार्गच्युत होंगे- यह सुनिश्चित है ॥4॥

तदानिष्टं स्वकीयस्य मार्गे स्यादिति चेतसि ।
पश्चात्तापो महान् श्रीमदाचार्याणामभूत्ततः ।।५।।
तन्निवृत्त्यर्थमेतस्य विचारोपेक्षितस्ततः ।
हेतुसाधनतश्चैव फलतश्च स्वरूपतः ।।
अधिकारादपि परस्तादृशः स निरूप्यते ।।६।।

तब स्वकीयों का इस मार्ग में अनिष्ट होगा- यह विचार करके,
श्रीमदाचार्यचरणों को चित्त में महान पश्चात्ताप हुआ ॥5॥
उस पश्चात्ताप की निवृत्ति करने के लिए संन्यास पर विचार करना अपेक्षित था, अतः जो संन्यास हेतु-साधन-फल-स्वरूप और अधिकार के दृष्टिकोण से भी श्रेष्ठ है, ऐसे प्रकार का परित्याग आपश्री निरूपित कर रहे हैं ॥6॥

तत्र प्रथमं स्वमार्गाङ्गीकृतस्य स्वमार्गीयभजने प्रवृत्तस्य भक्तिभावदार्ढ्येनान्तरासक्तिसिद्ध्यर्थं श्रीमदाचार्याः परित्यागविचारोपक्रमं कुर्वन्ति ।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ।।१।।

पूर्वपीठिकोक्तपश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः । अन्यत्स्पष्टम् । विचारमेवाहुः स इति । परित्यागः, मार्गद्वितये, भक्तौ पुष्टिमार्गीयायां ज्ञाने च विशेषतः कर्तव्यत्वेन प्रोक्तो, नान्यमार्गे ।।१।।

अब सबसे पहले अपने मार्ग में अंगीकृत हुआ जीव जो कि स्वमार्गीयप्रणालिका से भगवद्भजन करने में प्रवृत्त हुआ है, उसके

भक्तिभाव की दृढ़ता करा के अन्तकरण में भगवदासक्ति सिद्ध कराने के लिए श्रीमदाचार्यचरण परित्याग पर विचार करने का उपक्रम प्रथमश्लोक में कर रहे हैं।

हमने अपनी पूर्वपीठिका में यानि चौथे और पांचवें मंगलाचरण में जिस प्रकार के पश्चात्ताप की बात कही है, उसकी निवृत्ति के लिए आचार्यचरण परित्याग का विचार कर रहे हैं- यह अर्थ है। इसके अतिरिक्त श्लोक का अन्य अर्थ तो स्पष्ट है। उसी का विचार करने के विषय में आपश्री **स मार्गद्वितये** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं - परित्याग करना **मार्गद्वितये** यानि पुष्टिमार्ग में और ज्ञानमार्ग में **विशेषतः** यानि कर्तव्यरूप से कहा गया है, अन्य मार्ग में नहीं कहा गया है ॥1॥

ननु यथा भक्तिः ज्ञानं च मार्गौ तथा कर्मापि मार्ग इति तत्रापि स कर्तव्य इति चेत्, तत्र निषेधमाहुः ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥२॥

कर्ममार्गे तु न कर्तव्यः । सुतरां कलिकालतः । 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादि'ति श्रुतेः अहर्निशं कर्मविधिकृतेरेवावश्यकत्वात् परित्यागानवसर एव । यद्यप्यायुषश्चतुर्थो भागस्तुरीयाश्रमेण नेय इति तत्रापि विधिर्वर्तते, तथापि सुतरां कलिकालदोषेण रोगादिजराजनितपीडया संन्यासाश्रमधर्मनिर्वाहः कर्तुमशक्य इति विपरीतफलकत्वान्न कर्तव्य इति भावः । अतः कारणात् मार्गयोः एव कर्तव्यत्वस्य प्राप्तत्वात् तत्र च स्वोपयोगित्वात् आदौ भक्तिमार्गे तस्य विचारणा विचारकरणम्, तच्च कदा, किमर्थं, कर्तव्यमित्यादिरूपमित्यर्थः ॥२॥

किसी को प्रश्न होता है कि, जिस प्रकार 'भक्ति' एवं 'ज्ञान' ये दोनों मार्ग हैं, उसी प्रकार कर्म भी एक मार्ग है, अतः कर्ममार्ग में भी परित्याग करना चाहिए !!! तो आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में उसका निषेध कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- कर्ममार्ग में परित्याग नहीं करना चाहिए। तिस पर कलिकाल में तो बिल्कुल नहीं करना चाहिए। क्योंकि कर्ममार्ग में तो *"जीवनपर्यंत अग्निहोत्र करते रहें"* इत्यादि वाक्यानुसार अहर्निश कर्मविधियाँ करते रहनी आवश्यक बतायी गयीं हैं अतः परित्याग का तो अवसर ही नहीं रहेगा। यद्यपि "आयु का चौथा भाग चतुर्थाश्रम-संन्यासाश्रम में व्यतीत करें" यह विधि कर्ममार्ग में भी बतायी गयी है, तथापि, कलिकाल के दोषों के कारण रोग आदि एवं वृद्धावस्था की पीड़ा के कारण संन्यासाश्रम के धर्मों का निर्वाह करना शक्य नहीं होता, इसलिए ऐसा आधा-अधूरा संन्यास विपरीत फल देता होने के कारण कर्ममार्गान्तर परित्याग नहीं करना चाहिए- यह भाव है। अतः परित्याग करना तो 'भक्ति' एवं 'ज्ञान' इन दोनों मार्गों में कर्तव्यरूप से प्राप्त होता है और अपने लिए उपयोगी तो भक्तिमार्गीयपरित्याग का स्वरूप समझना है अतः सबसे पहले आचार्यचरण भक्तिमार्ग में परित्याग का स्वरूप कैसा है, इसकी विचारणा कर रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, भक्तिमार्गीयपरित्याग कब ? किसलिए करना चाहिए ? इसका विचार कर रहे हैं ॥2॥

तदेव निरूपयन्ति । यथा ज्ञानमार्गे विविदिषाविद्वद्भेदेन परित्यागस्य द्वैविध्यम्, तथा भक्तिमार्गेपि साधनसिद्ध्यर्थं फलसिद्ध्यर्थं च कर्तव्यत्वे प्राप्ते तत् द्वैविध्यं संभवतीति, तत्र श्रवणादिनवधाभक्तिसाधनार्थं तत्करणे स्वकीयस्य वक्ष्यमाणानिष्टं भविष्यतीति तन्निषेधमाहुः ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यः स च नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात्साधनानां च रक्षणात् ॥३॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥४॥
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥५॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥६॥

परित्यागं कृत्वा श्रवणादीन्साधयामीति यदि कर्तव्यस्तदा स परित्यागो नेष्यते नाङ्गीक्रियते, इष्टसाधकाभावात् । तत्र हेतूनाहुः । श्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात्, श्रवणकीर्तनादिकर्तारः भगवद्धर्मपरा अपि मार्गस्वरूपज्ञानात् गृहस्थिता एव । तेषां सङ्गेन साध्यत्वम्, नान्यथा । अस्य तु त्यागानन्तर'मेकाकी निस्पृहः शान्त' इत्यादिवाक्यादेकाकित्वेनैव

थेतेरावश्यकत्वात् सत्सङ्गाभावेनैव कुतः श्रवणादिसिद्धिरिति तदर्थं न कर्तव्यमेवेति भावः । किञ्च, कदाचित्तत्सङ्गेपि षां गृहस्थत्वेन सांसारिकत्वज्ञानात् त्यागिनः तेषु प्रवृत्तिरेव न । प्रवृत्तावपि ते ह्यस्याग्रे किमपि न कथयन्ति, यतस्ते ार्गस्वरूपज्ञातारः, अयं तु मार्गाच्च्युत इत्यतस्तदर्थं सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । यतः स्वमार्गीयसङ्गाभावे ाधारणसङ्गेन वक्ष्यमाणावस्थैव भवेत्, न तु स्वमार्गज्ञानमपि ।

सी परित्याग के विषय में आपश्री अग्रिमश्लोक में निरूपण कर रहे हैं। जिस प्रकार ज्ञानमार्ग में 'विविदिषा' और 'विद्वत्' के भेद से दो कार से संन्यास लेने का विधान प्राप्त होता है, उसी प्रकार भक्तिमार्ग में भी यद्यपि साधन सिद्ध करने के लिए और फल सिद्ध करने के लिए परित्याग करना प्राप्त होता है इसलिए भक्तिमार्ग में भी दो प्रकार से परित्याग करना प्राप्त होता है, किन्तु इसमें यदि श्रवणकीर्तन आदि नवधाभक्तिरूप साधनों को सिद्ध करने के उद्देश्य से कोई गृह-परिवारजनों इत्यादि का परित्याग करना चाहता हो, तो इससे स्वकीयों का अनिष्ट होगा, जिसके विषय में इस ग्रन्थ में आगे बताया भी गया है अतः आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में उसका निषेध कह रहे हैं।

आपश्री का कहना यह है कि, यदि कोई "मैं परित्याग करके श्रवणकीर्तन इत्यादि साध लूँगा" ऐसा विचार करके परित्याग करना चाहता हो तो, ऐसा परित्याग आपश्री को भक्तिमार्ग में स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि यदि इस हेतु से परित्याग करेंगे तो इष्टप्राप्ति नहीं होगी, यानि जो आपको चाहिए वह नहीं मिलेगा। आपश्री स्वीकार्य न होने का कारण बताते हुए आगे आज्ञा करते हैं- श्रवणकीर्तन इत्यादि तो किसी के संग-सहायता से ही सिद्ध होते हैं और जिन एतन्मार्गीयों का संग चाहिए, ऐसे श्रवणकीर्तन करने वाले भगवदीय भगवद्धर्मपरायण तो होते हैं तथापि उन्हें अपने मार्ग के स्वरूप का ज्ञान भी होता है अतः वे संन्यास नहीं लेते अपितु घर में ही रहते हैं एवं घर में रहते हुए ही श्रवणकीर्तन एवं भगवद्धर्मपरायण रहते हैं, इस कारण श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के हेतु से यदि संन्यास लेंगे भी, तब भी घर में रहने वाले उन भगवदीयों का संग नहीं मिल पायेगा; अतः आपश्री आज्ञा करते हैं- अपने मार्ग का स्वरूप जानने वाले ऐसे गृहस्थभगवदीयों का संग प्राप्त करके श्रवणकीर्तन करना चाहिए, घरपरिवार इत्यादि का परित्याग करके नहीं। क्योंकि परित्याग करने पर तो "एकाकी निस्पृहः शान्तः(स्कन्दपुराण/गुरुगीता/शिवपार्वती संवाद/174)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार त्याग करने के पश्चात् एकाकी ही रहना आवश्यक होता है, और जब एकाकी रहेंगे तो उन भगवदीयों का सत्संग कहाँ से मिल सकेगा और कैसे श्रवणकीर्तन भी सिद्ध हो पायेंगे अतः आपश्री उक्त हेतु से परित्याग न करना बता रहे हैं। इसमें दो अड़चने और भी हैं, एक तो यह कि, मान लो कदाचित् परित्याग कर चुके संन्यासी को गृहस्थ-भगवदीयों का संग मिल भी जाय, परन्तु, चूँकि "वे गृहस्थ हैं अतः सांसारिक ही होंगे और सांसारिक बातें ही करेंगे" ऐसा सोच कर सबसे पहले तो त्यागियों की गृहस्थों की ओर प्रवृत्ति ही नहीं होती और वे उनसे सत्संग करने को प्रवृत्त ही नहीं होते। और दूसरी बात यह है कि, यदि प्रवृत्ति हो भी जाए, तब भी जो एतन्मार्गीयभगवदीय होते हैं, वे ऐसे किसी संन्यासी के सामने कोई भी भगवच्चर्चा करते ही नहीं, क्योंकि वे एतन्मार्गस्वरूप को जानते होते हैं और संन्यासी के लिए ऐसा सोचते हैं कि, यह तो अपने पुष्टिमार्ग से भटक चुका है अतः ऐसों के सामने मार्ग का रहस्य नहीं कहना चाहिए। इन्हीं सभी कारणों से आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, यदि श्रवणकीर्तन आदि सिद्ध करने के उद्देश्य से कोई गृह-परिवार का परित्याग करना चाहता हो, तो सर्वथा नहीं करना चाहिए। क्योंकि स्वमार्गीयभगवदीयों का संग न मिलने पर अन्य साधारण लोगों का संग मिलेगा और इस श्लोक में आगे कहा/बताया हुआ दूषण ही प्राप्त होगा, अपने मार्ग का ज्ञान नहीं।

किञ्च, साधनानां च रक्षणादिति । अहोरात्रिप्रणवप्राणायामादिसाधनविधेरेव रक्षणस्यावश्यकत्वात् श्रवणादिप्रपन्नानवसर एवेति । किञ्च, प्रपन्नत्वसम्भवेपि तस्य साधकत्वाभावमाहुः अभिमानादिति । संन्यासग्रहणानन्तरं तत्त्वमस्यादिवाक्यादात्मनि सोहमित्यभिमानो भवति, भक्तिमार्गे तु समर्पणानन्तरं देहप्राणेन्द्रियादीनां भगवदधीनत्वं भवति, तदा दासत्वान्न ममेत्यभिमान इति । स्वधर्मं विहाय स्वकीयस्य श्रवणार्थं परधर्मरूपत्यागकरणे इष्टप्राप्त्यभावः, प्रत्युत विपरीतफलमपि भवेदिति स न कर्तव्य इति भावः । किञ्च, नियोगादिति । स्वमार्गाङ्गीकृतस्यान्यत्र विनियोगः सर्वथा ह्यनुचितः । त्यागानन्तरं विहितत्यागसाधनकरणे देहादीनामन्यत्रैव विनियोगो भवेत्, नतु साक्षात्पुरुषोत्तम इति । स्वमार्गफलासाधकत्वात्तथेति भावः ।

अब **साधनानां च रक्षणात्** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं। संन्याससंबंधी साधनों की रक्षा करने का तात्पर्य है- दिनरात ॐकार, प्राणायाम इत्यादि साधनों की विधियों का रक्षण ही आवश्यक होने के कारण श्रवणकीर्तन इत्यादि की ओर प्रवृत्त होने का अवसर ही नहीं मिल पायेगा। और, यदि प्रवृत्त हो भी पाए तब भी वह अधिक दिनों तक टिक नहीं पायेगा जिसका कारण

आपश्री ने **अभिमानात्** इत्यादि शब्दों से कहा है। अभिमान से आपश्री का कहना यह है कि, संन्यासग्रहण करने के पश्चात् "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों के अनुसार उस संन्यासी को अपनी आत्मा में "सोऽहम्" का अभिमान पैदा हो जायेगा, जबकि भक्तिमार्ग में तो सभी कुछ भगवत्समर्पण कर देने के अनन्तर देह-प्राण-इन्द्रिय आदि भगवान के अधीन हो जाते हैं और तब जीव तो केवल भगवान का दास बन जाता होने के कारण फिर उसे "यह मेरा है" ऐसा अभिमान नहीं होता। इसका गूढ़ार्थ यह हुआ कि, स्वधर्म को छोड़कर स्वकीय को श्रवणकीर्तन सिद्ध करने हेतु परधर्म वाला त्याग करने पर ईष्टप्राप्ति तो नहीं ही होगी, उल्टे विपरीतफल भी प्राप्त होगा अतः आपश्री आज्ञा करते हैं- श्रवणकीर्तन के लिए परित्याग करना ठीक नहीं- यह भाव है। इसके अतिरिक्त इसका और एक कारण आपश्री **नियोगात्** शब्द से बता रहे हैं। श्रीगोपेशचरणों के अनुसार **नियोग** का अर्थ है- विनियोग करना। इससे आपश्री का कथन यह है कि, जो अपने पुष्टिमार्ग में अंगीकृत हुआ है, उसके लिए अपने आप का पुरुषोत्तम के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं विनियोग कराना तो सर्वथा अनुचित है। कर्ममार्गीय, ज्ञानमार्गीय या भक्ति की साधनदशा में विहितत्याग(विधिपूर्वक लिए गए त्याग)में बताए साधनों को करने से देह आदि का अन्यत्र ही विनियोग होता है, साक्षात् पुरुषोत्तम में नहीं; जो कि अपने पुष्टिमार्ग के फल को साध नहीं सकेगा अतः आचार्यचरण मना कर रहे हैं- यह भाव है।

किञ्च, तद्धर्मैरिति । पुष्टिमार्गधर्मैश्च विरोधतः । अयं परित्यागो विधिप्रयुक्तत्वान्मर्यादामार्गीयो भवितुमर्हति, न पुष्टिमार्गीयः । पुष्टिमार्गो हि समस्तविधिभिरस्पृष्टः, तदा तत्परित्यागः सुतरां तथेति प्रमाणातीत इत्युभयोर्धर्माणामपि भेदाद्विरोधः स्यादिति तथा । चकारात् स्वरूपफलयोरपि भेदः ।

और, इसके अतिरिक्त एक कारण आपश्री ने **तद्धर्मैश्च** शब्द से कहा है। इससे आपश्री का तात्पर्य है- उपरोक्त विधिविधान वाले परित्याग के धर्म पुष्टिमार्गीयधर्मों से विरुद्ध हैं। यानि कर्ममार्गीयपरित्याग लेने में विधि होती है अतः वह मर्यादामार्गीयपरित्याग कहलाता है, पुष्टिमार्गीय नहीं। पुष्टिमार्ग तो समस्त विधियों से अछूता है अतः पुष्टिमार्गीयपरित्याग भी विधिरहित ही होता है इसलिए वह प्रमाणों से परे है, अतः दोनों प्रकार के परित्याग के धर्मों में भी भेद है इसलिए परस्पर विरोध आता है- इस कारण भी आचार्यचरण ऐसे परित्याग के लिए मना कर रहे हैं। यों तो दोनों में भेद है ही, परन्तु **च** शब्द से इन दोनों में स्वरूप एवं फल की दृष्टि से भी परस्पर भेद है- यह आचार्यचरणों का तात्पर्य है।

एव स्वमार्गाङ्गीकृतस्य श्रवणादिभक्तिसिद्ध्यर्थं सन्यासोनषधकेथर्नन ंगृहे स्थित्वा स्वधमतः । अव्यावृत्ता भजत् कृष्ण पूजया श्रवणादिभि'रित्युक्तप्रकारेण स्वधर्मनिष्ठया सेवैव कर्तव्या, नान्यदिति सूचितम् । ननु गृहमेव बाधकं भवेत् तदा तु कर्तव्य इत्याशंक्य तस्यापि निषेधमाहुः । गृहमादिपदेन तत्सम्बन्धिनश्च सर्वे यद्यपि धर्मप्रतिकूला एव, तथापि श्रवणादिसाधनार्थं संन्यासग्रहणं न कार्यम् । किन्तु तत्परित्यागेन भगवदीयैः सह सेवा कर्तव्येति ज्ञाप्यते । अत एव 'भार्यादिरनुकूलश्चे'दित्यादिषु साधनार्थमनुकूलतद्ग्रहणाभिप्रायेण प्रतिकूलगृहत्याग एवोपदिश्यते, न तु संन्यासग्रहणम् । तथोक्ते 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत'इति भक्तिवर्धिनीवचनविरोधः स्यात् ।

इस प्रकार से स्वमार्ग में अंगीकृतजीव को श्रवणकीर्तन इत्यादि सिद्ध करने के उद्देश्य से लिए जाने वाले संन्यास का निषेध कह कर आचार्यचरणों ने *"घर में रहते हुए अपने भगवत्सेवा के स्वधर्म का निर्वाह करते हुए अन्य किसी में मन को न लगाते हुए श्रवणकीर्तनपर रहते हुए कृष्णसेवा करनी चाहिए(भक्ति-2)"* इस वाक्य में कहे प्रकार से स्वधर्म में निष्ठ रहते हुए भगवत्सेवा ही करनी चाहिए, अन्य कुछ भी नहीं- यह सूचित किया है। किन्तु कोई ऐसी शंका करे कि, यदि भगवत्सेवा-सत्संग इत्यादि में घर ही बाधक बन जाए, तब तो परित्याग करना ही चाहिए- तो आचार्यचरण उसका भी निषेध कर रहे हैं। आपश्री का कथन है- **गृह** और उसमें जुड़े हुए **आदि** पद के द्वारा गृहसम्बन्धित सदस्य सभी भले ही स्वधर्म के प्रतिकूल हों, तथापि कम से कम श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के लिए तो संन्यासग्रहण नहीं करना चाहिए, किन्तु घरपरिवार का त्याग करके किन्हीं भगवदीयों के संग मिलकर भगवत्सेवा करनी चाहिए- यह बता रहे हैं। इसी कारण आपश्री ने *"पत्नी आदि परिवारजन यदि भगवत्सेवा में अनुकूल हों, तो उनसे भगवत्सेवा करानी चाहिए। यदि उदासीन हों तो स्वयं करनी चाहिए और प्रतिकूल हों, तब गृहत्याग करना चाहिए(सर्व-231)"* इत्यादि वाक्यों में भक्तिमार्गीयसाधन सिद्ध करने के लिए भक्तिमार्ग में अनुकूल गृहपरिवार को स्वीकार करना चाहिए इस अभिप्राय को बताने के लिए आपश्री ने भक्तिमार्ग से प्रतिकूल गृह का ही त्याग करने का उपदेश दिया है, संन्यासग्रहण करने का नहीं। यदि आपश्री घरपरिवार का त्याग करने को कहते तो स्वयं आपश्री द्वारा ही भक्तिवर्धिनी में कहे *"घर में रहते हुए अपने भगवत्सेवा के स्वधर्म का निर्वाह करते हुए अन्य किसी में मन को न लगाते हुए श्रवणकीर्तनपर रहते हुए कृष्णसेवा करनी चाहिए(भक्ति-2)"* इस वाक्य से विरोध आ जाता !!!

केञ्च, श्रीभागवतेपि भक्तिसाधनार्थं 'मदर्थेऽर्थपरित्याग' इत्यारभ्य 'एवं धर्मैर्मनुष्याणा'मित्यादिभिस्सर्वसमर्पणरूप: त्याग उक्तो, न तु संन्यास:, अन्यथा 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्ध'इत्यनेन विरोध: स्यात् । यत: सेवाकरण एवोच्छिष्टभोजनम्, न तु संन्यासे, सेवाऽभावात् । एवं सति साधनार्थमपि त्याग उक्त इति तत्स्वरूपज्ञानेन स्वमार्गीय: कश्चित् संन्यासग्रहणं कुर्यादिति प्रकृते तन्निषेध उक्त इति सर्वमनवद्यम् ।

इसके अतिरिक्त श्रीभागवत में भी भगवान ने भक्ति को सिद्ध करने के लिए *"मेरे लिए धन, भोग और प्राप्त सुख का भी परित्याग कर दे और जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप करे, वह सभी कुछ मेरे लिए ही करे(श्री0भा-11/19/23)"* इस वाक्य से लेकर *"उद्धव! जो मनुष्य इन भागवतधर्मों का पालन करते हैं और मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं, उनके हृदय में मेरी प्रेममयी भक्ति का उदय हो जाता है(श्री0भा-11/19/24)"* इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवान ने सर्वसमर्पणरूपी त्याग करने को कहा है, संन्यासग्रहण करना नहीं; अन्यथा तो एकादशस्कन्ध में उद्धवजी का *"हे प्रभु! हमने आपकी प्रसादी माला धारण की, आपका प्रसादी चंदन लगाया, आपके प्रसादी वस्त्र पहने, आपका उच्छिष्ठ ग्रहण किया। अब हम आपकी माया को जीत लेंगे(श्री0भा-11/6/46)"* यह वाक्य भगवद्वाणी से विरुद्ध चला जायेगा क्योंकि घरपरिवार का ही त्याग कर देंगे तो भगवत्सेवा भी छूट जायेगी और तब भगवत्प्रसादी ग्रहण करने का भी अवकाश नहीं रह जायेगा !! क्योंकि भगवत्सेवा करेंगे तब ही तो भगवदुच्छिष्ट ग्रहण कर पायेंगे, संन्यास में नहीं, क्योंकि संन्यास में भगवत्सेवा करने को तो अवकाश ही कहाँ है !! इस प्रकार से संन्यास का "श्रवणकीर्तन इत्यादि साधनों को सिद्ध करने के लिए भी त्याग करने का विधान कहा गया है" इस प्रकार का स्वरूप समझकर अपने स्वमार्गीय भी संन्यासग्रहण कर लेंगे- ऐसा सोचकर आचार्यचरणों ने इस ग्रन्थ में उसका निषेध कह दिया है अत: यह सभी कुछ उचित ही है।

अत: परं गृहादेर्बाधकत्वेन संन्यासग्रहणे तादृशै: सह सङ्ग एव भवेत्, किन्तु स्वयमपि तादृशो भवतीत्याहु: । स्वयमपि तथा । ते साधनत्यागिन: धर्मध्वजिन: विषयाक्रान्ता वेशमात्रधारिण: पाषण्डिन:, तथा स्वयमपि तत्सङ्गेन विषयाक्रान्त: पाषण्डी च स्यात् । तत्र हेतु: कालत: । कलिकालदोषत इत्यर्थ: । अथवा कालत इत्युपलक्षणम् । कालकर्मस्वभावेभ्य इत्यर्थ: । यत: मार्गच्युतजीवस्य कालाद्यधीनत्वमेव, मार्गस्थितस्यैव तदनधीनत्वेन तस्य भगवदधीनत्वेन भगवान् रक्षां करोति । तादृशत्यागिनो भगवदधीनत्वाभावाद्रक्षाऽभावेन तथात्वमेवेति भाव: ।

अब इसके पश्चात् घरपरिवार आदि भगवद्भजन में बाधक होते होने के कारण उनसे छुटकारा पाने को यदि कोई संन्यासग्रहण करना चाहे, तो आपश्री यह तो कह ही रहे हैं कि आगे चलकर संन्यास में भी उन्हीं जैसों का संग प्राप्त होगा, परन्तु, वह खुद भी उनका संग पाकर उनके जैसा हो जायेगा- यह आपश्री ने **स्वयं** इत्यादि शब्दों से कहा है। आपश्री के कहने का तात्पर्य यह है कि, जिन लोगों का संग उसे प्राप्त होगा, (1)वे श्रवणकीर्तन इत्यादि साधनों को सिद्ध करने के उद्देश्य से त्याग करने वाले होते हैं, (2)धर्मध्वजी, (3)सांसारिकविषयों से आक्रान्त और (4)केवल नाममात्र के लिए संन्यासी का वेष धारण करने वाले पाखण्डी होते हैं, और ऐसों का संग मिलने से वह खुद भी विषयाक्रान्त और पाखण्डी बन जायेगा। इसका कारण आपश्री ने **कालत:** शब्द से कहा है। यानि कलिकाल के दोष ही ऐसे हैं, जिसके कारण सांसारिकविषयों से ग्रसित होना स्वाभाविक है- यह अर्थ है। अथवा, **कालत:** शब्द से आपश्री ने काल को केवल उपलक्षण के रूप में कहा है, वस्तुत: काल-कर्म-स्वभाव सभी की दृष्टि से वह पाखण्डी हो जायेगा- यह अर्थ है। चूँकि इस मार्ग से भटका हुआ जीव काल इत्यादि के अधीन ही होता है, केवल एतन्मार्गनिष्ठ ही काल के अधीन नहीं होता, वह तो भगवान के अधीन होता है अत: कलिकाल के दोषों से उसकी रक्षा भगवान करते हैं। कलिकाल के ढोंगी संन्यासियों को भगवान ने अपने अधीन नहीं रखा होता है अत: भगवान उनकी कलिकाल से रक्षा भी नहीं करते इसलिए वे विषयाक्रान्त ही बने रहते हैं।

एवं तत्सङ्गदोषं निरूप्य फलाभावमाहु: । यदैवं विषयाक्रान्तो भवेत्तदा विषयाक्रान्तानि, देह इत्युपलक्षणम्, किन्तु, देहप्राणेन्द्रियान्त:करणानि येषाम् । सर्वदा सर्वकालं भवेत्, प्रवेशस्यावकाश एव नास्ति, तदावेशो न भवतीति सिद्धान्तात् तस्यापि भगवदावेशो न भवेदिति सर्वस्वहानिरेव भवतीति भाव: । अत: कारणादत्र पुष्टिमार्गे पुष्टिमार्गीयस्य साधने भक्तौ साधनभक्तिसिद्ध्यर्थं त्याग: सुखावहो न भवति, अनिष्टपर्यवसानात् । अत: स सर्वथा न कर्तव्य इति ज्ञापितम् ।।३-६।।

इस प्रकार से उन विषयाक्रान्त एवं पाखण्डी संन्यासियों के संगदोष का निरूपण करके उनका संग करने से क्यों फल प्राप्त नहीं होता- यह आचार्यचरण आगे बता रहे हैं। आपश्री समझाते हैं कि, जिस क्षण जीव ऐसों के संग से इस प्रकार विषयाक्रान्त हो जायेगा, तब उनकी देह तो खैर उपलक्षक है किन्तु देह के साथ-साथ उनके प्राण-इन्द्रिय-अन्त:करण इत्यादि भी विषयाक्रान्त हो जायेंगे। **सर्वदा** यानि

सदा आक्रान्त रहते हैं, भगवान के प्रविष्ट होने का अवकाश ही नहीं होता; चूँकि यह सिद्धान्त है कि जो विषयाक्रान्त होते हैं, उनमें कभी भी भगवान का आवेश नहीं होता, अतः विषयाक्रान्त हो जाने पर तो सर्वस्व की हानि ही होगी, यह भाव है। अतः इस कारण इस पुष्टिमार्ग में पुष्टिमार्गीय को **साधने भक्तौ** यानि साधनरूपा भक्ति सिद्ध करने के हेतु से किया गया त्याग सुखकारी नहीं होता, क्योंकि ऐसा त्याग अंततोगत्वा अनिष्टकारी होता है। अतः उक्त हेतु से त्याग सर्वथा नहीं करना चाहिए ॥3-6॥

ननु तर्हि कदा किमर्थं च कर्तव्यं इत्याकांक्षायां तस्य प्रयोजनकथनेनैवाधिकारिणं चाहुः ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ।।७।।
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ।।८।।
विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ।।९।।
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ।।१०।।
तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ।।११।।
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सङ्गराहित्याजीवनार्थं भवन्ति हि ।।१२।।
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ।।१३।।
दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।।१३$^{1}/_{2}$।।

विरहानुभवार्थं परित्यागोस्मिन्मार्गे प्रशस्तो भवति । अन्यथा नेत्यर्थः । अत्रेदमाकूतम् । स्वमार्गीयस्याङ्गीकारादारभ्य श्रीकृष्णसेवैव कर्तव्या, नान्यदिति सिद्धान्तः । तदुक्तम् 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'ति । सा सेवा साधनरूपा फलरूपा चेति द्विधा । मानसी सा सेवा फलरूपा, तत्साधनरूपा तनुजवित्तजात्वेनोक्ता । एवं सति मार्गनिष्ठया सर्वसमर्पणपूर्वकं सर्वेषां तनुवित्तादीनां भगवत्येव विनियोगकरणेन सेवाकरणे तत्स्वरूपे प्रेम जायते । एतदेवोक्तम् । 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इत्यारभ्य 'ततः प्रेमे'त्युक्तं भक्तिवर्धिन्याम्, नो चेदिह स्थानस्य विजातीयत्वेन बाधकत्वात् साम्प्रतं वा स्वानुसन्धानाभावेन पुनर्विजातीयसङ्गेपि तस्य न नाश इति तत्रैव 'यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापी'त्युक्तम् । एवं सति अस्य त्यागस्य पूर्णपुष्टिभाववानेवाधिकारी, नान्यः, तस्य प्रयोजनमपि प्रचुरभावपोषेण विरहानुभव एवेति सुष्ठूक्तं तथा ।

तो फिर परित्याग कब और किसलिए करना चाहिए, यह आकांक्षा होने पर आचार्यचरण भक्तिमार्ग में परित्याग करने का प्रयोजन एवं उसके अधिकारी कौन हैं, यह भी अग्रिमश्लोक में बता रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- भगवद्विरह का अनुभव करने के लिए परित्याग करना इस मार्ग में प्रशंसनीय है, अन्यथा नहीं। इसमें समझना यह है कि, स्वमार्गीय के लिए उसके अंगीकार होने से आरम्भ करके उसे श्रीकृष्णसेवा ही करनी चाहिए, अन्य कुछ भी नहीं - यह सिद्धान्त है। वही बात आचार्यचरणों ने *"कृष्णसेवा सदा करनी चाहिए(सि0मु-1)"* इस वाक्य द्वारा कही है। कृष्णसेवा साधनरूपा और फलरूपा यों दो प्रकार की होती है। इसमें मानसीसेवा फलरूपा है, और उसकी साधनरूपा सेवा तनुजावित्तजा के रूप में कही गयी है। इस प्रकार से मार्गनिष्ठा रखते हुए सर्वसमर्पणपूर्वक तनु-वित्त इत्यादि सभी का भगवान में ही विनियोग करते हुए भगवत्सेवा करते रहने पर भगवत्स्वरूप में प्रेम उत्पन्न होता है। यही बात भक्तिवर्धिनी में *"घर में रहते हुए अपने भगवत्सेवा के स्वधर्म का निर्वाह करते हुए अन्य किसी में मन को न लगाते हुए श्रवणकीर्तनपर रहते हुए कृष्णसेवा करनी चाहिए(भक्ति-2)"* से आरम्भ करके *"घर में रहते हुए भगवत्सेवा करने के द्वारा क्रमशः भगवान में पहले प्रेम उत्पन्न होता है, फिर आसक्ति और फिर व्यसन(भक्ति-3)"* इस वाक्य तक कही गयी है। किन्तु यदि इस प्रक्रिया के अनुसार न चलें और भगवान में प्रेम-आसक्ति-व्यसन हुए बिना परित्याग कर देते हैं, तो परित्याग करके जिस स्थान पर जायेंगे वह स्थान विजातीय लोगों से घिरा होने के कारण बाधक होता है और यदि प्रेम-आसक्ति-व्यसन की

परिपक्वदशा पर पहुँचने के बाद परित्याग किया है, तो चूँकि उसे अपने आप का अनुसन्धान ही नहीं रहता है अतः भले ही विजातीय लोगों का संग हो जाय, तथापि उसका या उसके भाव का नाश नहीं होता ; इसलिए यही बात आचार्यचरणों ने भक्तिवर्धिनी में *"जब प्रभु की सेवा-कथा में आसक्ति हो जाती है, तब उस जीव का जीवनपर्यन्त नाश नहीं होता(भक्ति-9)"* इस वाक्य द्वारा कही है, यानि इस भक्तिवर्धिनीवाक्य में कही परिपक्वदशा पर पहुँचने के पश्चात् यदि परित्याग किया जाय तो परित्याग करने के पश्चात् जीवनपर्यन्त उसके भाव का नाश नहीं होगा, चाहे कितने भी विजातीय लोगों का संग क्यों न हो जाय- यह अर्थ है। उपर्युक्त समस्त विश्लेषणों का सार यह समझना चाहिए कि, उपरोक्त प्रकार का त्याग करने में पूर्णपुष्टिभाव रखने वाले जीव ही अधिकारी हैं, अन्य नहीं, और उस त्याग का प्रयोजन भी प्रचुरमात्रा में अपने भगवद्भाव का पोषण करके भगवद्विरह का अनुभव करना ही है अतः आपश्री ने ठीक ही कहा है कि, भगवद्विरह का अनुभव करने के लिए ही परित्याग करना चाहिए, अन्य किसी प्रयोजन के लिए नहीं।

ननु तर्हि परित्याग एव कर्तव्यः, संन्यास एव किमर्थं कार्यः, तत्र हेतुमाहुः स्वीयेति । स्वीया गृहसम्बन्धिनस्तत्क्रियमाणो यो बन्धः तन्निवृत्त्यर्थं वेषः । अन्यथा संन्यासाश्रमो धर्माचरणार्थं न भवतीत्यर्थः । विजातीयमिलनस्य भावघातकत्वात् । तदुक्तं फलप्रकरणे 'अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षं'मित्यत्र । 'यथा व्याघ्राग्रे देहाभिमानी'ति ।

तो फिर एक प्रश्न यह होता है कि, यदि भक्तिमार्ग में बताया गया संन्यास विधिपूर्वक मर्यादामार्गीयसंन्यास की भाँति नहीं है तो फिर आचार्यचरणों को केवल परित्याग ही करने का उपदेश देना चाहिए, व्यर्थ में गेरुए वस्त्र धारण करके संन्यास लेने का उपदेश क्यों दे रहे हैं ? यदि ऐसी शंका होती हो तो आपश्री इसका हेतु **स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थम् वेषः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री यह कह रहे हैं कि, स्वीयजन यानि गृहपरिवार सम्बन्धियों द्वारा किया जाने वाला जो प्रतिबन्ध होता है, उसको दूर करने के उद्देश्य से ही इस मार्ग में संन्यासी का वेष धारण किया जाता है। यानि भक्तिमार्गीयसंन्यास लेने वाला व्यक्ति मर्यादामार्गीयसंन्यास में बतायी गयी गेरुआ वस्त्र एवं दण्ड-कमण्डल इत्यादि वस्तुएँ विधि का पालन करने के तहत धारण नहीं करता अपितु गृहपरिवारजन उसके परित्याग में वारंवार बन्धनकारी न बनें इसलिए धारण करता है, ताकि वे उसके वेष को देखकर उसे घरसंसार के लिए निरर्थक मान लें और उसकी अपेक्षा छोड़कर पुनः घर लौटने का आग्रह न करें। अन्यथा तो यदि वह घरपरिवार के प्रतिबन्धों को दूर न करे, तो उसका संन्यासाश्रम उसके स्वधर्म का निर्वाह करने में उपयोगी नहीं बन सकेगा क्योंकि अपने भगवद्भाव से विजातीय लोगों से मिलना-जुलना भगवद्भाव का घातक होता है। यही बात फलप्रकरण में *"गोपियों ने कहा- हे प्रभु ! हमें आपके चरणकमलों का स्पर्श प्राप्त हुआ है, अब हम किसी अन्य के समक्ष एक क्षण भी नहीं ठहर सकतीं(श्री0भा-10/29/36)"* इस श्लोक की सुबोधिनी में आचार्यचरणों ने यह लिखा है कि- *"गोपियों ने भगवान से कहा- जैसे कोई देहाभिमानी यानि वो जिसे अपनी देह से प्रेम है, वह सिंह के सामने एक क्षण भी नहीं रह सकता क्योंकि उसे सिंह द्वारा खा लिए जाने का भय लगता है, वैसे ही हम सांसारिक विषयों के सामने एक क्षण भी नहीं रह सकती क्योंकि हमें संसार द्वारा निगल लिए जाने का भय लगता है, हमें वापस लौटने को मत कहिए"*। ठीक उसी प्रकार जिसका भगवद्भाव दृढ हो चुका है, वह विजातीय लोगों के सामने एक क्षण भी नहीं रह सकता क्योंकि उसे उनसे अपना भाव नष्ट हो जाने का भय बना रहता है।

ननु तथापि भक्तिमार्गीयभावपोषार्थमपि विहितत्वात् गुरूपदेशं विना कथं तत्सिद्धिरित्याशंक्य गुरून्निरूपयन्ति । कौण्डिन्य ऋषिरनन्तगुणश्रवणेनानन्तस्वरूपासक्त्या तत्कालमेव सर्वत्यागं कृतवान्, पुनस्तद्विरहेण विकलः सन् जडादिष्वपि प्रश्नं चक्रे । तथास्यापि स्वरूपसेवाकरणे प्रेमासक्त्यनन्तरं पुष्टिमार्गीयभावोदयक्षण एव त्यागः कर्तव्य इति साम्येन स गुरुरुक्तः ।

चलो, मान लिया कि यह संन्यास मर्यादामार्गीय विधिपूर्वक किया जाने वाला गुरु-शिष्य-आश्रम वाला संन्यास नहीं है, परन्तु, अपने भक्तिमार्गीयभाव का पोषण करते रहने की भी तो आवश्यकता होती ही है, फिर गुरूपदेश के बिना अपने भाव का पोषण कर पाना कैसे शक्य बनेगा ? यदि ऐसी आशंका होती हो तो आचार्यचरण आगे **कौण्डिन्य** इत्यादि शब्दों से इस मार्ग के गुरुओं का निरूपण कर रहे हैं। कौण्डिन्यऋषि के बारे में वर्णन आता है कि, इन्होंने अनन्त-भगवान के गुणों का श्रवण करते हुए अनन्तस्वरूपभगवान में आसक्ति होने पर तत्काल ही सभी का परित्याग कर दिया था, इसके पश्चात् उन्होंने भगवद्विरह में विकल होकर जड़ों से भी भगवान का पता जानने के लिये प्रश्न किए। ठीक इसी प्रकार यहाँ बताए गए पुष्टिमार्गीय को भी भगवत्स्वरूप की सेवा करते-करते भगवान के प्रति क्रमशः प्रेम-आसक्ति उत्पन्न हो जाने के पश्चात् जिस क्षण पुष्टिमार्गीयभाव का उदय हो जाए, उसी क्षण त्याग कर देना चाहिए ; अतः इस समानता के कारण कौण्डिन्यऋषि को आचार्यचरणों ने गुरु कहा है।

अपरे गुरवो गोपिकाः । यथा पूर्वमप्यासक्तौ सत्यां वेणुनादश्रवणानन्तरं त्यागे कृते प्रभुसङ्गमस्तासामप्यभूत् । अग्रे

पुनरन्तरासक्तिदार्ढ्यार्थं विरहानुभवोपि जातः, येन 'तन्मनस्कास्तदालापा नात्मागाराणि सस्मरुः' इत्यादि विकलत्वास्वास्थ्यादिरूपावस्थाप्यासीदिति साम्येन तासां च गुरुत्वं निरूपितम् । एवं सति तद्रीत्या तथा कृते एतस्यापि फलं सेत्स्यतीति भावः ।

इस परित्याग में हमारी दूसरी गुरु गोपिकाएँ हैं, जिसे आपश्री **गुरवः गोपिकाः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इनका उदाहरण देकर आपश्री यह समझाना चाह रहे हैं कि, जिस प्रकार गोपिकाओं को तो पहले से ही प्रभु में आसक्ति थी परन्तु वेणुनाद का श्रवण करने के अनन्तर जब वे घरपरिवार का त्याग करके प्रभु के पास पहुँचीं, तब उन्हें भी प्रभु का संग प्राप्त हुआ। फिर आगे चल कर पुनः उनकी अन्तरासक्ति को दृढ़ करने के लिए भगवान ने उन्हें विरह का अनुभव भी कराया, जिसके कारण *"गोपियों का मन कृष्णमय हो गया था। उनकी वाणी से कृष्णचर्चा के अतिरिक्त कोई बात नहीं निकलती थी। उनका रोम-रोम, उनकी आत्मा श्रीकृष्णमय हो रही थी(श्री0भा-10/30/44)"* इत्यादि श्लोकों में बतायी गयी विकलता एवं अस्वस्थता आदि की अवस्थाएँ भी उन्हें प्राप्त हुईं; इसलिए इस ग्रन्थ में बताए गए भावों की समानता कौण्डिन्य एवं गोपिकाओं से होती होने के कारण आचार्यचरणों ने इन्हें गुरु कहा है। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, यदि इनकी रीति अनुसार चलेंगे और इनके अनुसार करेंगे, तो एतन्मार्गीय को भी फलप्राप्ति होगी- यह भाव है।

ननु यथा 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुत्या ज्ञानमार्गीयसंन्यासे वैराग्यं साधनम्, तथात्र किं साधनम्, तदाहु साधनं चेति । भावनया सिद्धो यो भावः तत्साधनम् । पूर्वमपि भावो जायते, परं कृत्रिम इति । तादृशस्य साधनत्वं न, आसक्त्यनन्तरं 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारकमनोरथात्मकभावनया सिद्धिं प्राप्तो यः पूर्णः पुष्टिमार्गीयो गूढो भावः तत्साधनम् । न अन्यदिति । अतिरिक्तं साधनं नेष्यते । सापेक्ष्यतत्त्वाभावान्नापेक्षित इत्यर्थः । एवं सति वैराग्यमप्येतदेव, न ज्ञानमार्गीयम् । यतो भगवत्स्वरूपव्यतिरिक्ते सर्वत्रारुचिरिति भक्तिवर्धिन्यां 'स्नेहाद्रागविनाशः स्या'दित्यादिना तथा स्फुटीकृतम् ।

अब एक प्रश्न यह होता है कि, जिस प्रकार *"जिस क्षण वैराग्य उत्पन्न हो जाय, उसी क्षण गृहत्याग करके वन की ओर निकल जाना चाहिए(जाबालोपनिषत्-4)"* इस श्रुति के अनुसार ज्ञानमार्गीयसंन्यास में वैराग्य को साधन कहा जाता है, उस प्रकार इस भक्तिमार्गीयपरित्याग के साधन क्या हैं ? तो आपश्री **साधनं च** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। इससे आपश्री का कहना यह है कि, भावना करने के द्वारा जो भाव सिद्ध होता है, वही इस परित्याग का साधन है। इससे आपश्री यह बताना चाह रहे हैं कि, जो जीव सहसा एतन्मार्गीय परित्याग करना चाह रहा है, उसे यद्यपि उसके पहले भी भगवान के प्रति भाव तो जगता ही है/था, परन्तु वो भाव कृत्रिम होता है; ऐसा कृत्रिमभाव इस परित्याग का साधन नहीं होता, अपितु भगवदासक्ति पनप जाने के पश्चात् "भगवता सह संलाप (सुबो-10/18/7;का-8)" इस श्लोक में कहे मनोरथ के अनुसार प्रभु के प्रति ऐसी भावना करने के द्वारा सिद्ध हुआ जो पूर्ण गूढ़पुष्टिमार्गीयभाव होता है, वही इस परित्याग का साधन है। अन्य कोई साधन नहीं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन एतन्मार्ग में अपेक्षित नहीं हैं। पुष्टिमार्ग में जिस वस्तु की अपेक्षा है, वह अन्य साधनों में नहीं है अतः अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं है- यह अर्थ है। इसलिए इस परित्याग में वैराग्य का स्वरूप भी वही है, जो ऊपर बताए श्रीभागवत के श्लोक द्वारा बताया गया है, ज्ञानमार्गीयवैराग्य नहीं। क्योंकि एतन्मार्गीय परित्याग करने वाले को भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त सर्वत्र अरुचि होती है, यह बात भक्तिवर्धिनी में *"प्रभु में स्नेह हो जाने पर सांसारिक राग नष्ट हो जाता है और गृहपरिवार से अरुचि हो जाती है(भक्ति-4)"* इत्यादि श्लोकों द्वारा स्पष्टतया बतायी गयी है।

ननु ज्ञानमार्गे वैराग्येण त्यागे कृते विषयाद्यभिलाषाभावात् देहेन्द्रियैः प्राकृतधर्मराहित्यं चित्तादिस्वास्थ्यं च भवति, प्रकृते त्यागादारभ्य प्रतिदिनं तथा भावने वैकल्यमस्वास्थ्यमेव सकलेन्द्रियेषु वर्धत इति प्राकृतविषयधर्मवत्त्वमेव लक्ष्यते, तत्कथं फलसिद्धिरित्याशंक्य तद्धर्मस्वरूपमाहुः । बाह्यानुसन्धानराहित्यपूर्वकमन्तःस्वरूपानुभवसमानाधिकरणचेष्टितं यत्सकलेन्द्रियाणां तद्विकलत्वम्, बहिरपेक्षया विपरीतान्तर्भावरूपाः कलाश्चेष्टा येषां तेषां भावस्तत्त्वमित्यर्थः । तथा बहिः प्रियसङ्गभावजनितार्त्या सकलेन्द्रियाणां स्वास्थ्याभावोस्वास्थ्यम् । एतद्द्वयमपि विप्रयोगभावस्य प्रकृतिः साहजिको धर्मः । यथा ज्ञानमार्गे वैकल्याभावः स्वास्थ्यं तस्य प्रकृतिः, तथा पुष्टिमार्गे तद्विपरीतधर्मवत्त्वं तद्भावस्य प्रकृतिः । अनेन यावत्पर्यन्तं विकलत्वास्वास्थ्यादिरूपा प्रकृतिः न सिध्यति, तावत्पर्यन्तं तद्भावस्यापि न पूर्णत्वमिति सूचितं भवति । अत एव तद्दार्ढ्यानन्तरं पुनर्नाशाभावेन प्रयत्नाभाव उक्तः 'यावज्जीव'मिति भक्तिवर्धिन्याम् ।

किन्तु किसी पूर्वपक्षी को एक प्रश्न यह होता है कि, ज्ञानमार्ग में तो सांसारिक पदार्थों से वैराग्य होने के पश्चात् सभी का त्याग कर देने के बाद सांसारिकविषयों की अभिलाषा होनी शेष नहीं रह जाती अतः प्राकृतलौकिकधर्मों से रहित देह-इन्द्रियों में चित्त-मन आदि की

स्वस्थता भी बनी रहती है, यानि ज्ञानमार्ग में चित्त-मन इत्यादि प्रफुल्लित बने रहते हैं ; किन्तु इस पुष्टिमार्गीयपरित्याग में तो त्याग करने से लेकर ही प्रतिदिन ऊपर कहे श्रीभागवतश्लोक में बतायी गयी भगवद्भावना करते रहने से समस्त इन्द्रियों में उल्टे विकलता और अस्वस्थता बढ़ती ही चली जाती है, इससे तो यह सभी परिस्थितियाँ प्राकृत लौकिकविषयक ही दिखाई पड़ती हैं, अतः फिर कैसे फलसिद्धि होगी ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण एतन्मार्गीय विप्रयोग के धर्म का स्वरूप बता रहे हैं। इसके आगे श्रीगोपेशचरणों ने 'विकलता' की परिभाषा बता रहे हैं। इसमें वे 'विकल' यानि 'वि'+'कल' शब्द में 'वि' का अर्थ- विपरीत एवं 'कल' का अर्थ- कला/चेष्टा कर रहे हैं। कुल मिलाकर अर्थ हुआ- विपरीत चेष्टा। ये विपरीत चेष्टा क्या है, इसे उन्होंने आगे बताया है। इसको स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि, प्रभु के बाहर प्रकट होने की प्रक्रिया के विपरीत अन्तःकरण में ही इन्द्रियों की प्रभु के स्वरूप का अनुभव करने की चेष्टा को ही 'विकलता' शब्द के द्वारा आचार्यचरण कह रहे हैं। पहले 'विकलता का अर्थ समझें। जब जीव बाह्यानुसन्धानरहित होकर अन्तःकरण में भगवत्स्वरूप का अनुभव करता है तब अनुभव करने के साथ-साथ उसकी समस्त इन्द्रियों की प्रभुसंबंधी होने की आन्तरिक चेष्टाओं को आचार्यचरण 'विकलता' कह रहे हैं। यानि जब प्रभु बाहर प्रकट होते हैं तब उनको प्राप्त करने की जीव जो चेष्टाएँ होती हैं, उनके विपरीत इन्द्रियों की जो अन्तर्भावरूप कला/चेष्टा है, उसे 'विकलता' कहते हैं। और, बाहर प्रकटरूप से प्रियप्रभु का संग प्राप्त न होने के कारण होने वाली आर्ति से समस्त इन्द्रियों के अस्वस्थ रहने को आचार्यचरण 'अस्वास्थ्यं' शब्द से कह रहे हैं। 'विकलता' और 'अस्वस्थता' ये दोनों विप्रयोगभाव की **प्रकृतिः** यानि विप्रयोग के सहजधर्म हैं। जिस प्रकार ज्ञानमार्ग में विकलता दूर होकर स्वास्थ्य मिलना ज्ञानमार्गीयपरित्याग की प्रकृति यानि उसका सहजधर्म है, उसी प्रकार पुष्टिमार्ग में ज्ञानमार्ग के विपरीत धर्म होना विप्रयोगभाव की प्रकृति है। इस कारण जब तक जीव में विकलता और अस्वस्थतारूपा प्रकृति उत्पन्न नहीं होती, तब तक यह सूचित होता है कि, परित्याग करने के भाव ने भी अभी पूर्ण आकार नहीं लिया है। इसी कारण जब एक बार विप्रयोगभाव का भाव दृढ़ बन जाय, तब उसके पश्चात् फिर कभी भी उसका नाश न होना बताकर तत्पश्चात् उस दिशा में पुनः दृढ़ करने का कोई प्रयत्न करना भी आवश्यक नहीं रह जाता- यह बात आचार्यचरणों ने "जिसकी प्रभुसेवा एवं प्रभुकथा में आसक्ति दृढ़ हो जाती है, फिर उसका जीवनपर्यंत नाश नहीं होता(9)" इस श्लोक द्वारा भक्तिवर्धिनी में कही है।

ननु तर्हि विषयसम्बन्धित्वमायातमित्याशंक्य तन्निराकुर्वन्ति प्राकृतं न हीति । प्रकृतिगुणविकारजन्यं तदुभयमपि न भवति । हीति निश्चयः । अयं भावः । पुरुषोत्तमस्वरूपं तु रसात्मकम्, रसो हि द्विविधः, संयोगविप्रयोगभेदेन, इति स्वरूपमपि तथा, तत्र संयोगे स्वरूपं बहिः प्रकटं भवति । विप्रयोगे भावात्मकतया तत्तदिन्द्रियेष्वाश्लिष्टं सदन्तरेव रसपोषं करोति । परन्तु तापरूपेण स्थितत्वाददर्शने च तापं जनयति, इति तज्जनिततीक्ष्णभावभावनया पूर्वोक्तप्रकारेणान्तःस्वरूपानुभवे तदनुसारिचेष्टाकरणेन विकलत्वं बहिः प्रतीयते । दर्शनाभावेनास्वास्थ्यं चेत्युभयधर्मस्य रसात्मकभगवत्स्वरूपजन्यत्वेन रसात्मकत्वादलौकिकानन्दरूपत्वमेव । न तु प्राकृतत्वमिति सुष्ठूक्तं प्राकृतं न हीति । एतेन यथा यथा विकलत्वमस्वास्थ्यं स्यात्तथा तथा फलविलम्बाभाव इति सूच्यते ।

तब कोई यों भी सोचने लगता है कि, फिर ये विकलता और अस्वस्थता लौकिकविषयों से सम्बन्धित होगी क्योंकि लौकिकवस्तुएँ न मिलने के कारण भी तो ऐसी ही विकलता और ऐसी ही अस्वस्थता होती दिखाई देती है, फिर लौकिक अवस्था और अलौकिक अवस्था में क्या भेद रहा !! तो आचार्यचरण उसका निराकरण **प्राकृतं न हि** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं कि- विप्रयोग में होने वाली विकलता और अस्वस्थता दोनों ही प्रकृति के सत्त्व-रज-तम आदि गुणों के विकार से होने वाली विकलता और अस्वस्थता नहीं है; और निश्चितरूप से नहीं है, यह **हि** शब्द का अर्थ है। इसका भाव यह है कि, पुरुषोत्तम का स्वरूप रसात्मक है और रस संयोग-विप्रयोग के भेद से दो प्रकार का होता है अतः इस दृष्टि से पुरुषोत्तमस्वरूप भी दो प्रकार का सिद्ध हुआ। अब संयोगावस्था में पुरुषोत्तमस्वरूप बाहर प्रकट होता है और विप्रयोग के समय भावात्मकरूप से जीव की तत्तत् इन्द्रियों में मिलकर उसके अन्तःकरण में ही रस का पोषण करता है। परन्तु विप्रयोग में चूँकि भगवत्स्वरूप तापरूप से रहता है और उसके साक्षात् दर्शन नहीं होते अतः जीव में ताप उत्पन्न करता है, इसलिए उस विप्रयोगताप से उत्पन्न होने वाली तीक्ष्ण/तीव्र भावभावना के द्वारा पूर्व में कहे अनुसार अन्तःकरण में तापात्मक भगवत्स्वरूप का अनुभव होने पर जब जीव भी उसके अनुसार ही चेष्टाएँ करता दिखाई पड़ता है तो बाहरी तौर पर लोगों को उसमें विकलता होनी प्रतीत होती है। यानि तीव्रविप्रयोग में जब भगवत्स्वरूप उसके अन्तःकरण में प्रकट होता है एवं वह भगवत्स्वरूप से वार्तालाप/संवाद इत्यादि की चेष्टा करने लग पड़ता है तो बाहरी लोगों को उसकी यह असामान्य परिस्थिति यों प्रतीत होती है मानों वह बड़ा ही विकल एवं परेशान है, किन्तु वे इसका मूलकारण नहीं जान पाते। जबकि स्वयं जीव विकलता या परेशानी

का अनुभव नहीं करता अपितु देखने वाले की दृष्टि से उन्हें उस विप्रयोगी जीव में विकलता एवं अस्वस्थता होनी प्रतीत होती है- यह अर्थ है। और चूँकि प्रभु के दर्शन नहीं होते अतः जीव को अस्वस्थता भी बनी रहती है, परन्तु ये विकलता और अस्वस्थता दोनों ही धर्म रसात्मकभगवत्स्वरूप से उत्पन्न हुए होने के कारण रसात्मक ही होते हैं अतः आनन्दरूप ही होते हैं, पीड़ादायक नहीं। ये प्राकृत/लौकिक नहीं होते अतः आपश्री ने ठीक ही **प्राकृतं न हि** कहा है। इससे आपश्री यह सूचित करना चाह रहे हैं कि, जितनी जितनी विकलता और अस्वस्थता बढ़ती चली जाती है, उतना-उतना फल में विलम्ब होना कम होता चला जाता है।

एतत्प्रकृतिं निरूप्य यथा (ज्ञान) मार्गे परित्यागानन्तरं सकलपदार्थस्फूर्त्या सर्वं ज्ञानं गुणाश्च भगवद्धर्मरूपात्मानुभवेन साधकास्तथा प्रकृतेपि तेषां साधकत्वमाशंक्य साधकत्वस्य का सम्भावना, प्रत्युत बाधकत्वमित्याहुः ज्ञानमिति । एवं वर्तमानस्य विकलत्वास्वास्थ्यरूपं प्राप्तस्य ज्ञानं बहिरनुसन्धानेन पदार्थस्फूर्त्या सर्वगुणा भगवल्लीलादिधर्मरूपाश्च कदाचित्प्रच्युतास्तेन व्यभिचारिभावानां वैचित्र्याद्वा हृदि स्फुरति, तदा मनस्तदवलम्बनं भवति । यथा महासमुद्रे मज्जतः तृणस्येव । तदा तज्जनितयत्किञ्चिदपि स्वास्थ्ये फले बाधका एव, न तु साधकाः । किञ्च, ये लीलागुणाः पूर्वं भावपोषणे साधकाः जातास्त एव गुणाः साम्प्रतमेतादृगवस्थायां जीवनसम्पादकत्वेन बाधका भवन्ति । एतेन विरहानुभवस्य पूर्णत्वेन जातत्वात् जीवनस्थितेः प्रयोजनाभावात् । अतः परं मूर्च्छादीनां दशम्येवावस्था फलसाधिकेति तेषां बाधकत्वमुक्तमिति ज्ञापितम् । एवं सति लीलादीनां धर्मरूपत्वेन बाधकत्वकथनात् केवलधर्मिस्फूर्तिरेव फलसाधिकेत्यपि ज्ञापितं भवति ।

तो, इस विप्रयोग की प्रकृति/स्वभाव का निरूपण करके अब आपश्री यह बता रहे हैं कि, यदि कोई ऐसी शंका करता हो कि, जिस प्रकार ज्ञानमार्ग में परित्याग करने के पश्चात् ज्ञानी को समस्त पदार्थ भगवद्रूपत्वेन या ब्रह्मत्वेन भासित होते हैं अतः उसके अनुभव में आनेवाला सभी ज्ञान एवं गुण ब्रह्मत्वेन भासित होता होने के कारण उसके फल में साधक ही होते हैं, ठीक उसी प्रकार भक्तिमार्गीयपरित्याग करने वाले को भी 'ज्ञान' और 'गुण' साधक होते होंगे- यदि कोई ऐसी शंका करे तो आपश्री **ज्ञानं** इत्यादि शब्दों से यह कह रहे हैं कि, इनके साधक होने की बात तो दूर रही उल्टे ये बाधक होते हैं। इससे आपश्री को यह तथ्य बताना है कि, **एवं वर्तमानस्य** यानि जिसको भगवद्विप्रयोग में ऐसी उच्चदशा की विकलता और अस्वस्थता प्राप्त हो चुकी है, उसको यदि बाहरी अनुसन्धान हो जाय और अन्य पदार्थों की स्फूर्ति का ज्ञान हो जाय, तो हानि यह होती है कि, उसका विप्रयोगभाव थोड़ा शांत हो जाता है एवं उसके विकल एवं अस्वस्थ मन को थोड़ा आधार मिल जाता है; ठीक इसी प्रकार भगवल्लीला आदि धर्मरूप भगवद्गुण यदि उसके मन में निःसृत होने लगें और भगवत्सम्बन्धी व्यभिचारिभावों(यानि संचारीभाव जो स्थायी नहीं रहते, आते-जाते रहते हैं)की विचित्रता यदि उसके हृदय में स्फुरित होने लगे, तो फिर उसका मन उन भगवल्लीला एवं भगवद्गुणों का अवलम्बन(आधार)ले लेता है और वह विप्रयोग की चरमसीमा पर आते आते बीच में ही रुक जाता है, जिसके पश्चात् फलावस्था आनी होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि महासागर में डूबते हुए को तिनके का सहारा मिल जाए। ऐसी परिस्थिति में यदि भगवद्-ज्ञान एवं भगवद्गुणों से यत्किंचित् भी स्वास्थ्य उत्पन्न हो जाता है, तो वह फलप्राप्ति में बाधक ही होता है, साधक नहीं। यानि जो भगवल्लीला और भगवद्गुण इत्यादि पहले यानि कि साधनावस्था में भावपोषण में साधक बने थे, वही भगवद्गुण अधुना विप्रयोग की ऐसी दशा में जीवन टिका देने में सहायक बनते होने के कारण अब बाधक बन जाते हैं; क्योंकि जीवन तो टिक गया परन्तु वस्तुतः भगवद्विरहानुभव पूर्णता पर आ जाने के बाद जीवन का कोई प्रयोजन शेष नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था आने के पश्चात् तो मूर्च्छा इत्यादि प्रेम की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अवस्थाओं में की जो दसवीं अवस्था(मृत्यु) है, वही अवस्था फलसाधिका होती हैं अतः आचार्यचरण 'ज्ञान' और 'गुणों' को ऐसी अवस्था में बाधक कह रहे हैं। इस परिस्थिति में भगवल्लीला आदि चूँकि भगवद्धर्मरूप होती हैं इसलिए उन्हें बाधक बताया गया अतः यह भी ज्ञात होता है कि ऐसी अवस्था में तो केवल धर्मिस्वरूप भगवान की ही स्फूर्ति फलसाधिका होती है।

ननु ज्ञानमार्गे ज्ञानगुणमनःस्वास्थ्यादीनां साधकत्वम्, भक्तिमार्गेपि कथं बाधकत्वमित्याकांक्षायां मार्गभेदेन साधनफलभेदात् तथात्वमाहुः । संन्यासेन विशेषितात् सम्यक् साधितात् ज्ञानात् प्रथमं सत्यलोके स्थितिर्भवति । पश्चाद् ब्रह्मणा सह मुक्तिरुक्तेति ज्ञानानन्तरमेव सत्यलोकस्थितेः कथनात्तत्र मनःस्वास्थ्यगुणादीनामेव साधकत्वम्, तद्व्यतिरेकेण ज्ञानस्थैर्याभाव इति तेषां साधकत्वमुक्तम् । एतेन ज्ञानमार्गस्य साधनं फलमपि चोक्तम् ।

किन्तु किसी पूर्वपक्षी को एक शंका यह होती है कि, ज्ञानमार्ग में तो 'ज्ञान', 'गुण' और मन की स्वस्थता/प्रफुल्लता इत्यादि साधक माने जाते हैं, फिर भक्तिमार्ग में उन्हें बाधक क्यों माना जाता है ? यदि ऐसी आशंका होती हो, तो आचार्यचरण भक्तिमार्ग की तुलना में ज्ञानमार्ग का अंतर बताते हुए ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग में साधन और फल में भी परस्पर भेद होता है-

यह कहते हुए इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। सबसे पहले ज्ञानमार्ग के विषय में बताते हुए आपश्री के **संन्यासेन विशेषितात्** इत्यादि शब्दों का अर्थ है- संन्यास के द्वारा व्यवस्थितरूप से साधा हुआ जो ज्ञान है, उससे सर्वप्रथम सत्यलोक में स्थान प्राप्त होता है। इसके पश्चात् ब्रह्मा के संग उनकी मुक्ति होनी बतायी गयी है और चूँकि ज्ञानप्राप्त हो जाने के पश्चात् ही सत्यलोक में स्थान प्राप्त होना बताया गया है अतः ज्ञानमार्ग में मन की स्वस्थता/मन का शांतचित्त रहना और सत्त्वगुण इत्यादि ही साधक होते हैं क्योंकि इन सभी साधनों के बिना ज्ञान स्थिर नहीं रहता इसलिए ये सभी उसमें साधक माने जाते हैं। आपश्री ने इस कथन के द्वारा यह बताया कि ज्ञानमार्ग के साधन क्या होते हैं एवं उन साधनों से क्या फल प्राप्त होता है। किन्तु इस ग्रन्थ में बताए गए भक्तिमार्गीयों के लिए तो "ब्रह्मणा सह मुक्तिः" इस वाक्यानुसार प्रभु के साक्षात् स्वरूप से सम्बन्ध हो जाने की भावना करते रहनी ही साधन है। जबकि ज्ञानमार्ग में तो साक्षात् पुरुषोत्तम से सम्बन्ध हुए बिना ही स्वस्थता हो जाती है, इस कारण वहाँ तो मन का स्वस्थ होना ही फलसाधक माना जाता है, यदि वहाँ मन की स्वस्थता नहीं होगी, तो फल भी प्राप्त नहीं होगा।

प्रकृते 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारकसाक्षात्स्वरूपसम्बन्धभावनैव साधनम् । तत्र च तत्सम्बन्धव्यतिरेकेण स्वास्थ्यसम्भावने च स्वास्थ्यमेव फलसाधकम्, नो चेत् फलमेव न भवेत् । तत्रापि यादृशी पूर्वोक्तप्रकारिकान्तर्भावना तादृशमेव सर्वेन्द्रियास्वाद्यं बहिरनुभवात्मकं फलमपि भवेत्, न तु ज्ञानमार्गलाभान्मध्ये सत्यलोके स्थितिः, पश्चादन्तरेव केवलमात्मलयमात्रमिति फलं चापि तथा भवेदित्युक्तम् । किञ्च, लयोप्यक्षर एव, न तु पुरुषोत्तमे । सोपि ब्रह्मणा सहेति फलसिद्धौ महान् विलम्ब उक्तः । तत्रापि साधनफलभेदः । प्रकृते साक्षात्पुरुषोत्तमस्य रसात्मकत्वात् रसस्य संयोगविप्रयोगात्मकत्वाद्बाह्याभ्यन्तरभेदेन संयोगे विप्रयोगे च स्वरूपरसानुभव एव । न तु साधनफलभेदः । एवं सति विकलत्वास्वास्थ्यादिदशायाः पूर्वोक्तरीत्या साधनरूपायामपि साक्षात्स्वरूपानुभव एव भवतीति ज्ञानमार्गफलापेक्षया एतत्साधनस्यापि सर्वोत्कृष्टत्वं निरूपितम् ।

पुष्टिभक्तिमार्गियों के लिए तो पूर्व में "भगवता सह संलाप(सुबो-10/18/7;का-8)" इत्यादि वाक्यों में कहे अनुसार जिस प्रकार की अन्तर्भावना होगी, उसी प्रकार का समस्त इन्द्रियों को प्रकट में अनुभव होने वाले भगवत्स्वरूप का आस्वादनरूप फल प्राप्त होगा, ज्ञानमार्गियों की भाँति नहीं कि मुक्ति से पहले बीच में सत्यलोक में रहना पड़ता है और पश्चात् समस्त वृत्तियों का अन्तर में यानि केवल आत्मा में लय हो जाता है- इतनी बात आचार्यचरणों ने **फलं चापि तथा भवेत्** इत्यादि शब्दों से कही है। और, इन ज्ञानियों का लय भी अक्षरब्रह्म में ही होगा, पुरुषोत्तम में नहीं। और वह भी ब्रह्माजी जब मुक्त होंगे, तब उनके संग मुक्ति होगी अतः ज्ञानमार्ग में तो फलसिद्ध होने में महान विलम्ब होता है। तिस पर भी साधन और फल में तो भेद रहता ही है अर्थात् साधन और फल अलग-अलग होते हैं। किन्तु इस भक्तिमार्ग में तो ऐसा है कि, चूँकि साक्षात् पुरुषोत्तम रसात्मक हैं और रस संयोग-विप्रयोग यों दो प्रकार का होता है अतः चाहे प्रभु का बाह्य-अनुभव हो या आन्तर-अनुभव हो, यानि संयोग हो या विप्रयोग हो, दोनों ही अवस्थाओं में जीव को भगवत्स्वरूप के ही रस का अनुभव होता है। भक्तिमार्ग में साधन और फल में कोई भेद नहीं है, यानि भगवान ही साधनरूप हैं और भगवान ही फल। इस परिस्थिति में सिद्ध यह होता है कि, उपर कहे अनुसार विकलता और अस्वस्थता आदि दशाएँ साधनरूपा होने पर भी उस समय साक्षात् भगवत्स्वरूप का ही अनुभव होता है अतः ज्ञानमार्ग में प्राप्त होने वाले फल की भी अपेक्षा यह भक्तिमार्ग का साधन सर्वोत्कृष्ट है- यह आचार्यचरणों ने निरूपित किया है।

ननु ज्ञानस्य फलं मुक्तिः, सत्यलोकस्थितिः किमर्थं भवतीत्याशङ्क्याहुः । तादृशाः संन्यासविशिष्टपूर्णा ज्ञानयुक्ता अपि सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येवेति निश्चयः । अत्र संशयो न । यतस्तेषां तु ब्रह्मणा सहैव मुक्तिसम्भवात्तावत्पर्यन्तं तत्रैव स्थितेर्नियतत्वात् तत्र सा मर्यादास्तीति । आदिपदेन तादृशत्वाभावे लोकान्तर एव स्थितिः । ननु तत्रापि फलसिद्धौ महान् विलम्बो निरूपितः । प्रकृते तादृगवस्थायां यदि गुणाद्यनुसन्धानं न भवेत्तदा तत्कालमेव फलसिद्धिरिति तत्प्रकारं निरूपयन्ति बहिरिति । पूर्वोक्तभावनया भगवान् एव स्फुरतीत्यर्थः । स चेदतिविगाढभावेन तदात्मकतया गुणगानद्वारा साक्षाद्बहिः प्रकटो भूत्वा रसानुभवं कारयित्वा पुनस्तिरोहितः प्रचुरतापात्मकः सन्नन्तःप्रविशेत्, तदैव तत्क्षणमात्रेणैव सकलो बन्धः प्राकृतदेहरूप एव बहिः साक्षात्फलानुभवे प्रतिबन्धः, स तादृशप्रचुरतापेन मूर्च्छादिदशमावस्थां नाशमेति । तत्र दृष्टान्तः वह्निवत् । यथा दार्वन्तर्गतो वह्निः सदैव तिष्ठति, परन्तु दारुदहनोपयुक्तो न भवति । यदा पुनर्मथनेन बहिः प्रकटो भवेत्, तदा तत्सम्बद्धः सन् तदन्तःप्रविश्य क्षणेनैव सर्वं दार्वंशं प्रज्वालयति । न केवलं तावन्मात्रम्, किन्तु तत् स्वसदृशमपि करोति, तथा अयमपि स्वात्मरूपत्वेन तदन्तर्गतो

विगाढभावेन मथनेनैव तथा भूत्वा पुनस्तिरोभूयान्तस्तापरूपेण प्रविशेत्तदा तं तथा कृत्वा स्वसदृशीं रसात्मकतामलौकिकवयोगुणादिसम्पत्तिमपि करोतीति दृष्टान्तधर्मसाम्येन सूचितं भवति ।

किन्तु ज्ञान का अंतिम फल तो मुक्ति है, फिर आचार्यचरण ज्ञानियों को सत्यलोक में स्थान मिलना क्यों बता रहे हैं ? तो आपश्री **तादृशाः** इत्यादि शब्दों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इससे आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि, **तादृशाः** अर्थात् केवल संन्यासी नहीं अपितु संन्यास के साथ-साथ पूर्णब्रह्मज्ञानयुक्त; ऐसे संन्यासयुक्त ज्ञानी भी सत्यलोक आदि में ही रहते हैं- यह निश्चित है। इस निश्चय में कोई संशय नहीं है क्योंकि उनकी मुक्ति तो ब्रह्माजी के संग होने वाली होती है, अतः जब तक स्वयं ब्रह्माजी मुक्त नहीं हो जाते, तब तक उनका सत्यलोक में रहना तो नियत होता है, ये ज्ञानमार्ग की मर्यादा है। जबकि **आदि** पद से यह ज्ञात होता है कि, यदि केवल संन्यासी है परन्तु ज्ञानयुक्त नहीं है, तो ऐसे संन्यासी को तो सत्यलोक के अतिरिक्त अन्य लोकों में रहना होता है, परन्तु फिर भी फलसिद्ध होने में अत्यधिक विलम्ब तो होता ही है। जबकि इस भक्तिमार्ग में तो इस उत्कट विप्रयोगावस्था की चरमसीमा आ जाने पर यदि जीव को भगवद्गुणों का अनुसन्धान न होने पाए, तब तो तत्काल उसी क्षण फल सिद्ध हो जायेगा इसलिए आचार्यचरणों ने इसका प्रकार **बहिः** इत्यादि शब्दों से निरूपित किया है। पूर्व में कही भावना करने के द्वारा भगवान ही प्रकट होते हैं- यह अर्थ है। इसका तात्पर्य यह कि भगवान जब अतिविगाढभाव(प्रचुरभाव)के कारण विगाढभावात्मकरूप से गुणगान द्वारा जिस क्षण साक्षात् बाहर प्रकट होकर उसे रसानुभव करा के पुनः तिरोहित होते हैं और फिर प्रचुरतापात्मक होते हुए उसके अन्तःकरण में प्रवेश करते हैं, **तदैव** यानि उसी क्षण उसके **सकलो बन्धः** यानि समस्त बन्धन यानि प्राकृतदेहरूप बन्धन यानि जो बन्धन बाहर भगवान का साक्षात् फलानुभव होने में प्रतिबन्धक हैं, उन बन्धनों का नाश हो जाता है और वह ऐसे प्रचुरताप के कारण मूर्च्छा इत्यादि अवस्थाओं में से दसवीं अवस्था को प्राप्त हो जाता है, यानि उसके समस्त बन्धनों का नाश हो जाता है। इस पूरी प्रक्रिया को समझाने के लिए आपश्री ने **वह्निवत्** इत्यादि शब्दों से दृष्टान्त दिया है। आपश्री यह समझाना चाह रहे हैं कि, जिस प्रकार लकड़ी के भीतर अग्नि तो सदैव रहती ही है, परन्तु लकड़ी को जला नहीं सकती। किन्तु जब लकड़ी के घर्षण के द्वारा वह बाहर प्रकट होती है, तब लकड़ी से मिलकर उसके भीतर प्रवेश करके क्षण में ही समस्त लकड़ी के अंश को जला देती है। केवल जला ही नहीं देती अपितु लकड़ी को भी अपने जैसा बना देती है, ठीक उसी प्रकार प्रभु भी स्वात्मरूप से(अर्थात् जीव के आत्मरूप होकर) जीव के अन्दर बिराजे हुए होते हैं और जब जीव के अन्तःकरण में विगाढ़भावों का मंथन होता है, तब उस भावमंथन के द्वारा प्रभु बाहर प्रकट होकर पुनः जब तिरोभूत होते हैं और फिर पुनः उसके अन्तःकरण में तापरूप से प्रवेश करते हैं, तब जीव को अपने समान रसात्मक अलौकिक वय-गुण सम्पत्ति से युक्त भी कर देते हैं- यह बात आपश्री ने दृष्टान्त के रूप में अग्नि के धर्म से प्रभु के धर्मों की समानता बता कर सूचित की है।

एवं सति यथा दारुण्यार्द्रत्वं यदि भवेत्तदा सोप्यसमर्थो धूममेव जनयति, तथा प्रकृते शक्तिश्चित्स्वास्थ्यस्यार्द्रत्वस्थानीयत्वात् धूमवद्गुणगानादिकमेव भवेत्, तदा तत्सम्बन्धः सः, न तु बन्धनिवृत्तिरित्याशयेनोक्तं 'न चान्यथे'ति । 'एतत्प्रकाराभावे न भवतीत्यर्थः । एतत्सर्वं फलप्रकरणीयद्वितीयाध्याये गायन्त्य उच्चै'रित्यस्य विवरणे 'शब्दो हि धूमवल्लोक' इत्यादिना निरूपितम् । एतेनास्वास्थ्यादावेव फलविलम्बाभाव इति तदेव साधकम्, न गुणादिस्फूर्तिरिति पूर्वाशंका निरस्तेति भावः ।

अब इसमें समझने वाली बात यह है कि, यदि लकड़ी गीली हो ,तो अग्नि भी उसे जलाने में असमर्थ होती है और केवल धुँआं ही उत्पन्न करती है; उसी प्रकार यदि विप्रयोग की ऐसी उच्चावस्था आने पर यदि जीव भगवद्गुणगान करके थोड़ा सा भी स्वस्थ हो जाय और उसके विप्रयोग का ताप कम हो जाय, तो उसका इस प्रकार से स्वस्थ होना साक्षात् फलानुभव होने में ठीक वैसे ही प्रतिबन्धक माना जायेगा, जैसे कि गीलापन अग्नि प्रज्ज्वलित होने में प्रतिबन्धक होता है; जिस प्रकार से गीली लकड़ी जलने पर धुँआ ही उत्पन्न करती है अग्नि प्रकट नहीं करती, उसी प्रकार भगवद्गुणगान से स्वस्थ बना जीव भी भगवद्गुणगान तो अवश्य प्रकट करेगा जैसे कि गीलेपन ने धुँआ प्रकट किया था और भगवद्गुणगान के माध्यम से वह भगवान से सम्बन्धित भी रहेगा परन्तु वह सम्बन्ध उसके बन्धनों की निवृत्ति नहीं कर पायेगा, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार लकड़ी का अग्नि से सम्बन्ध तो हुआ परन्तु गीलेपन के कारण अग्नि प्रकट न हो पायी अपितु धुँआ ही प्रकट हो पाया- इस आशय से आपश्री ने **न चान्यथा** कहा है। इससे आपश्री को कहना यह है कि, जब तक उक्त अग्नि वाले दृष्टान्त की भाँति पूर्णप्रक्रिया संपन्न नहीं होती, तब तक उसके बन्धनों का नाश नहीं होता। यह पूरा भाव फलप्रकरण के द्वितीयाध्याय

---

१. **एतत्प्रकारभावेन भवतीति पाठः ।**

के *"गोपिकाएँ परस्पर मतवाली होकर उँचे स्वर में भगवद्गुणगान करने लगीं और सर्वत्र श्रीकृष्ण को ढूँढने लग गयीं(श्री0भा-10/30/4)"* इस श्लोक के विवरण में आचार्यचरणों ने सुबोधिनी में *"शब्दो हि धूमवल्लोके"* इस कारिका द्वारा कहा है। इन सभी से यह सिद्ध होता है कि, अस्वस्थता-विकलता इत्यादि आने पर ही फलप्राप्ति में विलम्ब कम होता चला जाता है अतः ये ही साधन है, भगवद्गुणगान की स्फूर्ति आना नहीं, यानि भगवद्गुणगान करने की ओर ध्यान नहीं जाना चाहिए, इसलिए इस विषय में पूर्व में जो शंका की गयी थी, वह इस विश्लेषण द्वारा निरस्त हो गयी जान लेनी चाहिए- यह भाव है।

ननु विप्रयोगस्य केवलमस्वास्थ्यैकप्रकृतिकत्वात् तदुत्तरक्षण एव प्रतिबन्धनिवृत्तिं कथं न करोति । मध्ये गुणाद्यवलम्बनं कारयति । अत एवोक्त'मन्तर्हिते भगवती'त्यस्य विवरणे 'यावत्स तापोन्तःप्रविशेत् तावता भगवल्लीला प्रविष्टे'ति । तत्प्रवेशे तस्य तदेकस्वभावात् । तदनुभवाभावो यतः । एवं सति विप्रयोगभावार्थं जीवनसम्पादकत्वेन गुणानां साधकत्वं तस्मिञ्जाते प्रयोजनाभावात्तादृगवस्थायां स्वास्थ्यकारकत्वेन बाधकत्वमिति न कोपि विरोधः । अत एव ज्ञानं गुणाश्चेति पूर्वं बाधकत्वमधुना गुणास्त्वित्यनेन साधकत्वं चोक्तम् ।

केन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, विप्रयोग तो केवल अस्वास्थ्य ही उत्पन्न करता है अतः इतनी देर तक जीव को प्रतीक्षारत रखने का क्या हेतु है, भगवान उसे विप्रयोग होते ही प्रतिबन्धों की निवृत्ति करके तुरंत फलदान क्यों नहीं कर देते ? तो इसके समाधान में यह समझिए कि विप्रयोग और फलदान के बीच के समय में भगवान उसे गुणगान आदि का आधार दिलवाते हैं, इसलिए फलदान में समय लगता है। देखिए, इसी कारण *"भगवान सहसा अन्तर्धान हो गये(श्री0भा-10/30/1)"* इस श्लोक के विवरण में आचार्यचरणों ने *"यावत्स तापोन्तः प्रविशेत्(जब तक उनके अन्तःकरण में प्रभु का ताप जाता, उसके पहले उनके अन्तःकरण में भगवल्लीला प्रविष्ट हो गयी)"* यों कहा है, जिसका तात्पर्य यह है कि इससे पहले कि गोपिकाओं को भगवान का विप्रयोग पूर्णरूपेण हो पाता, उनके भीतर भगवल्लीला प्रविष्ट हो गयी जिसके कारण उनका बढ़ता हुआ ताप कम हो गया। इसका प्रयोजन यह है कि गुणगान का आधार मिल जाने से गोपिकाओं के प्राण भी टिके रहे और शनैः शनैः पूर्णविप्रयोग का अनुभव भी होता चला गया। क्योंकि यदि भगवद्गुण भीतर प्रविष्ट हो जाएँ तो उनका स्वभाव तो ठीक भगवान की भाँति ही सुख देने वाला होता है और चूँकि विप्रयोग के समय भगवान का अनुभव हो नहीं रहा है अतः भगवद्गुण विप्रयोगी के प्राण टिका कर रखते हैं। इससे यह समझना चाहिए कि, विप्रयोगभाव का पूर्णरूप से अनुभव होने देने के लिए तब तक जीवन टिका रहे इस उद्देश्य से भगवद्गुण साधक होते हैं; परन्तु जब एक बार विप्रयोगभाव पूर्णरूप से परिपक्व बन गया तो उसके पश्चात् अब जीवन का प्रयोजन इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि प्रभु का साक्षात्कार, अतः विप्रयोगभाव की परिपक्वदशा आ जाने के पश्चात् यदि मन गुणगान में लग जाय, तो वह मन को स्वस्थ बना देता होने के कारण ऐसी दशा में वही गुणगान बाधक सिद्ध होता है, इसलिए यहाँ विरोध होने जैसी कोई बात नहीं है, इसलिए भगवान विप्रयोग होते ही तदुत्तर क्षण में उसके प्रतिबन्धों की निवृत्ति नहीं करते। इसीलिए आचार्यचरणों ने 'ज्ञान' एवं 'गुणों' को पहले (9 वें श्लोक में कही कही विकल एवं अस्वास्थ्य की परिपक्व अवस्था के समय में) बाधक बताया और बाद में(12वें श्लोक में कही फलदान के लिए जीवन टिकाने की अवस्था के समय में)साधक बताया है।

एतेन भगवतोपि बाधकाभावो निरूपितः । एवं गुणानामवस्थाभेदेन बाधकत्वसाधकत्वनिरूपणात् भगवतो बाधकत्वाभावं निरूप्यात:परमपि चेदुणाद्यवलम्बं स्थापयेत्, तदा स्वास्थ्ययुक्तत्वात् बाधकत्वं भवेदिति तदभावमाहुः । एवं सम्पूर्णे विरहानुभवे जाते बहिःसाक्षात्फलदानार्थं यतो भगवानलौकिकैश्वर्यवीर्यगुणादिसकलस्वोपयोगशक्तिसहितं स्वरूपं कृत्वा स्थितो भवति । अतः फलरूपत्वात्स्वस्य अत्र दशायां फलबाधको गुणाद्यवलम्बो नेष्यते, भगवता नेष्यत इत्यर्थः । अयं भावः । फलानुभवार्थं भक्तस्य यावती परीक्षा भगवतः कर्तव्या भवति, तावती सर्वा विरहानुभवेन सम्पन्ना जातेत्यतःपरमपि फलविलम्बे जाते स्वस्यैव बाधकत्वं भवेत्, तदधिकारस्य जातत्वात्। अतः सुष्ठूक्तं नात्रेति ।

इससे आपश्री यह बताना चाह रहे हैं कि, पूर्णविप्रयोगावस्था आने पर तो भगवान भी उसके भाव में बाधा उत्पन्न नहीं करते, यानि जब ऐसा विप्रयोगभाव सिद्ध हो जाय कि ज्ञान और गुण भी उसे बाधा नहीं कर सकते, तो इससे यह सिद्ध होता है कि अब स्वयं भगवान भी उसके भाव में बाधा करना नहीं चाहते। इस प्रकार भगवद्गुणों को जीव की प्रारंभिक एवं चरमसीमा की अवस्थाओं के अनुसार बाधक या साधक बता कर यह भी निरूपित कर दिया गया कि, विप्रयोग की चरमसीमा आने स्वयं भगवान भी बाधा नहीं करते, इसके बाद भी यदि भगवान जीव को तीव्रविप्रयोग से राहत दिलाने के लिए भगवद्गुणगान का सहारा दे दें, तो जीव उस गुणगान से स्वस्थ बन जायेगा और विप्रयोग की पूर्णावस्था नहीं बन पायेगी जिसके पश्चात् भगवान को प्रकट होना है अतः तीव्रविप्रयोग की परिस्थिति के

ाद तो भगवद्गुणगान उसकी राह में बाधक ही है और इसी कारण भगवान उसे विप्रयोग में ही रहने देते हैं- यह बात आपश्री ने आगे ो "**भगवान्..... न विरुद्ध्यते**" इस पंक्ति द्वारा कही है। यों ऊपर कहे अनुसार संपूर्ण विरह का अनुभव होने पर बाहर साक्षात् ूप से प्रकट होकर फलदान करने के लिए भगवान अर्थात् अलौकिक-ऐश्वर्य-वीर्य-गुण आदि अपनी समस्त शक्तिसहित स्वरूप से उसे ूलदान करने को तत्पर रहते हैं, अतः भगवान स्वयं फलरूप होने के कारण जब ऐसी विप्रयोग की परिपक्वदशा आ जाय, तब जीव को ागवद्गुणगान पर अवलम्बित कराना नहीं चाहते- यह अर्थ है। इसमें भाव यह है कि, परमफल का अनुभव कराने के लिए प्रभु को जीव ो जितनी परीक्षा लेनी थी, वह सभी कुछ उसको विरह का अनुभव करवा कर सम्पन्न हो गयी होती है अतः इसके बाद भी यदि उसको ाहे भगवद्गुणगान के द्वारा ही सही परन्तु फल में विलम्ब होता हो, तो खुद भगवान ही उसकी राह में बाधा करने वाले सिद्ध होंगे, ्योंकि अब तो परमफल का अनुभव करने का उसका अधिकार सिद्ध हो चुका होता है इसलिए अब व्यर्थ में उसे विलम्ब क्यों कराया ाय !! अतः आचार्यचरणों ने ठीक ही **नात्र बाधक इष्यते**(भगवान बाधारूप होना नहीं चाहते)यों कहा है।

नु तादृगवस्थायामपि तादात्म्यकतया यथा प्रियेण सह भाषणादिकं प्रियाया भवति, तथा तादृशभावनया प्रियस्यापि ात्सम्भवतीति तदेव वाक्यं स्वास्थ्यकारकं भविष्यति । अथवा 'हा नाथे'त्यत्र क्रियाशक्त्या तादृगवस्थायां वास्थ्यकरणम्, तथा प्रकृते चापि वचनेनापि तत्सम्भवतीत्याशंक्य तत्राहुः स्वास्थ्येति । यद्यपि पूर्वावस्थायां तथा करोति, तदनन्तरं तदपि स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यमिति न करोति, प्रयोजनस्य जातत्वात् । अत्र हेतुः । दयालुरिति । ातो न विरुध्यते । विरोधित्वेन न भूयत इत्यर्थः । विरोधी स एव यः परस्यानिष्टं करोति । अयं परमदयालुरिति कलेष्टसिद्धिं कृतवानिति भावः ।

लो, भले ही पूर्णविप्रयोग की उच्चदशा आ चुकी हो और भगवान उसे गुणगान पर अवलम्बित करके बाधक बनना नहीं चाहते, परन्तु, एक श्न यह होता है कि, ऐसी उच्चदशा आने पर तो भगवान तादात्मकरूप से जीव के अन्तःकरण में ही बिराजे होते हैं यानि अब वह भगवान ो अपने से भिन्न नहीं अपितु अपने साथ ही अनुभव कर रहा होता है और वह भगवान से वार्तालाप भी कर रहा होता है अतः जिस प्रकार केसी प्रिय को उसकी प्रिया मधुर वचन कहती है, उसी प्रकार उसी भावना के अनुरूप प्रिय भी तो अपनी प्रिया को मधुरवचन कहता ही है ! ठीक उसी प्रकार भगवान भी तो जीव के अन्तःकरण में ही बिराजे होते हैं अतः उससे वार्तालाप भी तो कर सकते हैं, इसलिए उसे अपने लिए इतने ताप में देखकर उससे यदि मधुरवचन कहें तो उनके वही वाक्य जीव के लिए स्वास्थ्यकारक बन जायेंगे !! अथवा, जैसे भगवान ा *"गोपियाँ प्रभुवियोग में रोने लगीं- हा नाथ! हा महाभुज! तुम कहाँ हो(श्री0भा-10/30/40)"* श्लोक के संदर्भ में जिस प्रकार से भगवान ने ोपिकाओं में अपनी क्रियाशक्ति प्रकट करके उनकी उच्चविप्रयोगदशा में भी उन्हें भी तो स्वस्थ बनाए रखा था और उनके प्राणों का नाश हीं होने दिया था, वैसे यहाँ भी संभव है कि वे उस भक्त की भी अपने वचनों द्वारा स्वस्थता बनाए रखें !! तो फिर उसका विप्रयोगभाव रिपक्व कैसे बनेगा और उसे फलसिद्धि कैसे होगी ?? तो आचार्यचरण इसका समाधान **स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं** इत्यादि शब्दों से कर रहे ं। यद्यपि उच्चविप्रयोगावस्था आने से पहले भगवान स्वस्थता होने के अनुरूप वचन कहते हैं, परन्तु, विप्रयोगभाव परिपक्व हो जाने के श्चात् भगवान के लिए जीव को स्वस्थता दिलाने वाले वाक्य कहने योग्य नहीं होते अतः वे नहीं कहते क्योंकि अब भगवान का प्रयोजन सेद्ध हो चुका होता है। इसका कारण आपश्री **दयालुः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- चूँकि भगवान दयालु हैं अतः भक्त ो फलदान होने में जो बात उसके विरुद्ध जाती हो, वैसा कार्य नहीं करते। क्योंकि उसे तो विरोधी कहते हैं, जो दूसरे का अनिष्ट करे। गवान तो परमदयालु हैं अतः उन्होने गोपिकाओं को सकल इष्टसिद्धि प्राप्त हो जाए, वही किया- यह भाव है।

एवं सति तादृशस्य स्वरूपस्थितौ गानम्, लीलाप्रवेशे प्रलाप इति मूर्च्छा तदवस्थया निरूप्यते । अतः परं ृशमावस्थायाः पूर्वोक्तप्रकारेण प्रतिबन्धनिवृत्त्या फलसिद्धिरिति सर्वमवदातम् । एतदेव सर्वं फलप्रकरणेपि निरूपितम्, वेरहानुभवेन परीक्षानन्तरं 'रुरुदुः सुस्वर'मित्यारभ्य 'तन्वः प्राणमिवागत'मित्यादिना । एवं स्वमार्गीयपरित्यागस्वरूपं नेरूप्य, अस्य दुर्लभत्वमाहुः । अयमिति स्वरूपनिर्देशः । तथा चेदृग्रूपः परित्यागः, साधनासाध्यत्वादति दुर्लभः ।

न सभी विश्लेषणों द्वारा आचार्यचरणों ने यह बताया कि, विप्रयोगावस्था की परिपक्वदशा में पहुँचे जीव के भीतर जब गवत्स्वरूप स्थापित होगा, तब वो भगवल्लीला का गान करना आरम्भ करेगा, और जब उसके भीतर भगवल्लीला प्रविष्ट ोगी, तब प्रलाप करेगा अतः इन दशाओं के द्वारा आचार्यचरण मूर्च्छा आने वाली अवस्था आनी बता रहे हैं। और इसके पश्चात् सवीं अवस्था आने पर पूर्व में कहे अनुसार प्रतिबन्धों की निवृत्ति होकर उसे फलसिद्धि होगी- यह समझ लेना चाहिए। यही ूर्च्छा एवं दसवीं अवस्था वाली बात आचार्यचरणों ने गोपिकाओं के लिए फलप्रकरणसुबोधिनी में भी *"हे परीक्षित्! इस प्रकार*

से गोपियाँ प्रभुवियोग में प्रलाप करने लगीं(श्री0भा-10/32/1)" इस वाक्य से लेकर *"अपने श्यामसुन्दर को आया देखकर गोपियाँ यों उठ खड़ी हुईं, मानो तन में प्राण आ गए हों(श्री0भा-10/32/3)"* यहाँ तक के वाक्यों में निरूपित की है कि, भगवान ने विरहानुभव कराने के द्वारा गोपियों की परीक्षा ली और उसके बाद उन्हें फलदान किया। इस प्रकार से यहाँ तक स्वमार्गीयपरित्याग के स्वरूप का निरूपण करके अब आचार्यचरण इसकी दुर्लभता बता रहे हैं। **अयं** शब्द द्वारा आपश्री ने स्वमार्गीयपरित्याग का स्वरूपनिर्देश किया है, जिसका तात्पर्य है- इस प्रकार का परित्याग साधनों के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता अतः इस प्रकार का परित्याग कर पाना बड़ा दुर्लभ है।

तर्हि कथं सिध्यति तत्राहु: प्रेम्णेति । श्रीमदाचार्योक्तनिष्ठया साक्षात्स्वरूपसेवाकरणेन तत्स्वरूपे प्रेमासक्तिव्यसने सम्पन्ने चैतत्परित्यागाधिकार इति तदा सिध्यति, नान्यथा । अन्यसाधनप्रकारेण नेत्यर्थ: । अत एव दुर्लभप्रेमासक्तिजनितस्वरूपसम्बन्धाभिलाषजन्यदु:खं तेन लाभो यस्येति तथा निरूपितम् ।

यदि कोई प्रश्न करे कि, यदि ये परित्याग साधनों से साध्य नहीं है, तो फिर कैसे सिद्ध होता है, तो आपश्री **प्रेम्णा** इत्यादि शब्दों से इसका उत्तर दे रहे हैं। **प्रेम्णा** का अर्थ यह है कि, आचार्यचरणों के कहे में निष्ठा रखते हुए और साक्षात्स्वरूपसेवा करने के द्वारा भगवत्स्वरूप में क्रमशः प्रेम-आसक्ति-व्यसन आदि अवस्थाएँ होनी सम्पन्न होने पर जीव में स्वमार्गीयपरित्याग का अधिकार उत्पन्न होता है अतः इतना सभी कुछ होने के पश्चात् यह परित्याग सिद्ध होता है, अन्य किसी साधन से नहीं- यह अर्थ है। अतएव दुर्लभ प्रेमासक्ति से उत्पन्न होने वाला भगवत्स्वरूपसम्बन्ध प्राप्त होने की अभिलाषा पूर्ण न होने से जो दुःख होता है, उस दुःख(विरहानुभव)का अनुभव होने के द्वारा ही जिस प्रकार का परित्याग प्राप्त हो सकता है, वैसे परित्याग को आचार्यचरण 'दुर्लभ परित्याग' कह रहे हैं।

अथवा । प्राकृतस्याप्राकृते प्रेमासम्भव इति तद्धेतुं पक्षान्तरेणाहु: प्रेम्णा भगवत्प्रेम्णा इति । श्रीमदाचार्याङ्गीकारवशेन स्वरूपानन्ददानोपयोगि प्रेम भगवतस्तस्मिञ्जायत इति तस्यापि तत्सम्भवतीति तथोक्तम् ।।७-१३$^{१}/_{२}$।।

अथवा, **प्रेम्णा** का अर्थ दूसरे प्रकार से भी कर सकते हैं, और वह यों कि, प्राकृत(जीव) को अप्राकृत(भगवान)से प्रेम होना तो असम्भव ही है, तो फिर भगवान भी जीव से क्यों प्रेम करेंगे ! अतः यदि फिर भी भगवान जीव से प्रेम करते हैं तो इसका हेतु आपश्री **प्रेम्णा** शब्द से बता रहे हैं। इस अर्थ में **प्रेम्णा** का अर्थ है- भगवान को जीव के प्रति प्रेम हो जाना। इसका तात्पर्य यह कि, श्रीमदाचार्यचरणों द्वारा अंगीकार किए जाने के कारण उससे वशीभूत होकर भगवान का भी जीव के प्रति अपने स्वरूपानन्द का दान देने वाला प्रेम उत्पन्न हो जाता है अतः प्राकृतजीव के प्रति भी भगवान प्रेम करने लगते हैं ॥7-13$^{1}/_{2}$॥

एवं स्वमार्गीयकर्तव्यविधिं निरूप्य तारतम्यज्ञापनार्थं ज्ञानमार्गीयतद्विधिं निरूपयन्ति ज्ञानमार्ग इति ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारित: ।।१४।।
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतै: परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ।।१५।।
अत: कलौ स संन्यास: पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ।।१६।।
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थिति: ।।१६$^{१}/_{२}$।।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो मया द्विविधो विचारित: । तदेव द्वैविध्यं विचारपूर्वकमाहु: । एक: संन्यास: ज्ञानसाधनार्थं, अपर: ज्ञानोत्तरं मुक्त्यङ्गमित्यर्थ: । तत्र संन्याससिद्धिस्तु जन्मशतै: अनेकशतसहस्रजन्मानन्तरं भवति । न तु शीघ्रम् । तत्र हेतु: । ज्ञानमिति । ज्ञानोत्तरं संन्यासाधिकार: । तत् ज्ञानं च साधनापेक्षम्, साधनं चित्तशुद्धि:, तदपेक्षा । तत्पुनर्यज्ञादिश्रवणान्मतं सम्मतम्, नान्यथा । आदिपदेन तपआदीन्यन्यान्यपि ज्ञेयानि । तत्रापि निष्कामत्वेन कृते चित्तशुद्धि: । तत्रापि बहुजन्मानन्तरम् । अत एवोक्तं बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् भवतीति ।

इस प्रकार से स्वमार्गीयपरित्याग की कर्तव्यविधि का निरूपण करके उसका दूसरों से अंतर बताने के लिए अग्रिमश्लोक में आपश्री ज्ञानमार्गीयपरित्यागविधि का निरूपण **ज्ञानमार्ग** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- ज्ञानमार्ग के अंतर्गत मैंने संन्यास का दो प्रकार से विचार किया है। उसी द्विविधता का आपश्री विचार कर रहे हैं। एक संन्यास वह होता है, जो ज्ञान सिद्ध करने के उद्देश्य से लिया जाता है, दूसरा वह होता है, जो ज्ञान सिद्ध हो चुका होता है

इसलिए लिया जाता है, जो मुक्ति का अंगभूत होता है, यानि इसके द्वारा मुक्ति मिलती है। इस दूसरे प्रकार के संन्यास की सिद्धि तो **जन्मशतैः** यानि सैंकड़ों हजारों अनेक जन्मों के अनन्तर होती है, शीघ्र नहीं। इसका कारण आपश्री **ज्ञानं** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। 'ज्ञानं' का अर्थ है- दूसरे प्रकार के संन्यास में ज्ञानप्राप्त हो जाने के पश्चात् संन्यास का अधिकार प्राप्त होता है। और ज्ञान तो साधनों की अपेक्षा रखता है; साधन हैं चित्तशुद्धि, जिनकी अपेक्षा ज्ञानप्राप्ति में होती ही है। और फिर चित्तशुद्धि भी यज्ञ-आदि और श्रवणकीर्तन इत्यादि साधनों के द्वारा होनी मानी गयी गयी है, इनके बिना नहीं। **आदि** पद से यज्ञ-श्रवण इत्यादि के साथ-साथ तप जैसे साधनों को भी गिन लेना चाहिए, ये भी चित्तशुद्धि करने में सहायक होते हैं। इतना होने पर भी शर्त यह है कि, निष्कामभाव से यज्ञ-तप आदि साधन करेंगे, तब जाकर चित्तशुद्धि होगी। और यदि होगी भी, तो अनेक जन्मों के पश्चात्। इसलिए कहा गया है कि- अनेक जन्मों के पश्चात् अन्त में जाकर व्यक्ति ज्ञानवान बनता है।

कदाचित् ज्ञाने जातेपि सत्यलोकस्थितेरावश्यकत्वान्मुक्तेर्विलम्ब एवेति सिद्धिर्जन्मशतैरपीत्युक्तम् । एवमुत्तराङ्गसंन्यासं साधनफलसहितं निरूप्य, अत्रापि ज्ञानसाधनार्थं स चेद् भवेत्तदा तस्य फलासाधकत्वं विपरीतफलकत्वं चाहुः । यतः पूर्वोक्तसंन्यासाधिकारो यज्ञादिकरणेन शतसहस्रजन्मानन्तरं चित्तशुद्ध्या ज्ञाने जाते भवति अतः कलौ चित्तशुद्ध्यभावेनैव कृतः संन्यासः पश्चात्तापायैव भवेत्, न त्वन्यथा । उक्तफलाय नेत्यर्थः । सकलेन्द्रियाणां कलिकालाधीनत्वे स्वस्वविषयासक्तत्वात्तत्त्यागे तेषां लोलुपत्वेन स्थैर्याभावात् । मया वृथैव संन्यासः कृत इति पश्चात्तापो भवेदिति भावः ।

और मान लो कदाचित् इतना सब करने के पश्चात् ज्ञान प्राप्त हो भी गया, तब भी नियम है कि मुक्ति से पहले सत्यलोक में रहना आवश्यक होता है अतः मुक्ति मिलने में विलम्ब तो होता ही है, इस कारण आपश्री ने "ज्ञानमार्ग में संन्यासिसिद्धि सैंकड़ों जन्मों के पश्चात् होती है" यों कहा है। यों दूसरे प्रकार के संन्यास का उसके साधन एवं फल सहित निरूपण करके आपश्री यह बता रहे हैं कि, यदि ज्ञानप्राप्त करने के हेतु से भी संन्यास लिया जाय, तब भी वह फलसिद्धि नहीं कर सकता और उल्टे विपरीत फल देने वाला भी होता है। आपश्री यह कह रहे हैं कि, चूँकि पूर्व में बताए गए दूसरे प्रकार के संन्यास का अधिकार यज्ञ-आदि करने के द्वारा सैंकड़ों-हजारों जन्म के अनन्तर चित्तशुद्धि हो जाने के बाद ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर प्राप्त होता है, अतः कलिकाल में उपरोक्त प्रकार से चित्तशुद्धि हुए बिना लिया गया संन्यास अंत में केवल पश्चात्ताप का ही कारण बनता है, इसके अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं होता, यानि इसके अतिरिक्त अन्य कोई फल प्राप्त नहीं होता। क्योंकि कलिकाल में तो समस्त इन्द्रियाँ कलिकाल के अधीन होती हैं अतः इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में आसक्त होती हैं, इसलिए उन-उन विषयों का त्याग कर भी देंगे, तब भी उन विषयों के प्रति लोलुपता तो बनी रहेगी क्योंकि स्वयं इन्द्रियों में वो स्थिरता अभी नहीं आ पायी है। तब कालान्तर में "मैंने व्यर्थ में ही परित्याग किया" इस प्रकार का मन में पश्चात्ताप होगा- यह भाव है।

केवलं पश्चात्तापमात्रमेव न भवेत्, किन्तु क्रमेण विषयासक्त्या वेषमात्रपर्यवसायित्वमपि । तदाहुः पाषण्डित्वमिति । अन्तर्विषयासक्तिर्बहिस्तदाश्रमवेषमात्रं पाषण्डस्तद्युक्तत्वं भवेत् । चकारादारूढपतितत्वजनितं पापमपि भवेदित्यर्थः । तस्मादनिष्टपर्यवसानात् ज्ञाने ज्ञानसाधनार्थं न संन्यसेदिति भावः । नन्वेवं निषेधः कथम् । कश्चित्समीचीनः स्वेन्द्रियनिग्रहादिना तमर्थं साधयति चेत्तत्राहुः सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ॥१४-१६$^{1}/_{2}$॥

केवल पश्चात्ताप ही नहीं होगा अपितु आगे चलकर क्रमशः विषयों में आसक्ति रखने के कारण केवल संन्यासी का वेष धारण करने तक ही संन्यास सीमित रह जायेगा, जिसे आपश्री **पाषण्डित्वं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। 'पाषण्डी' यानि अन्तर में तो विषयों के प्रति आसक्ति और बाहर से संन्यासाश्रम का केवल वेष धारण किया हुआ है- ऐसे पाषण्डी हो जायेंगे। **'च'** शब्द से यह भी समझ लेना चाहिए कि आरूढ़पतित होने के कारण पाप भी लगेगा। आरूढ़पतित का अर्थ है- निचले स्तर से उच्च स्तर तक पहुँचना और पुनः ऊपर से नीचे गिरना। इसलिए अनिष्टकारी होने के कारण ज्ञानप्राप्त करने के हेतु से कलिकाल में संन्यास नहीं लेना चाहिए- यह भाव है। परन्तु, प्रश्न यह होता है कि, आचार्यचरण संन्यास का सर्वथा निषेध ही क्यों करे दे रहे हैं ? ऐसा भी तो हो सकता है कि, कदाचित् कोई बुद्धिमान व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का निग्रह करके इस संन्यास को साध भी ले !!! तो आचार्यचरण **सुतरां कलिदोषाणां** इत्यादि शब्दों से यह कह रहे हैं कि, कलिकाल के दोष ही इतने प्रबल हैं कि, चाहे कोई कितना भी दृढ क्यों न हो, इन्द्रियों का निग्रह करना तो संभव नहीं है- यह परिस्थिति है ॥14-16$^{1}/_{2}$॥

भक्तिमार्गेपि तेषां बाधकर्तृत्वं सम्भवेदित्याशङ्क्य स्वयमेवोद्घाटयन्ति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ।।१७।।
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ।।१८।।
~~न हितरत्र भशब्देनो.त कैतु धांवा क्लेताऽ५१ ।~~
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ।।१९।।
ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ।।२०।।
तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ।।२१।।

भक्तिमार्गेपि चेत्त्यागिनः पूर्वोक्तदोषः प्रसज्येत तदा किं कार्यमिति प्रश्नः । तत्रोच्यते, ससाधनमित्यर्थः । तदेवाहुः अत्रारम्भे । भक्तिमार्गीयत्यागारम्भे । यद्यपि आरम्भपदेन विरहानुभवानन्तरं प्रचुरभावावस्थाभावसमयो ज्ञाप्यते, तथापि पुनर्नाशो न स्यात् । यतस्तस्य पूर्वमेव सकलेन्द्रियाणां भगवदधीनत्वात्, तत्रैव विनियोगकरणेन भगवत्स्वरूपैकनिष्ठविषयव्यसनवत्त्वमेव जातम् । न तु प्राकृतविषयग्रहणस्वभावोपि स्थितः, तत्तदभावे कुत तषद्दोषसङ्क्रमणावकाश इति भावः । एतेन तादृशभावस्यापि फलान्तःपातित्वमेव, न तु साधनत्वमिति ज्ञापितम् ।

अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण स्वयं ही यदि कलिकाल के दोष इतने ही प्रबल हैं, तब तो वे भक्तिमार्ग में भी अवश्य बाधक बनेंगे ही- इस प्रकार की शंका उठाकर फिर उसका निराकरण भी कर रहे हैं।

भक्तिमार्ग में भी यदि त्यागी के समक्ष पूर्वोक्त कलिकाल के दोष आ पड़ें, तब क्या करें- यह प्रश्न है। तो आपश्री साधनसहित भक्तिमार्ग की व्यवस्था बताते हुए इसका समाधान कह रहे हैं। समाधान आपश्री ने **अत्रारम्भे** इत्यादि शब्दों से बताया है, यानि भक्तिमार्गीयत्याग का आरंभ करने से लेकर ही जीव का कभी नाश नहीं होता- यह आपश्री कहना चाह रहे हैं। यहाँ 'आरम्भदशा' का अर्थ 'उच्चविप्रयोगभाव का आरम्भ हो चुका होने वाली अवस्था से है, भक्ति उत्पन्न होने की आरम्भदशा नहीं, इसलिए भ्रमित होकर इसे भक्ति की साधनावस्था नहीं समझनी चाहिए, यह ध्यान रखना चाहिए। । यद्यपि 'आरम्भ' पद से यह ज्ञात होता है कि, विरहानुभव कर लेने के पश्चात् उत्पन्न होने वाले प्रभु के प्रति प्रचुरभाव के उत्पन्न हो जाने की अवस्था अभी आयी नहीं है, तथापि आचार्यचरणों का कहना यह है कि ऐसी आरम्भदशा में भी जीव का नाश नहीं होता। चूँकि भक्तिमार्गीयत्यागी ने त्याग करने से पहले ही अपनी समस्त इन्द्रियाँ भगवान को समर्पित कर दी होतीं हैं, और वह उनका भगवान में ही विनियोग करता है अतः उसकी इन्द्रियों में केवल भगवत्स्वरूप में निष्ठ रहने वाला व्यसन ही उत्पन्न होता है; प्राकृतविषयों को ग्रहण करने का स्वभाव नहीं रहता। इसलिए यदि प्राकृतविषयों को उसने ग्रहण ही नहीं किया, तो फिर उनके दोषों से संक्रमित होने का अवकाश भी कहाँ रहा !! यह भाव है। इन विश्लेषणों से यह ज्ञात होता है कि, ऐसी आरम्भदशा की अवस्था वाला भाव भी फलप्राप्ति के अन्तर्गत ही आता है, तात्पर्य यह कि यद्यपि ये उच्चविप्रयोगभाव की अभी आरम्भदशा ही है तथापि इसे साधनावस्था नहीं समझना चाहिए- यह आचार्यचरण बताना चाह रहे हैं।

ननु तथापि विषयभोगपदार्थेषु दृष्टेषु यत्किञ्चित्स्वास्थ्यं भवेदपि दृष्टो योऽन्त नाशकः पदार्थः तस्याप्यभावान्न नाश इत्यर्थः । पदार्थे दृष्टे कदाचित्सम्भवेदपि, प्रकृते व्यसनानन्तरं गृहस्थितेर्बाधकत्वं मत्वैव तत्पदार्थानां त्यागः कृत इति दर्शनस्याप्यभावात् तथेति भावः । अत एव 'यदा स्याद् व्यसनं कृष्ण' इत्युक्त्वा 'तादृशस्यापि सतत'मित्यनेन तस्य त्याग उक्तः ।

किन्तु एक शंका तथापि यह है कि, विषयभोग सम्बन्धी पदार्थों की ओर दृष्टि जायेगी, तो विप्रयोगताप तो कुछ अंश में कम तो होगा ही एवं थोड़ी-बहुत स्वस्थता भी हो सकती है- तो आचार्यचरण **दृष्टान्तस्य अपि अभावात्** इत्यादि शब्दों से स्पष्टीकरण कर रहे हैं। श्रीगोपेशचरणों ने यहाँ 'दृष्टान्त' शब्द का सामान्य अर्थ न लेकर भिन्न प्रकार से अर्थ किया है। आपने इसको 'दृष्ट' और 'अन्त' यों दो प्रकार से पदच्छेद करके अर्थ किया है। 'दृष्ट' का अर्थ है- "देखा गया है"। 'अन्त' का अर्थ है- "अन्त या नाश"। अब इनके अनुसार दृष्टान्त' शब्द का अर्थ हुआ- जिस पदार्थ का अन्त या नाश होना देखा गया है, उसे 'दृष्टान्त' कहेंगे। आप कहते हैं कि, परित्याग कर देने के पश्चात् जब ऐसे नाशवान लौकिकपदार्थ ही त्यागी को दृष्टिगत नहीं होंगे, तो वह विचलित होगा ही कैसे !! तात्पर्य यह है कि, जेन पदार्थों का अन्त होना निश्चित है या जो नाशवान पदार्थ हैं, ऐसे दृष्टान्त लौकिकपदार्थ जब त्यागी के लिए उपलब्ध ही नहीं

होते, तो फिर उनसे भगवद्भाव शांत होने की बात ही कहाँ रही !! यह अर्थ है। यदि वे पदार्थ उसे दृष्टिगत होते रहते, तब तो उनसे भगवद्भाव शांत हो जाने की संभावना थी भी, परन्तु, भक्तिमार्गीयपरित्याग में तो वह भगवान के प्रति व्यसन सिद्ध होने के पश्चात् घर में रहना अपने भगवद्भाव में बाधक मानता है अतः उन सभी पदार्थों का त्याग कर देता है, इसलिए जब लौकिकपदार्थ उसे दिखाई ही नहीं पड़ेंगे, तो उनसे विचलित होने को अवकाश ही कहाँ रहा !! यह भाव है। इसी कारण आचार्यचरणों ने भक्तिवर्धिनी में *"जब कृष्ण में व्यसन हो जाता है, तभी जीव कृतार्थ बनता है(भक्ति-5)"* यह कहकर पश्चात् *"भगवदीय को भी सतत घर में रहना उसके भाव का विनाशक होता है(भक्ति-6)"* इस वाक्य द्वारा भक्त गृह का त्याग कर देता है, यह बताया है।

ननु तथापि वासना चेत्तिष्ठति, तदपि तथा भवेदिति, तदभावमाहुः स्वास्थ्यहेतोरिति । स्वास्थ्यहेतुपदार्थस्य परितस्त्यागाद्वासनासहितत्यागः परित्यागः, वासनया विषयग्रहणं भवति, तदभावाद्बाधः केन पदार्थेनास्य सम्भवेत् । अपि तु न केनापीति भावः । वासनासहितत्यागकथनेन दृष्टेपि तस्मिन् न तद्ग्रहणमिति सूचितम् । अनेन पदार्थास्तादृशस्य स्वास्थ्यहेतवोपि न भवन्ति, किन्तु भगवत्स्वरूपनिष्ठा एवेति ज्ञापितं भवति । एतदेवोक्तं निरोधवर्णने 'बाधशङ्कापि नास्त्यत्र तदध्यासेपि सिध्यती'ति ।

चलो ठीक है, उसने भले ही सबकुछ त्याग दिया हो, परन्तु यदि लौकिकपदार्थों में वासना फिर भी शेष रह गयी तब भी नाश तो होना ही है- यदि ऐसी शंका होती हो, तो आपश्री उस संभावना को भी नकारते हुए **स्वास्थ्यहेतोः परित्यागात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। 'स्वास्थ्यहेतुक' का अर्थ है- स्वस्थता दिलाने वाले पदार्थ; आपश्री आज्ञा करते हैं- जो पदार्थ भक्त के विप्रयोगताप को दूर करके उसका भाव शांत करने वाले होते हैं, उसने उन सभी का चहुँओर से परित्याग किया होता है, यानि उन पदार्थों में रही वासनासहित उनका त्याग किया होता है ; और वासना के कारण ही तो लौकिकविषय ग्रहण किए जाते हैं, जब वासना ही बाधित कर दी गयी, तब फिर कौन बचा जो उसके भाव को विचलित कर सकेगा, कोई भी नहीं- यह भाव है। आपश्री ने भक्तिमार्गीयत्यागी को वासनासहित त्याग करने वाला बताया है, जिसका अर्थ यह है कि, यदि लौकिकपदार्थों की ओर उसकी दृष्टि जाती भी है, तब भी वह उन्हें ग्रहण नहीं करता। इन सभी बातों से यह जानने को मिलता है कि, विप्रयोगताप का अनुभव करने वाले भक्तिमार्गीयत्यागी को ये लौकिकपदार्थ स्वस्थता नहीं दिला सकते, किन्तु भगवत्स्वरूप में निष्ठा बनाए रखनी ही स्वस्थता दिलाती है। यही बात निरोधलक्षणग्रन्थ में आचार्यचरणों ने *"जब भगवद्गुणगान में प्रवृत्ति हो जाती है, तब बाधा होने की शंका भी नहीं रहती(नि0ल-14)"* इस वाक्य द्वारा कही है।

ननु तर्हि अदृष्टादिना स कदाचित्सम्भवेत् तत्राहुः । यद्यपि हरिः कालकर्मादीनामपि सर्वेषां नियन्ता सर्वेश्वरः, तथापि तादृगवस्थानन्तरं स्वस्य रसात्मकत्वेनैव तादृशस्य विलम्बजनितबाधां कर्तुं न शक्नोति । तत्करणे न रसो न वा कीर्तिः, यतः स्वयं हरिः एतादृगवस्थाजनितदुःखं हन्तुमेव रसात्मकसाक्षात्फलरूपत्वेन प्रकटः । एतदेव 'पीताम्बरधरः स्रग्वी'त्येतस्य विवरणे विवृतमित्यत्रापि हरिपदेन स एव भाव उक्त इति ज्ञापितं भवति । एतेनेदानीं बाधाकरणे स्वस्य फलरूपं हरित्वं च गच्छतीत्यत्रापि हरिपदेन स एव भाव उक्तः । तद्भावोत्कर्षश्च निरूपितः । अत एव 'न पारयेह'मित्यादिवचनम् । एवं सति हरिरेव न शक्नोति तर्हि अपरे कालकर्माद्यदृष्टादयः कुतः शक्ता भवन्तीत्यर्थः ।

किन्तु यदि कोई अप्रत्याशित बाधा ही आ पड़े, तब क्या होगा ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण **हरिः** इत्यादि शब्दों से इसका निराकरण कर रहे हैं। इससे आपश्री को यह कहना है कि, ऐसा प्रचुरतापात्मक विप्रयोगभाव परिपक्व हो चुका हो, तब अन्यों की तो बात दूर रही परन्तु स्वयं हरि भी, जो कि काल-कर्म इत्यादि सभी का नियन्त्रण करने वाले सभी के ईश्वर हैं, तथापि जब भक्त ऐसी परिपक्व अवस्था में पहुँच जाता है, तब स्वयं हरि भी जो कि खुद भी रसात्मक हैं अतः रसात्मक होने के नाते हरि भी उसे फलदान में विलम्ब करवा कर बाधा नहीं पहुँचा सकते। क्योंकि यदि हरि ही ऐसा करें, तो न वे रसात्मक माने जायेंगे और न ही इससे उनकी कोई यशकीर्ति ही बढ़ने वाली है; क्योंकि हरि स्वयं ऐसी तापात्मक अवस्था से उत्पन्न हुए दुःख का हरण करने के लिये ही तो रसात्मकरूप से एवं साक्षात् फलरूप से प्रकट हुए हैं, वे क्यों उसे बाधा पहुँचाने लगे !! यही बात *"ठीक उसी समय पीताम्बर-श्रीकृष्ण उनके सामने प्रकट हो गए(श्री0भा-10/32/2)"* इस श्लोक के विवरण में आचार्यचरणों ने बतायी है और वहाँ भी 'हरि' पद के द्वारा आपश्री ने यही भाव कहा है। इस पूरे विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि, ऊपर कही फलदान के निकट आ पहुँची परिपक्व विप्रयोगावस्था का समय आने पर भी यदि भगवान बाधा उत्पन्न करें, तब तो भगवान की फलरूपता और दुःखहरण का स्वभाव ही खण्डित हो जाए, अतः यहाँ भी आपश्री ने 'हरि' पद के द्वारा यही भाव बताया है। और इस भाव की उत्कृष्टता भी कही है। इसी कारण भगवान के दुःखहरण स्वभाव को बताने वाले

भगवान ने गोपियों से कहा- यदि मैं अपने जीवन से अनन्तकाल तक भी तुम्हारे प्रेम, सेवा और त्याग का बदला चुकाना चाहूँ तो नही ुका सकता। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ(श्री0भा-10/32/22)" इत्यादि वचन भी प्राप्त होते हैं। इस पूरे विश्लेषण का तात्पर्य यह हुआ कि, जब वयं हरि ही ऐसे परित्यागी-विप्रयोगी के भाव में बाधा नहीं पहुँचा सकते, फिर काल-कर्म-अदृष्ट इत्यादि तो कहाँ समर्थ हो पायेंगे !!!

शक्तौ दृष्टान्तमाहुः अन्यथेति । यद्येतादृशस्यापि हरिर्बाधां करोति, तदा मातरोपि स्वबालान् स्तन्यैः पोषणं न कुर्युः । यथा तासां वबालबाधकरणमशक्यम्, किन्तु पोषणमेव कुर्वन्ति, तथा हरेरपीति भावः । एतेन हरिरपि तत्पोषणमेव करोतीत्यपि सूचितम् ।

ुसे भक्त के भाव में बाधा होनी असंभव बात है, इस बात का दृष्टान्त आपश्री **अन्यथा मातरो बालान्** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। ापश्री को इस दृष्टान्त से समझाना यह है कि, विप्रयोग की उच्च एवं परिपक्वदशा में फलदान के निकट आ पहुँचे ऐसे भक्त को भी यदि ुरि बाधा करने लगें, तब तो यही कहना पड़ेगा कि फिर माताएँ भी अपने बालकों को स्तनपान करा के उनका पोषण नहीं करतीं। जेस प्रकार माताओं का अपने बालकों का पोषण न करके उनके विकास में बाधा खड़ी करना असंभव बात है अपितु चाहे जैसी ारिस्थिति में भी वे उनका पोषण तो करती ही हैं; ठीक उसी प्रकार हरि भी अपने ऐसे भक्तों के लिए बाधा खड़ी करें, यह असंभव ात है और वे उनके भाव का पोषण करते ही हैं- यह आचार्यचरणों ने सूचित किया है।

अथवा हरेर्मातृदृष्टान्तकथनात् युक्तत्वानुपपत्तेः क्रियायाश्च विध्यर्थकस्यापेक्षितत्वात् पुपुषुरिति भूतार्थकतत्प्रयोगानुपपत्तेश्च ाश्चन गूढाभिसन्धिरस्तीति लक्ष्यत इति पक्षान्तरेण स एवोच्यते । तथाहि । हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधामित्यत्रासाधारणो ुतुः, यतो मातरः पुपुषुः इत्यन्वयसम्बन्धः । अयं भावः । पूर्वं श्रीमद्गोपिकानां गुरुत्वमत्र निरूपितमिति गुरुत्वात्ता एव ातृरूपा ज्ञेयाः । यथा गुरोर्वरदाने फलसिद्धिः, तथा तासां दान एव तावतैव सिद्धिः, नान्यथेति । तास्तादृशे अङ्गीकृते वभावपोषणं कृतवत्यः । अतस्तत्कृतौ प्रभोरपि शक्त्यभावो युक्ततमः, तद्भावाधीनत्वादिति भावः ।

थवा, इस दृष्टान्त को देने में एक और बात भी समझ में आती है। वह यह कि यहाँ "हरि अपने भक्तों को बाधा नहीं करते" इस ात को कहने के लिए आचार्यचरणों ने माता का दृष्टान्त दिया है, जो युक्त नहीं लगता। साथ ही साथ, 'पुपुषुः' इस क्रिया को ृष्टान्त के संग व्यवस्थितरूप बैठाने के लिए विध्यर्थक क्रिया देनी चाहिए थी, जबकि आपश्री ने भूतकाल की क्रिया का प्रयोग केया है; यानि श्रीगोपेशचरणों का कहना यह है कि, सबसे पहले तो हरि का स्वभाव बताने के लिए माता का दृष्टान्त देना कुछ वेचित्र सा लगता है। दूसरी बात यह कि आपश्री के दृष्टान्तानुसार अर्थ यों होना चाहिए कि- यदि भगवान अपने भक्तों को बाधा करते हों, तो यह कहना पड़ेगा कि फिर माताएँ भी अपने बालकों का पोषण **न करें**। जबकि 'पुपुषुः' इस भूतकाल की क्रिया देने े अर्थ यह होता है कि- यदि भगवान अपने भक्तों को बाधा करते हों, तो यह कहना पड़ेगा कि फिर माताओं ने भी अपने बालकों का पोषण **नहीं किया**। यानि श्रीगोपेशचरण कहते हैं कि, यहाँ विध्यर्थक क्रिया की आवश्यकता थी परन्तु आचार्यचरणों ने पुपुषुः(पोषण नहीं किया)यों भूतकालीन क्रिया का प्रयोग किया है। इन दोनों ही बातों के कारण श्रीगोपेशचरणों को लगता है कि, अवश्य आचार्यचरणों को इस दृष्टान्त द्वारा कुछ गूढ़भाव बताना अपेक्षित होगा। अतः ऐसा लक्षित होता है कि, अवश्य यहाँ आचार्यचरणों को इससे कोई गूढ़-अर्थ कहना होगा; इसलिए अब हम इस वाक्य की दूसरे प्रकार से व्याख्या करके इसका गूढ़-अर्थ

मातरा ंबता रह ह। वह गूढ़भैवि यह ह ोक, मूलश्लोक का अथ इस प्रकार करनी चाहिए क- **हारेरत्रि न शैक्नातं कतु बाधा, येता**
है कि, **पुपुषुः**, यानि भक्तिमार्ग में हरि जीव को बाधा खड़ी नहीं करते, क्योंकि माताओं ने भी पोषण किया है। इसमें भाव यह
के नाते वूँकि इसके पहले इस ग्रन्थ के आठवें श्लोक में आचार्यचरण गोपिकाओं को गुरु कह आए हैं अतः हमारी गुरु होने
अर्थ ले गोपिकाएँ ही यहाँ माता के दृष्टान्त में मातारूप समझनी चाहिएँ। यानि श्रीगोपेशचरण 'मातरः' शब्द से गोपिकाओं का
के भाव रहे हैं, यह समझना चाहिए। जिस प्रकार गुरु के द्वारा वरदान मिलने पर फलसिद्धि होती है; उसी प्रकार उन गोपिकाओं
प्रयोगी का दान मिलने से ही जीव को फलसिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। मार्ग का सिद्धान्त भी यही है कि, गोपिकाओं ने जिस वि
ार कर को अंगीकार/स्वीकार किया है, उनका उन्होंने पोषण ही किया है। अतः यदि गोपिकाओं ने जिस किसी भी जीव को स्वीक
है। लिया है, तो फिर प्रभु को भी उसे बाधा न कर पाना तो ठीक ही है, क्योंकि खुद प्रभु भी गोपिकाओं के अधीन हैं- यह भाव
षणं न नु ता एतावत्किमर्थं कुर्युरिति चेत्तत्राहुः । अन्यथेति । यद्येता एव स्वस्य गुरुत्वात्तस्मिन् पुत्रत्वेपि सिद्धे एव पो
न यदि कुर्युस्ततस्ताः अन्याः साधारण्यः सहजकठिनाः स्त्रियः । तास्तु मातरः स्वबालान् स्तन्यैर्न पोषयेयुरित्यर्थः । एते
देवोक्तं ता अप्येवं कुर्वन्ति पुत्ररूपे तस्मिन्, एतासां परमवात्सल्यस्वभावात् पोषणं युक्तमेवेति निरूपितम् । एत
दृष्टान्ते निरोधवर्णने 'पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः' । एवं सति पूर्वोक्तानुपपत्तिद्वयमपि निरस्तं भवतीति सर्वमनवद्यम् । अत्र

ार्ष्टान्तिके च मातर इत्यस्यावृत्तिः कर्तव्या ।

केन्तु प्रश्न यह है कि, गोपिकाओं ने जिस विप्रयोगी को अंगीकार कर लिया है, उसके लिए गोपिकाओं ने इतना सब क्यों किया ? तो आपश्री **अन्यथा** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। तात्पर्य यह कि, यदि वे गुरु होने के नाते जीव का, जो कि उनका पुत्र सिद्ध हो चुका है, उसका पोषण न किया होता, तो वे अन्य दूसरी स्त्रियों की भाँति साधारण सहजकठिन स्त्रियाँ कहलातीं और यह भी कहा जाता कि वे कठोर स्वभाव की माताओं ने अपने बालकों का स्तनपान करा के उनका पोषण नहीं करतीं। किन्तु चाहे कितने भी कठोर स्वभाव वाली माता क्यों न हो परन्तु अपने बालकों का पोषण तो करतीं ही हैं; फिर गोपिकाएँ तो परमवात्सल्यमयी हैं अतः परमवात्सल्यस्वभाव के कारण वे अपने पुत्ररूप जीव का पोषण करें, यह बात तो युक्त ही है। यही बात आचार्यचरणों ने निरोधलक्षणग्रन्थ में *"कृष्ण को प्रिय लगने वाले पुत्र से प्रेम करना चाहिए(नि0ल-18)"* इस श्लोक द्वारा कही है। इस विश्लेषण के अनुसार पूर्व में कही अप्रामाणिकता की दोनों शंकाएँ(माता का दृष्टान्त देने वाली एवं भूतकाल की क्रिया देने वाली दोनों शंकाएँ)निरस्त हो गयी जान लेनी चाहिए अतः हमने जो कहा वह ठीक ही है। 'मातर' शब्द से गोपिकाओं का अर्थ लेने पर मूलश्लोक में दार्ष्टान्त(मातृरूपा गोपिकाएँ)और दृष्टान्त(सामान्य माताएँ)दोनों स्थानों पर 'मातर' शब्द की आवृत्ति करनी चाहिए, तब अर्थ सुस्पष्ट होगा।

ननु यथा ज्ञाने स्वस्मिन् ब्रह्मभावस्फूर्त्या सर्वत्र ब्रह्मात्मकत्वभानादैक्यमेव भासते, नतु द्वितीयपदार्थभानम्, तेन च तेषां सर्वदा स्वास्थ्यं तिष्ठति, तथा प्रकृतेपि स्वस्मिन् भगवदावेशेनासावहमित्यादिरूपज्ञाने केवलं तदैक्यभानमेव, न द्वितीयपदार्थस्येति ज्ञानमार्गीयैक्यप्रतिपादकवाक्येन ऐक्यसाम्येन कदाचिदैक्यभावजनितमोहेन स्वास्थ्यं सम्भवेदित्याशंक्य तदभावमाहुः । पूर्वोक्तैतावत्प्रत्येकप्रत्यूहेषु सत्स्वपि यदि तन्निवारणेनैतावत्पर्यन्तं तद्रक्षामेव कृतवान् प्रभुः, तदा ज्ञानिनामपि वाक्येनैक्यप्रतिरूपेण भक्तं तादृशं न मोहयिष्यति । तथा चोक्तं भ्रमरगीते श्रीमदुद्धवोक्तैः 'श्रूयतां प्रियसन्देशः', 'भवतीनां वियोगः' इत्याद्यैक्यप्रतिपादकज्ञानिवाक्यैस्तासां मोहो न जातः, किन्तु तच्छ्रवणेन प्रत्युतातितप्ततैलपतिततजलबिन्दुवत् प्रचुरतीव्रविरहाग्निज्वालजालज्वलितास्ता अभवन्निति । प्रकृतेपि तादृशावस्थायां तथा न करिष्यति, प्रत्युत तद्रीतिमेव करिष्यतीति भावः ।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, जिस प्रकार ज्ञानमार्ग में ज्ञानप्राप्त हो जाने के पश्चात् स्वयं में ब्रह्मभाव की स्फूर्ति होती है और जिसके द्वारा सर्वत्र सभी कुछ ब्रह्मात्मक लगने लगता है और ब्रह्म के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ का भान नहीं रहता, और इससे उनका स्वास्थ्य सदा बना रहता है ; ठीक इसी प्रकार यहाँ भक्तिमार्ग में भी *"गोपियाँ अपने आप को सर्वथा भूल कर श्रीकृष्णस्वरूपा हो गयीं और उनकी लीलाओं का अनुकरण करते-करते 'मैं कृष्ण ही हूँ' यों कहने लगीं(श्री0भा-10/30/3)"* इस वाक्यानुसार जब भीतर भगवान का आवेश होता है, तो केवल भगवान से ही ऐक्य का भान रहता है, उसके अतिरिक्त अन्य किसी दूसरे पदार्थ का भान नहीं रहता- ऐसा सोचकर कदाचित् ब्रह्म और जीव में ऐक्य प्रतिपादित करने वाले ज्ञानमार्गीयवाक्यों द्वारा, अथवा ज्ञानमार्गीय एवं भक्तिमार्गीय दोनों मार्गों में चूँकि भक्त-भगवान में ऐक्य बताया गया है ऐसा सोचकर कदाचित् ऐक्यभाव से उत्पन्न हुए मोह/भ्रम के कारण वह मोहित/भ्रमित हो सकता है और उसका विप्रयोगभाव शांत हो जायेग और उसे कुछ स्वस्थता मिल सकती है- यदि ऐसी आशंका होती हो, तो आचार्यचरण आगे यह बता रहे हैं कि, विप्रयोगीजीव ज्ञानियों की बातें सुनकर भी मोहित नहीं होता। इससे आपश्री के कहने का आशय यह है कि, जब पूर्व में कहे इतने सारे प्रत्येक विघ्नों के होते हुए भी यदि उन सभी का निवारण करके अभी तक प्रभु ने उसकी रक्षा ही की है, तो ज्ञानियों द्वारा ऐक्य प्रतिपादित करने वाले वाक्यों से भी भगवान अपने ऐसे भक्त को मोहित/भ्रमित नहीं होने देंगे। यही बात भ्रमरगीत में भी बतायी गयी है कि, श्रीमद्दुद्धवजी ने जब गोपिकाओं का विप्रयोगदुःख दूर करने के हेतु से *"हे गोपियों! अपने प्रियतम भगवान का सन्देश लाया हूँ, सुनो(श्री0भा-10/47/28)"*, *"श्रीकृष्ण ने गोपियों से कहलवाया- मैं सबका उपादान कारण होने के कारण सबकी आत्मा हूँ, सबमें अनुगत हूँ, इसलिए मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता(श्री0भा-10/47/29)"* इत्यादि ऐक्य का प्रतिपादन करने वाले ज्ञानप्रद वाक्य केह तब भेा गेपिकाएँ उनेस मेाहित नहेीं हुई थेां, किन्तु उनको सुनकर वे उल्टे अत्यधिक उबलेत हुए तेल में पेड़ जलबिन्दु की भाँति प्रचुरतीव्र विरहाग्नि की ज्वाला के जाल में जलने लगीं थीं। आचार्यचरणों का कथन यह कि, ठीक इसी प्रकार यहाँ भी भक्त की ऐसी उत्कट विरहावस्था होने पर भगवान उसे मोहित/भ्रमित नहीं करेंगे, अपितु विरहावस्था के प्रचुरताप उत्पन्न होने से लेकर प्रभुप्राकट्य होने तक की जो रीति है, उस रीति के अनुसार ही करेंगे- यह भाव है।

नन्वेवं सर्वथाऽस्वास्थ्यकारकं तापमेव कथं स्थापयति, तत्र हेतुमाहुः आत्मप्रदः प्रियश्च, अतः किमर्थं मोहयिष्यति । अयं

न भवति, किन्तु च्युत एव तिष्ठति, तत्पुष्टत्वाभावे तद्दानमपि न सिध्यति, रसात्मकत्वादेव साम्ये सर्वदा स्थापयति । एवं सति यत्र भगवतः स्वरूपानन्ददानेच्छा प्रियत्वं च, तत्र तद्वाक्यजनितमोहो न भवति । यत्र नैतदुभयम् तत्र मोहो भवतीति सूच्यते । तथा चोक्तं दशमस्कन्धे 'द्विजपत्नीषु तदानन्ददानेच्छाभावात् पुष्टिमार्गीयप्रियत्वाभावाच्च न प्रीतये अनुरागाये'त्यादिज्ञानिवाक्यजनितमोहो जातः । यतः ताः परावृत्य स्वगृहानगमन् । फलप्रकरणे तु श्रीस्वामिनीनां सर्वत्यागेनागमनपूर्वकमनन्तरमेव पूर्ववदेव 'श्रवणाद् दर्शना'दित्यादिवाक्यैः स्वात्मदानेच्छासद्भावात् पुष्टिमार्गीयप्रियत्वस्यापि विद्यमानत्वान्मोहो न जातः, प्रत्युतेश्वरवाक्यानां सर्वाधिकबलत्वेपि तन्निराकरणं चक्रुरिति सुष्ठूक्तं किमर्थं मोहयिष्यतीति ।

किन्तु किसी को प्रश्न यह होता है कि, भगवान जीव में सर्वथा अस्वस्थ बना देने वाले ताप को क्यों बनाए रखते हैं, उसे दूर क्यों नहीं करते ? तो आपश्री इसका हेतु **आत्मप्रदः प्रियश्च अतः किमर्थं मोहयिष्यति** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं, यानि भगवान आत्मप्रद हैं और अपने भक्तों से प्रेम करने वाले हैं। भगवान को आत्मप्रद कहने का भाव यह है कि, इस भक्तिमार्ग में भगवान रसात्मक और अपने साक्षात् स्वरूप का आनन्द देने के लिए अवतरित हुए हैं, और अपने साक्षात् स्वरूपानन्द का दान करने में मुख्यहेतु उनका अपने भक्तों से प्रीति करनेरूप गुण ही है। और यह बात तो निश्चित है कि, जब तक वे जीव में उपरोक्त प्रकारक प्रचुरताप नहीं देख लेते, तब तक पुष्ट नहीं होते, यानि उसके हृदय में विराजते भी नहीं किन्तु उससे अलग ही रहते हैं। और जब तक भगवान पूर्णरूप से उसके अन्तःकरण में नहीं बिराज जाते, तब तक स्वरूपानन्द का दान भी सिद्ध नहीं होता ! अब चूँकि भगवान आत्मप्रद हैं यानि भक्तों को अपने आप को ही दे देने वाले हैं, इसलिए स्वयं रसात्मक होने के कारण वे अपने भक्त को भी अपने जैसा रसात्मक बनाना चाहते हैं। भगवान रसरूप हैं और रस संयोग-विप्रयोग दोनों दलों के पूर्ण होने पर ही सिद्ध होता है अतः यदि एक दल भी अपूर्ण रह जाय, तो रस पूर्णतः सिद्ध नहीं होगा, भक्त भगवान के जैसा नहीं बन पायेगा इसलिए संयोग के साथ-साथ विप्रयोग को भी पूर्ण परिपक्व बनाने के लिए भगवान भक्त के ताप को उचित अवधि तक बनाए रखते हैं-यह अर्थ है; इस परिस्थिति में यह समझना चाहिए कि, जिस भक्त के लिए भगवान को अपने स्वरूपानन्द का दान करने की इच्छा होती है एवं उसके प्रति प्रियता होती है, वही भक्त ज्ञानियों के वाक्यों से मोहित/भ्रमित नहीं होता और उसका प्रचुरताप बना रहता है, शांत नही होता और अंत में जाकर उसे स्वरूपानन्द का दान प्राप्त होता है। किन्तु जिस भक्त के लिए प्रभु को न अपना स्वरूपानन्द देने की इच्छा है और न ही उससे कोई प्रेम है, वही भक्त ज्ञानियों के वाक्यों से मोहित/भ्रमित हो जाता है एवं उसका विप्रयोग कुछ समय रह कर पश्चात् शांत हो जाता है, वह स्वस्थता अनुभव करने लग जाता है और जिससे उसे स्वरूपानन्द का दान भी प्राप्त नहीं होता। यही बात दशमस्कन्ध में *"देवियों! अब तुम मुझसे जुड़ गयी हो और अब सारा संसार तुम्हारा सम्मान करेगा, इसलिए अब तुम वापस घर लौट जाओ(श्री0भा-10/23/32)"* इस श्लोक द्वारा बतायी गयी है, जहाँ द्विजपत्नियों को ज्ञानप्रद वाक्यों से मोह/भ्रम उत्पन्न हुआ और वे प्रभु-आज्ञा मानकर वापस अपने घर लौट गयीं और स्वरूपानन्द के दान से वंचित रह गयीं। किन्तु फलप्रकरण में जब व्रजस्वामिनियाँ सभी कुछ त्याग कर प्रभु के पास आयीं थीं, तब भगवान ने पहले की ही भाँति उन्हें भी वापस घर लौट जाने को कहा, परन्तु, वास्तविकता तो यह थी कि, *"भगवान ने गोपियों से कहा- मेरी लीला और गुणों के श्रवण से और रूप के दर्शन से जिस प्रकार के अनन्यप्रेम की प्राप्ति होती है, वैसे प्रेम की प्राप्ति मेरे पास रहने से नहीं होती, इसलिए तुम सभी वापस लौट जाओ(श्री0भा-10/29/27)"* इत्यादि वाक्यों के प्रसंग में बताया गया है कि प्रभु को उन गोपिकाओं को अपने स्वरूप का दान करने की वास्तव में तो इच्छा थी और उनके प्रति पुष्टिमार्गीय पद्धति वाली प्रियता भी थी अतः प्रभु के घर लौट जाने वाले वाक्यों को सुनकर भी उन्हें मोह/भ्रम नहीं हुआ, उल्टे ईश्वरवाक्य तो भले ही सर्वाधिक बलशाली होते हैं, तथापि उन्होंने ईश्वरवाक्यों को भी अस्वीकार कर दिया था, इसलिए आचार्यचरणों ने ठीक ही कहा है कि, भगवान ऐसे प्रचुरताप और फलदशा के निकट आ पहुँचे भक्त को क्यों मोहित करेंगे !

अतः परमेतावदुक्तस्य निर्गलितार्थमाहुः । यस्मात्साधनार्थपरित्यागो विधीयतां क्रियतामित्यर्थः ? । अन्यथा पुष्टिमार्गीयभावाभावे तस्मिन् कृते स्वार्थात् पुष्टिमार्गीयपुरुषार्थाद् भ्रश्यते च्युतो भवतीत्यर्थः । अत्र प्रमाणमाहुः इति मे निश्चिता मतिः । इति यस्य धर्मस्य यथा स्वरूपं तत्स्वरूपज्ञानादेव तस्मिन्निश्चयः । स्वमतेरेवेति स्वस्यैव मतिः प्रमाणत्वेनोक्ता ।।१७-२१।।

इसके पश्चात् आपश्री **तस्मात्** इत्यादि शब्दों द्वारा अब तक आपश्री ने जो कहा, उसका सार कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- ..... इसके आगे की पंक्ति व्यवस्थित नहीं लगती, सिद्धान्त के विपरीत जाती है अतः लगता है कि मूल पाण्डुलिपि से कुछ पंक्तियाँ छूट गयी होंगी। इसलिए अनुवाद नहीं किया है- अनुवादक। **अन्यथा** तो पुष्टिमार्गीयभाव उत्पन्न नहीं हुआ और परित्याग करेंगे, तो **स्वार्थात्** यानि पुष्टिमार्गीयपुरुषार्थ प्राप्त करने से वंचित रह जायेंगे- यह अर्थ है। इस बात का प्रमाण आपश्री ने **इति में निश्चिता मतिः** इत्यादि शब्दों से

पुष्टिमार्गीयपुरुषार्थ प्राप्त करने से वंचित रह जायेंगे- यह अर्थ है। इस बात का प्रमाण आपश्री ने **इति में निश्चिता मतिः** इत्यादि शब्दों से कहा है। **इति** का अर्थ है- जिस धर्म का जैसा स्वरूप है, उसे उसी वास्तविक स्वरूप से जान लेने पर ही उसमें निश्चयात्मकता उत्पन्न होती है, अतः आपश्री ने चूँकि इस सिद्धान्त को भलीभाँति समझा हुआ है इसलिए इस ग्रन्थ में कहे सिद्धान्त को कहने में आपश्री ने अपनी मति ही प्रमाण के तौर पर कही है। 17-21॥

एवं संन्यासनिर्णयं कृत्वोपसंहरन्ति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ।।२२।।

इत्येवं प्रकारेण भक्तौ सत्यां एव संन्यासवरणं कर्तव्यत्वेन निश्चितम् । तत्र हेतुभूतं साधनद्वयमाहुः कृष्णप्रसादेन वल्लभेन चेति । कृष्णपदेन रसानन्दात्मक गूढभावात्मत्वं सूचितम् । तादृशस्य प्रसादेन, प्रसादस्यापि नैकविधत्वं सम्भवतीत्युक्तं वल्लभेनेति, अतिप्रियेणेत्यर्थः । एवं एतेन भावात्मकप्रीतिगुणविशिष्टत्वं प्रसादस्य ज्ञापितम् । तादृशत्वाभावे परित्यागस्वरूपज्ञानमेव न भवेत्, निश्चयः कथं कर्तुं शक्यः । तत्रापि विशेषेणेदमित्थतयेति मदुक्तस्य सन्देहो न कार्य इति निरूपितम् ।

इस प्रकार से यहाँ तक संन्यास का निर्णय कहकर अब अग्रिमश्लोक में आपश्री इस ग्रन्थ का उपसंहार कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- इस ग्रन्थ में बताए गए प्रकारानुसार भक्ति उत्पन्न होने के पश्चात् ही संन्यास लेना चाहिए, यह निश्चित होता है। आपश्री इस बात को निश्चितरूप से क्यों कह रहे हैं, इसके हेतुभूत दो साधन **कृष्णप्रसादेन** एवं **वल्लभेन** इन दो शब्दों द्वारा कह रहे हैं। 'कृष्ण' पद के द्वारा आचार्यचरणों ने रसात्मक, गूढभावात्मक यानि शुद्धपुष्टिमार्गीयप्रभु के स्वरूप का सूचन किया है, यानि आपश्री आज्ञा करते हैं- ऐसे कृष्ण की प्रसाद/प्रसन्नता प्राप्त होने के कारण मुझसे भक्तिमार्गीयसंन्यास/परित्याग के विषय में निश्चय करना संभव बन पाया है। कृष्ण की प्रसाद/प्रसन्नता भी अनेक प्रकार की होती है अतः आपश्री **कृष्णप्रसादेन वल्लभेन** शब्द से यह कह रहे हैं कि, कृष्ण की अतिप्रियप्रसन्नता प्राप्त होने के कारण मुझ **वल्लभ** द्वारा भक्तिमार्गीयसंन्यास/परित्याग के विषय में निश्चयपूर्वक कहना संभव बन पाया- यह अर्थ है। इसके द्वारा आचार्यचरणों ने स्वयं पर कृष्ण की भावात्मकप्रीतिगुणविशिष्ट प्रसन्नता होनी बतायी है। भगवान भावस्वरूप कहे जाते हैं यानि जीव जैसी भावना करे वे वैसा ही स्वरूप धारण कर लेते हैं। तात्पर्य यह कि भगवान की प्रसन्नता भी ऐसे भावात्मकभगवान में रहे हुए प्रीति के गुण से युक्त है। आपश्री का अभिप्राय यह कि- जब तक मुझे कृष्ण की ऐसी प्रसन्नता प्राप्त न होती, तब तक मुझे एतन्मार्गीय परित्यागस्वरूप का ज्ञान ही न होता, तो फिर मैं इसे निश्चयपूर्वक भी कैसे कह पाता- यह अर्थ है। चूँकि आपश्री ने इस ग्रन्थ में बताए सिद्धान्त को विशेषरूप से निश्चयपूर्वक कहा है अतः आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि- मेरे कहे में सन्देह नहीं करना चाहिए।

निश्चयकरणप्रयोजनमाहुः अन्यथेति । एतत्करणाभावे परित्यागस्वरूपाज्ञानात् अधिकाराभावे कृते त्यागे स्वाङ्गीकृतोपि पतितो भवेत्, पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तिमार्गाद् भ्रष्टो भवेदित्यर्थः । एवं सति परमकारुणिकस्वभावात् स्वकीयानां रक्षैव कृतेति भावः ।।२२।।

आपश्री के कहे को निश्चयपूर्वक समझ लेने का प्रयोजन आपश्री **अन्यथा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- यदि मेरे कहे को निश्चयपूर्वक नहीं समझेंगे, तो भक्तिमार्गीयपरित्याग के स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा और ज्ञान न होने के कारण उसका अधिकार भी उत्पन्न नहीं होगा, इसलिए बिना अधिकार प्राप्त किए जब परित्याग करेंगे, तो भले ही इस मार्ग में अंगीकृत भी क्यों न हुए हों, तथापि पतित होंगे यानि जैसा कि ऊपर के श्लोक में बताया, वैसे प्रकार से इस मार्ग से भ्रष्ट हो जायेंगे- यह अर्थ है। इस प्रकार से आचार्यचरणों का स्वभाव तो परमकरुणामय है अतः उन्होंने इस ग्रन्थ में भक्तिमार्गीयपरित्याग का स्वरूप समझा कर स्वकीयों की रक्षा ही की है- यह भाव है ॥22॥

श्रीमदाचार्यकरुणां वर्णयामि कथं यतः ।
यतः स्वतस्त्यागभावप्रकाशं मादृशेऽकरोत् ।।१।।
यथेमे ज्ञापिता भावाः स्थापयतु स एव तान् ।
यादृशस्तादृशः स्वीयस्त्वदेकशरणं विभो ।।२।।
यदत्र मन्मतेर्दोषाद्विरुद्धं प्रभवः स्वतः ।
क्षमन्तां तत्र च तवाश्रयणं शरणं मम ।।३।।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवरणसमेतः

इति श्रीघनश्यामात्मजश्रीगोपेशविरचितं संन्यासनिर्णयविवरणं समाप्तम् ।।

श्रीमदाचार्यचरणों की कृपा का क्या वर्णन करूँ,
जिन्होंने स्वयं ही त्याग के भाव को मुझ जैसे के लिए प्रकाशित किया ॥1॥
जिस ढंग से प्रभु ने ये सारे भाव मुझे जताए हैं, वही प्रभु उन भावों को मुझमें स्थापित भी करें,
क्योंकि हे विभु ! मैं जैसा हूँ, वैसा आपका स्वीय हूँ अतः केवल आपकी ही शरण में हूँ ॥2॥
इस विवरण को लिखने में मेरे मतिदोष के कारण कुछ विरुद्ध लिख दिया हो
तो स्वयं प्रभु मुझे क्षमा करें और उनका आश्रय ही मेरी शरण है ॥3॥
यह श्रीघनश्यामात्मज श्रीगोपेशविरचित संन्यासनिर्णयग्रन्थ का विवरण समाप्त हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीगोपेश्वरविरचितविवृतिसमेतः ।

विविधविरहभावावेशजक्लेशभाजामनुभवविषयः सन् गोपिकानां कृपाब्धिः ।
कलयति निजरूपानन्दपीयूषपानं सकृदपि स कृतार्थं मां प्रसन्नः करोतु ।।१।।
श्रीगोपिकाधीशपथानुगानां सेवाकथासक्तिसमर्थनाय ।
य एक एवास्ति विभुस्तमेव श्रीवल्लभाख्यं मुहुराश्रयेहम् ।।२।।
श्रीमद्वल्लभसूनोः श्रीविट्ठलनामधेयस्य ।
पदकमलद्वयममलं मनसि मदीये समुल्लसतु ।।३।।
स्वाचार्यचरणपङ्कजपरागपुरुरागपरभागान् ।
अभिवन्दे पितृचरणानहमतिभक्त्या तदाप्तमतिः ।।४।।

श्रीगोपेश्वरविरचित विवृति

विविध प्रकार के भगवद्विरहभावावेश के कारण उत्पन्न हुए क्लेश का अनुभव करने वाली गोपिकाओं के अनुभव का विषय बनने वाले,
और उन गोपिकाओं को अपने स्वरूपानन्द के अमृत का पान कराने वाले कृपासागर-भगवान प्रसन्न होकर कभी एक बार तो मुझे कृतार्थ करें ॥1॥

श्रीगोपिकाधीश के मार्गानुगामियों के लिए उनकी सेवा-कथा-आसक्ति को बढ़ाने में,
जो केवल वही समर्थ हैं, उन्हीं 'श्रीवल्लभ' का मैं वारंवार आश्रय लेता हूँ ॥2॥

श्रीमद्वल्लभ के सुपुत्र श्रीविट्ठल के,
निर्मल चरणकमलद्वय मेरे मन में शोभित हों ॥3॥

अपने आचार्यचरणकमल के पराग के पुरुराग(लालिमा) को श्रेष्ठ मानने वाले मेरे,
पितृचरणकमलों को उनके द्वारा प्राप्त की गयी मति वाला मैं अतिभक्तिपूर्वक नमन करता हूँ ॥4॥

अथाम्नायाद्यखिलप्रमाणप्रतिपन्नरसात्मकश्रीपुरुषोत्तमविरहानन्दविविधभाववृन्दानुभवस्य सर्वात्मभावप्रपत्तिमात्रप्राप्यत्वात् सर्वपरित्यागमन्तरेण तदसम्भवादावश्यको भक्तिमार्गे परित्यागः, स च कर्मज्ञानभक्त्यादिमार्गभेदाद्विभिन्नरूप इति स्वमार्गीयपरित्यागमतिविलक्षणमनाकलयतां तत्तत्संशयवशंवदानां निजमार्गाङ्गीकृतजीवानामविचारितः परित्यागः पश्चात्तापायैव भवितेति सकलसंशयापनुत्तिपुरःसरं तदपगमाय स्वभक्तेषु परमानुपमकृपाकिर्मीरितमूर्तयः श्रीमदस्मदाचार्यचरणाः किञ्चित्प्रयोजनं प्रकटमुदीरयन्तस्तद्विचारप्रतिज्ञामाचरन्ति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थमिति ।

वेदादि समस्त प्रमाणों से प्रतिपादित रसात्मक श्रीपुरुषोत्तम के विरहानन्द के विविधभावों के वृन्द का अनुभव भगवान में सर्वात्मभावपूर्वक शरणागति लेने से ही प्राप्त होता है और सर्वपरित्याग करे बिना भगवान की शरणागति लेनी असंभव है अतः भक्तिमार्ग में परित्याग करना आवश्यक होता है। और, परित्याग कर्म-ज्ञान-भक्ति इत्यादि मार्गों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है अतः स्वमार्गीयपरित्याग की अतिविलक्षणता को न जान पाने वाले एवं उन-उन मार्गों के संशयों में फँसे रहने वाले निजमार्ग में अंगीकृतजीव जब बिना विचार किए परित्याग करते हैं, तो ऐसा परित्याग कालान्तर में उनके लिए पश्चात्ताप का ही हेतु बनता है, अतः स्वमार्गीय एवं अन्य मार्गों के प्रति रहे हुए समस्त संशयों को मिटाते हुए पश्चात्ताप को दूर करने के हेतु से अपने भक्तों पर परम-अनुपम कृपा से सजे हुए मूर्तिरूप हमारे श्रीमदाचार्यचरण परित्याग करने का कुछ प्रयोजन प्रकट करते हुए उस पर विचार करना **पश्चात्तापनिवृत्यर्थम्** इत्यादि शब्दों से आरम्भ कर रहे हैं।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ।।१।।

भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमस्वरूपमेव फलमितरत्तत्सम्बन्धित्वेनैव तथात्वेनोच्यत इति राद्धान्तात् तस्य च 'रसो वै स' इत्यादिश्रुतिभ्यो रसत्वेन सिद्धत्वादुभयविधमुख्यरसात्मनः स्वमार्गपतेः स्वरूपानन्दं श्रीमदाचार्यवर्यवरणवशात्प्रभुसेवादिपरतया सुखं गृहादिषु सतां संयोगप्रकारेण यथाधिकारमनुभवतामपि विप्रयोगप्रकारेण तदनुभवाभावादन्तरेवोन्मिषद्भिरनन्तविधैरभिलाषैः सन्ततं दन्तुरितस्वान्तानामस्माकं शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यसम्बन्धिनामपि स्वमार्गमुख्यफलविप्रयोगभावानुभवो न भविष्यति । तस्य सर्वात्मभावान्तर्गतसर्वत्यागसाध्यत्वादस्मासु तज्ज्ञानस्याप्यभावेन क्व तदाचरणतत्फलादिसम्भावनापीत्येवंरूपो य उत्कटस्तापः स पश्चात्तापपदेनात्रोच्यते । यतोयमुररीकृतमुररिपुमार्गनिपुणतराणामाचार्यवर्यपदपद्मप्रसादजुषामेवाधिहृदयमुदयमासादयति, न पुनः साधारणानाम्, तन्निवृत्तिश्च भक्तिमार्गप्रवर्तकश्रीमदाचार्यचरणैकसाध्येति । तदर्थं परित्यागः संन्यासः स्वमार्गीयः श्रीमदाचार्यचरणैर्विचार्यते ।

भक्तिमार्ग में पुरुषोत्तमस्वरूप ही फल हैं और इतर सभी कुछ पुरुषोत्तम से सम्बन्धित होने के कारण
जाता है- यह सिद्धान्त है, और पुरुषोत्तम *"निश्चितरूप से ब्रह्म ही रस है(तैत्ति0उप-2/7/1)"* इत्यादि
रसरूपतया सिद्ध हैं। अतः संयोगविप्रयोग यों दोनों प्रकार के मुख्यरसात्मक स्वमार्ग के स्वामी प्रभु का स
श्रीमदाचार्यवर्य द्वारा वरण किए जाने के कारण प्रभुसेवा में तत्पर रह कर गृह-आदि में सुखपूर्वक रहते
संयोगरस का तो यथाधिकार अनुभव हो जाता है परन्तु विप्रयोग के प्रकार से प्रभु के स्वरूपानन्द का अनु
ाता, अतः जिन जीवों के अन्तःकरण में अनेक प्रकार की भगवत्सम्बन्धी अनन्त अभिलाषाएँ उमड़ रही है
कारण जिनका अन्तःकरण विविधभावयुक्त हो रहा है, ऐसे हमारे शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यवर्य से सम्बन्धित
स्वमार्ग का मुख्यफल विप्रयोगभाव का अनुभव नहीं हो पायेगा, जब तक कि वे परित्याग नहीं करते। और
ो सर्वात्मभावान्तर्गत सर्वत्याग करने से सिद्ध होता है(प्रभु के प्रति सर्वात्मभाव सिद्ध होने की प्रक्रिया में स
भी बताया गया है), जबकि हमें तो इस सिद्धान्त का ज्ञान तक नहीं है, तो फिर कहाँ आचरण और कहाँ
की संभावना भी हो सकेगी- इस प्रकार का जो उत्कट ताप जीवों को होता है, उसे आपश्री ने **पश्चात्ताप**
यहाँ कहा है। अब चूँकि इस प्रकार का पश्चात्ताप तो इस मुररिपु-भगवान के मार्ग में जीव का अंगी
नेपुणतर आचार्यवर्य के चरणकमलों की कृपा का अनुभव करने वाले जीवों के हृदय में ही पनप सकता है,
क हृदय में नहीं, और उस पश्चात्ताप की निवृत्ति भी भक्तिमार्ग के प्रवर्तक श्रीमदाचार्यचरणों द्वारा ही सा
श्रीमदाचार्यचरण **परित्यागः** यानि स्वमार्गीयसंन्यास के विषय में यहाँ विचार करना आरम्भ कर रहे हैं
**स्वरूपतः फलतः सम्यक्तया मार्गान्तरीयतदसङ्कीर्णत्वेन निरूप्यत इत्यर्थः । तथा च वक्ष्यमाणविध
स्वमार्गीयसंन्यासस्वरूपादिकं सम्यगवगम्य भगवदङ्गीकाराधिकारतारतम्यभाजस्तत्र प्रवर्तमाना विगलितपश्च
फलमनुभविष्यन्तीति भावः ।**

वेचार करने का तात्पर्य यह है कि, अपने मार्ग के परित्याग को स्वरूप की दृष्टि से, उससे प्राप्त होने फ
व्यवस्थितरूप से विचार कर रहे हैं यानि अन्यमार्गों के परित्याग से अलग हट के इसका निरूपण कर र
है। इसका तात्पर्य यह कि, जब इस ग्रन्थ में बतायी परित्याग की विधि के द्वारा स्वमार्गीयसंन्यास के स्वरू
वेचार करके उसे व्यवस्थित समझ जायेंगे और अपने अपने अधिकारानुसार भगवान द्वारा अंगीकृत हुए
रित्याग करेंगे, तब उनका पश्चात्ताप दूर होगा और अपने अपने अधिकार के अनुरूप फल प्राप्त करेंगे- य
**द्वा । भक्तिज्ञानयोः सिद्धदशायामेव संन्यासः साधीयान्, न साधनदशायां, तदा तादृशवैराग्यविरहे
स्यानिर्वाहात् पश्चात्ताप एव पर्यवसित इत्येतत्तारतम्यानवगमे त्यक्ताखिलानामपि भक्तानां पश्चात्तापः, तद्दर्शने
यादिति तदनुत्पत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः ।**

अथवा, तो 'पश्चात्ताप' का अर्थ दूसरे प्रकार से भी हो सकता है, यानि पश्चात्ताप जीवों को एवं श्रीमदाचार्यचरण
हा है, यों अर्थ भी किया जा सकता है। वह इस प्रकार कि, भक्तिमार्ग एवं ज्ञानमार्ग दोनों की सिद्धदशा में
संन्यास लेना चाहिए, साधनदशा में नहीं। साधनदशा में ही संन्यास ले लेंगे तो, जिस प्रकार के परिपक्व वैराग्य

है, वैसा वैराग्य सिद्ध हुए बिना यदि परित्याग कर बैठेंगे, तब भी उसका निर्वाह न हो सकेगा और उन्हें पश्चात्ताप ही होगा, अतः भक्तिमार्गीय एवं ज्ञानमार्गीय परित्याग के अंतर को समझे बिना यदि वे संपूर्णतया परित्याग कर भी देंगे, तब भी उन्हें कालान्तर में पश्चात्ताप ही होगा; अपने भक्तों को ऐसी परिस्थिति में देखकर स्वयं आचार्यचरणों को भी पश्चात्ताप होगा, अतः दोनों को पश्चात्ताप न हो, तदर्थ आपश्री यहाँ परित्याग का व्यवस्थित स्वरूप समझाने के लिए इस पर विचार कर रहे हैं।

अथवा, जीवानां प्रभुप्राप्त्यर्थं भक्तिमार्गमाविष्कृतवद्भिः श्रीमदाचार्यचरणैरवश्यं स्वमार्गीयः परित्यागोपि मुख्यफलसिद्ध्यर्थं प्रागेव निरूपणीयः । स तदैव न कथं निरूपितः । किमिति विलम्बः कृत इति यः पश्चात्तापो भवेत्तदपगमाय परित्यागो विचार्यत इत्यर्थः ।

अथवा, 'पश्चात्ताप' का अर्थ तीसरे प्रकार से भी किया जा सकता है, यानि पश्चात्ताप श्रीमदाचार्यचरणों को हो रहा है, यों अर्थ भी किया जा सकता है। वह इस प्रकार कि, जीवों को प्रभुप्राप्ति करवाने के लिए भक्तिमार्ग का आविष्कार करने वाले श्रीमदाचार्यचरणों को जीवों को मुख्यफल की प्राप्ति होने के लिए स्वमार्गीयपरित्याग का स्वरूप पहले ही निरूपित कर देना चाहिए था, परन्तु, आपश्री ने तब ही क्यों निरूपण नहीं कर दिया, अब तक इतना विलम्ब क्यों किया- इस प्रकार का जो पश्चात्ताप आचार्यचरणों को हुआ, उसे दूर करने के लिए आपश्री यहाँ परित्याग के स्वरूप का विचार कर रहे हैं-यह अर्थ है।

ननु विचारविषयः परित्यागः कर्तव्यतया क्वाभिहितस्तदनन्तरं तन्निर्णयवार्तेत्याकांक्षायामाहुः स मार्गद्वितय इति । स परित्यागो मार्गद्वितये भक्तौ ज्ञाने विशेषतः विलक्षणफलसाधकत्वलक्षणाद्व्यावर्तकधर्मतः प्रोक्तः, श्रुतिश्रीभागवतादिष्वभिहित इत्यर्थः । अत एव 'सन्त्यज्य सर्वविषया'नित्यादिषु यः सर्वत्यागः श्रीव्रजस्थभक्तेषु स पर्यवसितविप्रयोगानुभवफल एव, ज्ञानमार्गीयेषु तु स नैवंविधः, किन्त्वपवर्गपर्यवसायी ।

किन्तु किसी को एक प्रश्न यह होता है कि, सबसे पहले यह तो बताईए कि, जिस परित्याग के विषय में विचार किया जा रहा है, वह कहाँ और किस मार्ग में कहा गया है? उसका निर्णय करने की बात तो बाद में आयेगी !! ऐसी आकांक्षा होने पर आपश्री **स मार्गद्वितये** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- परित्याग करना दो मार्गों में कहा गया है, भक्तिमार्ग में और ज्ञानमार्ग में **विशेषतः प्रोक्तः** विशेषरूप से कहा गया है, जिसका अर्थ है-दोनों मार्गों में विलक्षणफल को सिद्ध करने वाले लक्षणों को बताने वाले धर्मों के द्वारा कहा गया है यानि दूसरे मार्गों से हटकर बताने वाले लक्षणों द्वारा कहा गया है अर्थात् दोनों मार्गों के परित्याग का प्रकार श्रुति-श्रीभागवत आदि में बताया गया है। इसी कारण *"हे प्रभु! हम सब कुछ छोड़कर केवल तुमसे ही मिलने आयी हैं(श्री0भा-10/29/31)"* इत्यादि श्लोकों में वर्णित जिस प्रकार का सर्वत्याग व्रजभक्तों ने किया था, वह पूर्णविप्रयोगानुभव के पश्चात् प्राप्त होने वाला फल ही था, जबकि ज्ञानमार्गीयों को परित्याग द्वारा उन व्रजभक्तों के जैसा साक्षात् प्रभुप्राप्तिरूप फल नहीं मिलता अपितु मोक्षप्राप्तिरूप फल ही प्राप्त होता है, यों दोनों मार्गों के परित्याग के धर्म भिन्न-भिन्न हैं- यह अर्थ है।

यद्वा, विशेषः परिपाकदशा भक्तिज्ञानयोस्तदनन्तरमेव परित्यागः प्रोक्तः । अन्यथा तद्धर्मनिर्वाहाभावेन दोषविशेषपर्यवसानापातात् । विशेषत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च भक्तौ ज्ञाने च विशेषं सिद्धदशापन्नत्वं प्राप्येति वार्थः । अथवा, विशेषत इत्यस्य प्रत्यासत्तिवशाज्ज्ञान इत्यनेनैवान्वयः । इत्थञ्चैकजन्मनि परित्यागेन ज्ञानमार्गे मुक्त्यभावादनेकजन्मसु तत्करणमेव विशेषपदार्थोवसेयः ।।१।।

अथवा, **विशेषतः** शब्द से आपश्री 'भक्ति' एवं 'ज्ञान' की परिपक्वदशा होने के पश्चात् ही परित्याग करना बता रहे हैं। क्योंकि परिपक्वदशा में पहुँचने से पहले ही परित्याग करेंगे, तो उसके धर्मों का निर्वाह नहीं कर सकेंगे, जिसके कारण दोष में और पड़ जायेंगे। अथवा, यों अर्थ करें कि, **विशेषतः** शब्द में ल्यप् प्रत्यय का लोप होकर पंचमीविभक्ति हुई है, जिसका तात्पर्य है-भक्ति एवं ज्ञान की विशेष सिद्धदशा प्राप्त करने के पश्चात् परित्याग करना चाहिए। अथवा, चूँकि मूलश्लोक में **विशेषतः** शब्द **ज्ञाने** शब्द के निकट आया है अतः **विशेषतः** पद को **भक्तौ** पद में न जोड़कर केवल **ज्ञाने** पद में ही प्रयुक्त कर दीजिए; इस प्रकार से जोड़ने पर इसका अर्थ यह होगा कि, एक जन्म में किए परित्याग से ज्ञानमार्ग में मुक्ति नहीं होनी है, अपितु अनेक जन्म लेकर परित्याग करेंगे तब ही मुक्ति होगी-यह **ज्ञाने विशेषतः** का अर्थ हुआ, यानि इस प्रकार मे अर्थ करने पर यह बात सूचित होती है कि, अन्य मार्गों में तो एक जन्म में परन्तु ज्ञानमार्गीयपरित्याग में यह बात **विशेषतः** अर्थात् दूसरों से अलग बात यह कहती पड़ती है कि इसमें अनेक जन्म लेकर परित्याग करेंगे, तब मुक्ति होगी- यह अर्थ है ॥1॥

नन्वेवं कर्ममार्गेपि परित्यागकरणे किं बाधकमित्याशंकायां तन्निषेधमाहुः कर्ममार्गे न कर्तव्य इति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।

अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ।।२।।

कर्ममार्गो हि सकामनिष्कामभेदेनानेकविधकर्मकरणरूपः, तथाविधश्रुतिनिरूपितः, तस्मिन्परित्यागो निरवकाश इति न कर्तव्यः । न च 'यदहरेव विरजे'दिति श्रुत्या बोधितत्वात्परित्यागः सति निर्वेदे दुर्वार इति वाच्यम् । कर्ममार्गस्य कलत्रादिकलनाकन्दलितकामनाकलापस्य निर्वेदोदयनिदानभावायोगात् । न च निष्कामकर्मकरणं मनोमलिनिमानमपनीय विरक्तिमुत्पादयिष्यतीति वाच्यम् । तत्रापि सहधर्मिणीसाहित्यनैयत्येन तत्प्रत्यूहानपायात् ।

किन्तु यहाँ एक आशंका यह होती है कि, जिस प्रकार ऊपर भक्तिमार्ग एवं ज्ञानमार्ग में परित्याग करना बताया गया, उस प्रकार से यदि कोई कर्ममार्ग के अंतर्गत भी परित्याग करे, तो क्या बाधा है? तो आचार्यचरण ऐसा करने का निषेध **कर्ममार्गे न कर्तव्यं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आपश्री का इसका निषेध कहने का कारण यह है कि- कर्ममार्ग सकाम-निष्काम के भेद से अनेकविध कर्म करने का मार्ग है, जिसके विषय में श्रुतियों ने निरूपित भी किया है, उन कर्मों को करते रहने के कारण परित्याग करने का अवकाश ही प्राप्त नहीं होता अतः आपश्री न करना कह रहे हैं। यह कहना भी ठीक नहीं है कि, "जिस क्षण वैराग्य उत्पन्न हो जाय, उसी क्षण गृहत्याग करके वन की ओर निकल जाना चाहिए(जाबालोपनिषत्-4)" इस श्रुति में कहे अनुसार जब संसार से वैराग्य हो जायेगा, तब तो परित्याग करना ही पड़ेगा"..... नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कर्ममार्ग में पत्नी आदि का ग्रहण करके कर्म करने का विधान है और उससे मन में निरन्तर लौकिककामनाओं का भंडार उपजता रहने के कारण वैराग्य तो कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकता।

अब इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि, निष्कामतया कर्म करके मनोमालिन्य दूर कर देना चाहिए और इससे विरक्ति पैदा हो जायेगी, क्योंकि कर्ममार्गीयकर्म नियतरूप से सहधर्मिणी-पत्नी के संग ही किए जाते हैं अतः उससे होने वाले विघ्नों से अलग नहीं रहा जा सकता और पत्नी के रहते वैराग्य आना भी संभव नहीं है।

न च निष्कामकर्मकरणमेव संन्यास इति वाच्यम् । कर्मत्यागस्यैव तथात्वौचित्यात् । न च काम्यकर्मत्यागमादाय तथात्वं शक्यवचनम् । सङ्कोचे मानाभावात् । क्वचित्तस्मिन्नपि तत्प्रयोगस्यौपचारिकत्वात् । मुमुक्षूणां सर्वतत्त्यागदर्शनाच्च । न च मुमुक्षुषु जीवन्मुक्तेषु च तत्तत्कर्मकृतिव्यापृतिरुक्तैवेति वाच्यम् । भगवन्नियोगेनैव तेषु लोकसङ्ग्रहाद्यर्थत्वात्तस्याः ।

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि, निष्कामतया कर्म करने को ही संन्यास कहते हैं, क्योंकि समस्त कर्मों के त्याग को ही संन्यास कहा जाता है। ऐसा कहना भी शक्य नहीं है कि, समस्त कर्मों का त्याग करने का अर्थ यह है कि, संन्यास लेने पर कामनासहित कर्म का तो त्याग कर देना किन्तु निष्कामकर्म किए जा सकते हैं..... नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रकार का सीमित अर्थ करने का कहीं कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। यदि कहीं ऐसा सीमित अर्थ कर भी दिया गया हो, तो वह केवलगौणरूप से कह दिया गया है, यथार्थ में नहीं। क्योंकि जो मुमुक्षु/मुक्ति के अभिलाषी होते हैं, वे समस्त कर्मो का त्याग कर ही देते दिखाई पड़ते हैं। 'मुमुक्षु' उसे कहते हैं जिसको मोक्ष पाने की अभिलाषा हो, यानि संसार के जन्म-मरण के चक्र से छूटने का अभिलाषी हो। 'जीवन्मुक्त' उसे कहते हैं, जिसने शरीर के रहते ही मोक्ष का अनुभव कर लिया होता है और जिसको तत्त्व का साक्षात्कार तो हो गया होता है परन्तु प्राब्धकर्म का भोग करना शेष होता है। अब कोई ये शंका न करे कि, मुमुक्षु एवं जीवन्मुक्तों को भी संसार सम्बन्धी व्यावहारिककर्म करना तो बताया ही गया है, फिर समस्त कर्मों का त्याग कहाँ सिद्ध हुआ?..... नहीं, ऐसी शंका मत करिए, क्योंकि भगवदाज्ञानुसार लोकसंग्रहार्थ यानि लोकव्यवहार चलाने मात्र के लिये ही उन्हें व्यावहारिककर्म करना बताया गया है।

केश्चास्तामन्यद्बाधकम्, काल एव बलवद्बाधकस्तत्रेत्याहुः सुतरां कलिकालत इति । कलिकालस्तावद्भगवद्भजनस्यैव बाधकस्तदतिरिक्तस्य बाधक एवेति तत्र तत्र सिद्धम् । तथा च तथाभूतात्तस्मादनिर्वाहप्रत्यवायादिकं प्रतीत्य कर्ममार्गे सुतरां संन्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः । एतेन काम्यकर्मत्यागलक्षणो गौणोपि त्यागः प्रत्युक्तः ।

और, चलो रहने दीजिए अन्य बाधकों की बात, स्वयं कलिकाल ही सबसे बड़ा बलवान बाधक है, जिसके कारण आपश्री कर्ममार्गीयपरित्याग न करना **सुतरां कलिकालतः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि, कलिकाल तो केवल

भगवद्भजन करने में ही साधक है, अन्यत्र तो वह बाधक ही है- यह बात तो अनेकों स्थानों पर सिद्ध की गयी है। इसलिए कलिकाल बाधक होने के कारण कर्ममार्गीयसंन्यास का निर्वाह नहीं हो पाता और कई विघ्न भी आते हैं- इन सभी बातों का विचार करके कर्ममार्ग में तो उल्टे संन्यास नहीं ही लेना चाहिए- यह अर्थ है। ऊपर किए समस्त विवेचनों के द्वारा ऊपर जो "कामनासहित कर्मों का त्याग करने वाले गौणत्याग को परित्याग कहते हैं किन्तु निष्कामकर्म किए जा सकते हैं"- यह शंका की गयी थी, उस पक्ष का भी उत्तर दे दिया समझना चाहिए, ऊपर पूर्वपक्षी ने यह शंका की थी कि, कर्ममार्गीयपरित्याग में निष्कामभाव से किए जाने वाले कर्म तो किए जा सकते हैं किन्तु सकामकर्म चूँकि पत्नी के संग ही किए जाते हैं इसलिए सकामकर्मों का त्याग कर दें तो संन्यास/परित्याग सिद्ध हो जाता है। श्रीगोपेश्वरचरणों का कहना है कि, चूँकि कलिकाल बड़ा प्रबल है अतः सकामभाव या निष्कामभाव किसी भी भाव से किए जाने वाले कर्म करने संभव नहीं बन पायेंगे अतः उक्त शंका को यहाँ कोई स्थान नहीं है- यह अर्थ है।

मुख्याङ्गत्वात्कालो निर्दिष्टः, परमयं देशादीनामप्युपलक्षकः । तेन कलौ देशकर्त्राद्यशुद्ध्यापि न परित्यागः कर्ममार्गे सिध्यति । अत एवायुषस्तुर्यभागे संन्यास इति मतमपि वैराग्यं विना तदसम्भवेन भक्तिज्ञानपरिपाक एव तदाढ्यर्थेन तत्रैव सावकाशमिति कालादिदोषाच्च कर्ममार्गे निरवकाशमिति ध्येयम् ।

बाधा उत्पन्न करने में कलिकाल मुख्य अंग है अतः आपश्री ने यद्यपि केवल कलिकाल का ही निर्देश किया है परन्तु कलिकाल को देश-द्रव्य इत्यादि का भी उपलक्षक मानना चाहिए, यानि कलिकाल के साथ साथ देश-द्रव्य इत्यादि भी बाधक होते हैं। इससे यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि, कलिकाल में देश-कर्ता इत्यादि अशुद्ध होने के कारण कर्ममार्ग में परित्याग सिद्ध नहीं हो पाता। अतएव "आयु के चतुर्थभाग में संन्यासाश्रम ग्रहण करना चाहिए" इस मत का भी कर्ममार्ग में अवकाश नहीं है, क्योंकि बिना वैराग्य हुए परित्याग कर पाना संभव नहीं होता और भक्ति-ज्ञान की परिपक्वदशा में ही वैराग्य दृढ़ हो पाता है अतः परिपक्वदशा पर पहुँचने पर ही संन्यास लेना चाहिए; साथ ही साथ कर्ममार्ग में तो काल इत्यादि के दोष तो लागू पड़ते ही हैं अतः कर्ममार्गीयसंन्यास नहीं लेना चाहिए।

एवं कर्ममार्गे परित्यागं प्रतिषिध्य भक्तिज्ञानमार्गयोः कर्तव्यतया परिशेषिते तस्मिन् प्रथमं कुत्रत्ये विचारः कार्य इत्यत्राहुः अत आदाविति । यतः कर्ममार्गे बाधध्रौव्यात् परित्यागो न कर्तव्योतो भक्तौ ज्ञाने च कर्तव्यतया तद्विचारस्य प्राप्तौ स्वस्य भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वात् भक्तेः प्राथम्याच्च सिद्धदशायां च तस्य कर्तव्यत्वादादौ भक्तिमार्गे परित्यागस्य विचारणा । भक्तिमार्गे किं साधनदशायामेव परित्यागः कार्यः, किं वा फलदशायामाहोस्विदुभयत्र वेतिरूपा क्रियत इति शेषः ॥२॥

इस प्रकार से कर्ममार्ग में परित्याग का निषेध करके अब भक्तिमार्ग एवं ज्ञानमार्ग में परित्याग करने की बात शेष रह जाती है, अतः सर्वप्रथम प्रश्न यह होता है कि, इनमें से पहले किस मार्ग के परित्याग का विचार किया जाय अतः आपश्री **अत आदौ** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। चूँकि कर्ममार्ग में निश्चितरूप से बाधाएँ आती ही हैं अतः कर्ममार्गीयपरित्याग न करना बताया, अतः "भक्तिमार्ग एवं ज्ञानमार्ग में परित्याग करना चाहिए?" यह विचार करना शेष रह जाता है, इसलिए आचार्यचरण चूँकि भक्तिमार्ग के प्रवर्तक हैं और आपश्री के लिए तो भक्ति की ही प्राथमिकता है, साथ ही साथ सिद्धदशा पर पहुँचने पर ही परित्याग करना चाहिए, इन सभी कारणों से आपश्री पहले भक्तिमार्गीयपरित्याग का ही विचार कर रहे हैं। परित्याग करने का विचार करने का तात्पर्य है- भक्तिमार्ग में साधनदशा में परित्याग करना चाहिए या फलदशा पर पहुँचने पर, अथवा तो क्या दोनों ही अवस्थाओं में परित्याग किया जा सकता है- इन सभी मुद्दों पर विचार कर रहे हैं ॥2॥

ननु भक्तिमार्गे परित्यागः स्थापितश्चेत्तदा साधनदशायामपि स कर्तव्य इत्याशङ्क्य सहेतुकं तदनङ्गीकारमाहुः श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थमिति ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥३॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥४॥
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥५॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।

अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ।।६।।

श्रवणादीनि यानि साधनरूपाणि तेषां प्रकर्षेणाव्यग्रतया सिद्धिर्निष्पत्तिर्गृहादिषु व्यासञ्जकेषु न सम्भवतीति तदर्थं स परित्यागः कर्तव्यश्चेत्, नेष्यते नांगीक्रियत इत्यर्थः । श्रवणादीनां प्रसिद्धिरुत्कृष्टफलं तदर्थं परित्यागः कर्तव्यश्चेन्नाङ्गीक्रियत इति वार्थः । कुत इत्याकांक्षायामाहुः सहायसङ्गसाध्यत्वादित्यादि । गृहादिषु तत्कार्यव्यासङ्गस्यानिवार्यत्वादेकान्ततः श्रवणादिसाधननिर्वाहो न भवतीति तत्परित्यागेन क्वचित्तच्चित्तैकाग्र्येण सम्पादनीयमिति मनसिकृत्य यस्त्यागः स कथमुपपद्यतां, यतः श्रवणादीनि सहायसङ्गसाध्यानि, सहायाः कथकादयो विविधस्वभावाः, तेषां सङ्गः सद्भावेन तदुपसत्तिरूपः, तेन सम्पाद्यान्यतस्त्यागानन्तरमावश्यकस्यासङ्गत्वादेर्भङ्गप्रसङ्गतः प्रशिथिलवैराग्यात् पुनस्तत्तदाकांक्षोन्मज्जनेन च न श्रवणादिसाधनार्थं परित्यागः शक्याभ्युपगमः ।

अब यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, भक्तिमार्ग में भी परित्याग करना स्थापित किया गया है, तो फिर क्या भक्ति की साधनदशा में भी परित्याग किया जा सकता है? तो आचार्यचरण हेतुसहित इसे अस्वीकार करते हुए **श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि-"भगवद्भाव दृढ़ करने के लिए श्रवणकीर्तन इत्यादि साधन व्यवस्थितरूप से, निर्बाधरूप से गृह-परिवार में व्यस्त रहते हुए सिद्ध होने संभव नहीं होते अतः श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के लिए परित्याग कर लिया जाय"- ऐसा सोचकर यदि कोई परित्याग करना चाहता हो, तो आपश्री को यह इष्ट नहीं है, आपश्री इसे स्वीकार नहीं करते-यह अर्थ है। अथवा, श्रवणादि की प्रसिद्धि का अर्थ है-श्रवणादि करने का उत्कृष्टफल; यानि श्रवणादि का उत्कृष्टफल पाने की इच्छा से यदि कोई परित्याग करना चाहता हो, तो आपश्री इसे अस्वीकार कर रहे हैं। ऐसा क्यों? तो आपश्री इसका कारण **सहायसंगसाध्यत्वात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, घरपरिवार में रहते हुए उससे सम्बन्धित कार्यों की व्यस्तता दूर नहीं की जा सकती अतः घरपरिवार के बीच एकान्त में रहकर श्रवणादि साधनों का निर्वाह नहीं हो पायेगा, इसलिए घरपरिवार का परित्याग करके कहीं पर चित्त को एकाग्र बनाया जाय- यदि मन में ऐसा सोचकर त्याग किया जाता है, तो ऐसा त्याग कैसे निभ सकता है? क्योंकि श्रवणकीर्तन इत्यादि साधन तो किसी अन्यसंग की सहायता से ही साधे जाते हैं; श्रवणादि में सहायक यानि कि कथाकार, जो कि विविधस्वभाव वाले होते हैं, उनका संग करने से यानि उनमें सद्भाव रखते हुए उनके समीप रहने से होगा यह कि, त्याग करने के पश्चात् जो एकाकी रहने जैसे धर्म होते हैं, उनका विच्छेद हो जायेगा और इसके कारण वैराग्य अत्यधिक शिथिल पड़ जायेगा और इस कारण जिनको छोड़कर आये थे फिर से उन्हीं के प्रति आकांक्षाओं से घिर जायेंगे, उन्हीं की आकांक्षा उत्पन्न हो जायेगी अतः श्रवणकीर्तन इत्यादि साधने के लिए परित्याग करना शक्य नहीं होता।

किञ्च, त्यागमात्रान्न कार्यसिद्धिरिति श्रवणादिसिषाधयिषोस्तत्साधनानां तत्तदवसरे उपेक्षितानां रक्षणं कर्तव्यं, ततस्त्यागः कथं लब्धात्मकः स्यात् । अपि च, साधनमार्गीयस्य कृतेपि त्यागे तत्तत्पदार्थेषु श्रवणाद्यर्थमपेक्ष्येषु नाभिमानो निवर्तते, प्रतिक्षणमुदेत्येव, त्यागे च स निवर्तनीयः सर्वथेति तत्सत्त्वे स न युज्यते । साधनदशायां वेदाज्ञारूपभगवन्नियोगाच्च वर्णाश्रमधर्माणामुल्लङ्घनं न शक्यमित्यशक्य एव त्यागः । अन्यच्च, श्रवणादिसाधनानां तद्धर्मैः परित्यागधर्मैः पर्यटनादिभिः समं विरोधो न शक्यविधूनन इति न कथमपि साधनभक्तिरूपश्रवणादिषु परित्यागः सम्भवति ।

और, यह भी है कि, केवल त्याग कर देने मात्र से ही काम नहीं बनेगा, अपितु श्रवणादि को सिद्ध करने के इच्छुकों को जो कि कथाकार इत्यादि का संग करेंगे, उन्हें (1) श्रवणादि करते समय एकाकी रहना, (2) समस्तकर्मों का त्याग कर देना जैसे त्याग के आवश्यक नियमों की भी उपेक्षा करनी पड़ेगी और सत्संग के बाद उन्हीं साधनों को पुनः जुटाना भी पड़ेगा जिनकी उपेक्षा कर आए हैं; अब बताइए कि ऐसी परिस्थिति में त्याग कैसे सिद्ध हो सकेगा!! एक बात और भी है कि, भक्ति की साधनावस्था में श्रवणादि सिद्ध करने के हेतु से त्याग करने वाले को समस्त वस्तुओं का त्याग करने के बाद भी श्रवणादि के लिए जो-जो वस्तुएँ अपेक्षित होती हैं, उनका संग्रह तो करना ही पड़ेगा अतः उन वस्तुओं के प्रति उसका अभिमान दूर नहीं होता, अपितु प्रतिक्षण बढ़ता ही चला जाता है, जबकि त्याग करने के पश्चात् वह सर्वथा दूर होना चाहिए था, अब यदि अभिमान रह गया तो त्याग सिद्ध ही नहीं हो पायेगा। और साधनदशा में तो वर्णाश्रमधर्म का निर्वाह करने को कर्तव्य बताने वाली वेदाज्ञारूप भगवदाज्ञा भी लागू पड़ती है अतः साधनदशा रहने तक वर्णाश्रमधर्मों

का उल्लंघन करना भी शक्य नहीं हो सकेगा इसलिए फिर त्याग करना भी अशक्य ही रहेगा। इसके अतिरिक्त यह भी है कि, श्रवणादि के साधनों का **तद्धर्मैः** यानि परित्याग के धर्मों के संग अर्थात् परित्याग करने के पश्चात् पर्यटन करते रहना जैसे धर्मों के संग होने वाले विरोध को भी हटाना शक्य नहीं है, इसलिए साधनभक्ति की अवस्था के द्योतक श्रवणादि धर्मों को सिद्ध करने के हेतु से परित्याग करना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं होता। चूँकि संन्यास में एक स्थान पर अधिक समय तक रहना वर्जित है और उसे निरन्तर पर्यटन करते रहना होता है। जबकि श्रवणकीर्तन आदि तो एक स्थल पर स्थायीरूप से रहकर ही किए जा सकते हैं अतः दोनों की परिस्थितियाँ परस्पर विरुद्ध जाती हैं- यह अर्थ है।

ननु तथापि गृहादिकं सत्सङ्गासम्पादकतया श्रवणादिषु प्रतिपक्षभूतमतस्तदर्थं तत्परित्याज्यम्, तथा सति कदाचित् सत्सङ्गोपि स्यादित्याशंक्य समाधानमाहुः गृहादेरिति । बाधकत्वेन श्रवणादिविरोधित्वेन । साधनार्थं श्रवणाद्यर्थम् । तथा यदि परित्यागश्चेत् । तदा अग्रेपि त्यागानन्तरमपि तथाविधदार्ढ्याभावात्तादृशैरेव परित्यक्तश्रवणादिपरिपन्थिगृहादिसदृशैरेव सङ्गो भवति, अन्यथा प्रकारान्तरेण गृहादिपरित्यागरूपेण श्रवणादिकं तु न भवतीत्यर्थः ।

किन्तु तथापि यदि कोई ये सोचकर कि, घर-परिवार में रहते हुए चूँकि सत्संग मिलना संभव नहीं होता और परिवारजन श्रवणकीर्तन के विरोधी हैं अतः घर-परिवार का परित्याग कर दिया जाय जिससे कदाचित् कहीं और सत्संग मिल भी जाय!! ऐसा सोचकर परित्याग करना चाहता हो तो, आचार्यचरण इसका समाधान **गृहादेर्बाधकत्वेन** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इसका अर्थ है- **गृहादेर्बाधकत्वेन**(घरपरिवार श्रवणादि का विरोधी होने के कारण)**साधनार्थं**(श्रवणादि के साधन सिद्ध करने के हेतु से)**तथा यदि**(यदि परित्याग करना चाहते हों)तो **अग्रेपि**(आगे त्याग करने के बाद भी)चूँकि अभी जैसी चाहिए वैसी दृढ़ता नहीं आ पायी है अतः परित्याग करने के बाद भी, उन्हीं घरपरिवार के जैसे लोगों की भाँति श्रवणकीर्तन का पूर्णरूप से त्याग कर देने वाले ठगों का ही संग मिलेगा। **नान्यथा** यानि गृह-आदि का परित्याग करने जैसे अन्यान्य प्रकारों से श्रवणकीर्तन आदि नहीं निभ सकते- यह अर्थ है।

ननु भवतु भवनादिपरित्यागकर्तुस्तादृगपरसङ्गः, तथाप्यन्तरुद्भतवैराग्यादिनैव श्रवणादिनिर्वाहो भविष्यतीति न तत्त्यागोनुचित इति चेत्, तत्राहुः स्वयं चेति । यदि वैराग्यमन्तर्जागरूकं भवेत्, तदा क्रमेण बाधकनिबर्हणे निर्वहेदपि श्रवणादिकम्, परन्तु साधनदशायां तादृशं तदेव दुरापम्, अतस्त्यागस्तु विरोधिभिर्विधूयेतैव, किन्तु स्वयमपि तु पुनः विषयैरागन्तुकैरनेकरूपैर्भोग्यैराक्रान्त उपमर्दितः सन् कालतः कलिरूपात् भक्तातिरिक्तपरिपन्थिनः पाषण्डी तत्तद्विरुद्धाचरणवान् भवेदित्यर्थः । सकामत इति पाठे क्रोधलोभाद्युपलक्षकात् कामतो बलिष्ठदोषात् स तथा स्यादित्यर्थः । तेन विना वैराग्यं त्यागोधमः, तत्तद्विषयप्रतिहतः, फलाय नावकल्पते, प्रत्युत प्रत्यवायमेव सम्पादयति, प्रमाणविरुद्धाचरणमुत्पाद्येति भावः ।

"चलो, भले ही श्रवणकीर्तन साधने के लिए घरपरिवार का परित्याग करने वाले को त्याग करने के बाद भी उन्हीं घरपरिवारजन जैसों का ही संग मिलने वाला हो, तथापि यदि किसी के अन्तःकरण में ही दृढ़वैराग्य पनप जाए और जिसके बल से कोई भी दुःसंग उस पर प्रभावी न होता हो, तो उससे ही श्रवणकीर्तन आदि व्यवस्थित निभ सकेंगे अतः घरपरिवार का त्याग करने को अनुचित नहीं ठहराना चाहिए"- यदि कोई इस प्रकार से सोचता हो, तो आचार्यचरण **स्वयं च** इत्यादि शब्दों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाहते हैं कि, यदि अन्तःकरण में वैराग्य जागरुक हो, तब तो क्रमपूर्वक बाधक दूर होकर श्रवणकीर्तन आदि का निर्वाह हो भी सकता है, परन्तु, भक्ति की साधनावस्था में तो वैराग्य जागना भी दुष्प्राप्य है, इसलिए उसके त्याग को विरोधी तो खैर भंग कर ही देंगे, अपितु वह स्वयं भी अनेकरूपों में उसके समक्ष आनेवाले विषयभोगों से घिर जायेगा और उनसे कुचला हुआ कलिकाल के कारण पाखण्डी यानि संन्यास से विरुद्ध आचरण करने वाला बन जायेगा- यह अर्थ है। यदि **स कालतः** के स्थान पर **स कामतः** पाठ माना जाए, तो इसका अर्थ होगा- चूँकि 'काम' तो क्रोध,लोभ आदि दोषों का भी उपलक्षक(बताने वाला)है, अतः कामरूपी बलिष्ठदोष के कारण वह पाखण्डी बन जायेगा। इसलिए इन सभी विश्लेषणों से यह सिद्ध होता है कि, वैराग्य जागे बिना किया गया त्याग अधमकोटि का होता है, जो काम-क्रोध इत्यादि विषयों के द्वारा नष्ट हो जाता है और फलदान करने में समर्थ नहीं होता, उल्टे दोष उत्पन्न करता है, यानि प्रमाणविरुद्ध आचरण उत्पन्न कराता है- यह भाव है।

ननु विषयैराक्रमणेपि श्रवणादिभिर्भगवदावेशस्यापि सम्भवात्तन्महिम्ना त्यागो निष्प्रत्यूह इति चेत्तत्राहुः विषयाक्रान्तदेहानामिति ।

भगवदावेशे सति त्यागे न कापि क्षतिः । किन्तु विषयैर्देहादिकं येषामाक्रान्तं तेषां हरेः सर्वदुःखहर्तुर्विषयदोषदवीयसो निर्दोषसेव्यस्यावेशो हृदयादावागमनं तत् सर्वदा कस्मिन्नपि काले न भवति । किन्तु 'विषयान् ध्यायत' इत्युक्तरीत्या नाश एव भवतीत्यर्थः । न च विषयाणां श्रवणाद्यनभिभावकत्वान्न तत्प्रयुक्तभगवदावेशानुपपत्तिरिति वाच्यम् । 'नराणां क्षीणपापाना'मिति वाक्यात्तादृशेष्वेव श्रवणादि प्रयोज्य प्रभ्वावेशस्योपपत्तेः ।

किन्तु किसी को एक प्रश्न यह होता है कि, भले ही सांसारिकविषयों का आक्रमण होता रहे, परन्तु, श्रवणकीर्तन करने से हृदय में भगवादावेश होना संभव हो सकता है अतः भगवदावेश की महिमा के प्रभाव से त्याग में कोई बाधा नहीं आयेगी- तो आचार्यचरण इसका समाधान **विषयाक्रान्तदेहानां** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, यदि भगवदावेश ही आ जाता होता, तब तो कोई क्षति ही नहीं थी, परन्तु, जिनकी देह-इन्द्रिय सांसारिकविषयों के कारण आक्रान्त हो चुकी हैं, उनमें हरि का यानि समस्तदुःखहर्ता, सांसारिकविषयों के दोषों को मिटाने वाले, निर्दोषभक्तों द्वारा सेवित होने वाले हरि का आवेश यानि हृदय या देह में हरि का प्रवेश करना कभी भी, किसी भी काल में संभव नहीं बन सकता। किन्तु, "विषयान् ध्यायतः(भ0गी-2/62)" इस वाक्य में कही रीति अनुसार उसका नाश ही होता है- यह अर्थ है। कोई ये न कहे कि, "सांसारिकविषय प्रभु के श्रवणकीर्तन को प्रभावित नहीं कर सकते अतः सांसारिकविषयों के जुड़े रहते भी भगवदावेश हो सकता है- इस बात को अयुक्त नहीं मानना चाहिए"- नहीं..... ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, "हजारों जन्मों में जाकर तप, ध्यान समाधि इत्यादि साधनों को करने के द्वारा जब मनुष्यों के पाप नष्ट हो जाते हैं तब उनमें कृष्ण के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है(विष्णुधर्मोत्तरपुराण)" इस वाक्यानुसार जिसके समस्त पाप मिट चुके हैं, उन्हीं में श्रवणादि के द्वारा प्राप्त होने वाला प्रभु का आवेश संभव हो सकता है।

न च 'बाध्यमानोपि मद्भक्त' इत्यादिवाक्यैर्विषयसत्त्वेपि का क्षतिरिति वाच्यम् । उक्तवाक्यानां विषयसुखवैमुख्येन सेवमानस्य प्रमादात्तत्कृतबाधेपि प्रभुरतिकृपार्द्रस्तद्दोषमपाकरोति, अतो न विषयाभिभव इत्यभिप्रायकत्वात् । अत एव प्रायःपदमुपात्तं तत्र । एतद्वाक्याभिप्रायान्तरमस्मत्पितृव्यचरणकृतौ विवेकधैर्याश्रयविवृतौ विलोकनीयम् ।

कोई ऐसा भी न कहे कि, *"हे उद्धव! मेरा भक्त जो अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसार के विषय उसे बार-बार बाधा पहुँचाते रहते हैं, ऐसा भक्त भी मेरी प्रगल्भभक्ति के प्रभाव से प्रायः विषयों से पराजित नहीं होता(श्री0भा-11/14/18)"* इत्यादि वाक्यों में तो यह कहा गया है कि, विषयों से बाधित होने पर भी प्रभु उस कृपा करते हैं और भक्त सांसारिकविषयों से प्रभावित नहीं होता अतः यदि विषय दूर न भी हुए हों, तो भी क्या क्षति है? नहीं ...ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उपरोक्त वाक्य विषयभोगों में रचेपचे लोगों के लिए नहीं कहा गया है अपितु उन लोगों के लिए कहा गया है, जो विषयसुख से मुँह मोड़ चुके हैं और भगवत्सेवा कर रहे हैं और भगवत्सेवा करते हुए कदाचित् प्रमादवश कभी विषयों द्वारा बाधित भी हो जाते हैं, तब ऐसी परिस्थिति में कृपालु प्रभु उनके दोषों को दूर कर देते हैं, अतः इससे यह समझना चाहिए कि ये बात विषयों में सदा-सर्वदा लिप्त रहने वाले लोगों के लिए नहीं कही गयी है। देखिए, इसी कारण उक्त भागवतश्लोक में उन लोगों के लिए 'प्रायः(कभी-कभार)' शब्द का प्रयोग किया गया है, यानि वे कभी-कभार ही विषयों से प्रभावित होते हैं, उनमें सदा लिप्त नहीं रहते। इसी भागवतवाक्य का दूसरा अभिप्राय हमारे काकाजी द्वारा की गयी विवेकधैर्याश्रयग्रन्थ की विवृति में अवश्य देख लेना चाहिए।

एवं साधनभक्तिमार्गे समर्थितं त्यागाभावमुपसंहरन्ति अतोत्रेति । यतो बहून्येव बाधकान्युक्तान्यतोऽत्र साधने भक्तौ श्रवणादिरूपसाधनभक्तिमार्गे त्यागः संन्यासः सुखावहः आनन्दहेतुर्नैव भवतीत्यर्थः । साधनपदमेवकारश्च फलभक्तौ त्यागस्य सुखनैयत्यावगत्यै ।

इस प्रकार से साधनभक्तिमार्ग(भक्ति की साधनावस्था)में त्याग न करने की बात का आपश्री **अतोत्र** इत्यादि शब्दों से उपसंहार कर रहे हैं। इस पंक्ति में आपश्री आज्ञा करते हैं- चूँकि हमने अनेक बाधक बता दिए हैं अतः साधनरूपा भक्ति की अवस्था में यानि श्रवणकीर्तन को सिद्ध करने रूप साधनरूपभक्तिमार्ग में त्याग/संन्यास सुखावह नहीं होता, यानि आनन्द का हेतु नहीं बनता- यह अर्थ है। इस पंक्ति में 'साधन' और 'एव' पद के द्वारा यह समझ लेना चाहिए कि, भक्ति की साधनावस्था में तो त्याग सुखावह नहीं होता, परन्तु, भक्ति की फलदशा आ जाने पर तो निश्चितरूप से सुखावह होता है।

नन्वेवं भक्तिमार्गे न युक्तश्चेत् परित्यागः, तर्हि ज्ञानमार्ग एवास्ताम्, एवञ्च भक्तिमार्गे व्यर्थस्तद्विचार इति चेत्तत्राहुः विरहानुभवार्थमिति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ।।७।।
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ।।८।।
विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ।।९।।
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ।।१०।।
तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ।।११।।
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ।।१२।।
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ।।१३।।
दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।।१३$^{1}/_{2}$।।

तुशब्दः साधनमार्गीयत्यागव्यावृत्त्यर्थः । साधनभक्तौ परित्यागस्य बहुबाधकास्कन्दितत्वेनासम्भवेपि रसात्मकस्य प्रभोः परमफलरूपद्वितीयदलविविधभावास्वादनलक्षणो यो विरहानुभवस्तदर्थं परित्यागः सर्वात्मभावाङ्गभूतः संन्यासः प्रशस्यते, प्रशस्तो भवति, किंवा प्रकर्षेण मोक्षाधिककक्षापन्नत्वेन कथ्यत इत्यर्थः । तेनातिशयितभगवदङ्गीकारात्तथाधिकाराधिगमेन विधीयमानः परित्यागः परमपुमर्थरूपतद्विप्रयोगरसानुभावकतया भक्तिमार्गे भव्यतम एवेत्येतद्विचारः सुचारुतर इति भावः ।

अब कोई पूर्वपक्षी यों कहता है कि, उपरोक्त प्रकार से यदि भक्तिमार्ग में परित्याग करना ठीक नहीं है, तो फिर ज्ञानमार्ग वाला परित्याग ही कर लिया जाय, और तब आचार्यचरणों को व्यर्थ में भक्तिमार्गीयपरित्याग का विचार करने की भी क्या आवश्यकता रह जायेगी ? तो आपश्री इसका स्पष्टीकरण अग्रिमश्लोक में **विरहानुभवार्थम्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं और ये बता रहे हैं कि भक्तिमार्ग में परित्याग का प्रकार क्या और किस प्रकार से है।

श्लोक में 'तु' शब्द साधनमार्गीयत्याग को अयुक्त बताने के लिए है। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, यद्यपि साधनभक्ति में परित्याग को अनेक बाधकों से घिरा बता कर असम्भव बताया तो गया है, तथापि, रसात्मकप्रभु का परमफलरूप, यानि द्वितीयदल-विप्रयोगावस्था के विविधभावों का आस्वादन करने का लक्षण जो 'विरहानुभव' है, उस विरह का अनुभव करने के हेतु से जो परित्याग किया जाता है, यानि जो परित्याग सर्वात्मभाव का अंगभूत भी है, ऐसा परित्याग/संन्यास लेना प्रशंसनीय है। अथवा, **प्रशस्यते**[प्र+शस्यते(कहा जा रहा है)]पद के द्वारा आपश्री इस परित्याग को मोक्ष से भी अधिक उँची कक्षा का कह रहे हैं-यह अर्थ है। इससे यह सिद्ध हुआ कि, पूर्णरूपेण भगवदंगीकार के द्वारा ऊपर बताए विरहानुभव या सर्वात्मभाव का अधिकार जब जीव में उत्पन्न हो जाता है, वह अधिकार प्राप्त हो जाने के पश्चात् किया जाने वाला परित्याग परमपुरुषार्थरूप विप्रयोग का अनुभव कराने वाला होता है अतः भक्तिमार्ग में ऐसा परित्याग श्रेष्ठतम होता है, इसलिए आचार्यचरणों का ऐसे परित्याग के बारे में विचार करना उत्तम ही है-यह भाव है।

ननु ज्ञानमार्गीयसंन्यासग्रहणे यथा विहितत्वात् काषायवस्त्रवेषः क्रियते, स हि सातिशयो मोक्षार्थः, तथा भक्तिमार्गीयसंन्यासग्रहणे स न भवतीति किमर्थं तत्सम्पादनमिति चेत्तत्राहुः स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थमिति । अत्र विरहानुभवार्थे भक्तिमार्गीये परित्यागे ज्ञानमार्गीयसंन्यासे प्रसिद्धो वेषस्तं विना भार्यादिभिः प्रतिबन्धः कार्य इति स्वीयैर्दारादिभिर्यो बन्धः प्रतिबन्धः, किंवा स्वीयेषु बन्ध आसक्तिः प्रतिबन्धरूपा तन्निवृत्त्यर्थं कर्तव्यो, न चान्यथा, प्रकारान्तरेण ज्ञानमार्गीयेण न कर्तव्य इत्यर्थः । यथा ज्ञानमार्गीयसंन्यासे तादृग्वेषस्यादृष्टविशेषद्वारापवर्गोपयोगित्वम्, न तथा भक्तिमार्गीयसंन्यासे, तस्य स्वीयबन्धनिवृत्तिमात्रप्रयोजनत्वेनैवात्र

कर्तव्यत्वादितरथा तदभावादिति भावः ।

अब एक शंका यह होती है कि, जिस प्रकार ज्ञानमार्गीयसंन्यास ग्रहण करने में नियमानुसार गेरुएवस्त्र का वेष धारण किया जाता है, जो कि श्रेष्ठतम होने के कारण मोक्षप्राप्ति के लिए धारण किया जाता है(गेरुआ वस्त्र अग्नि का प्रतीक माना जाता है एवं उत्तम माना जाता है), उस प्रकार से भक्तिमार्गीयसंन्यास ग्रहण करने में तो मोक्षप्राप्ति के लिए धारण नहीं किया जाता, फिर किसलिए धारण किया जाता है? तो आचार्यचरण **स्वीयबन्धनिवृत्यर्थम्** इत्यादि शब्दों से गेरुआवस्त्र धारण करने का हेतु बता रहे हैं। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, इस भक्तिमार्ग में भगवद्विरह का अनुभव करने के लिए किए जाते परित्याग में ज्ञानमार्गीयसंन्यास वाला गेरुएवस्त्र का प्रसिद्ध वेष यदि धारण न किया जाय, तो पत्नी-आदि परिवारजन उसके संन्यास में प्रीतबन्ध करेत ँ ह, अतः पत्नी ओद अपेन पिरवार े क लोगं ा द्वारा ि किया जोन वाला ेा प्रीतबन्ध ेहाता ै ह, अथवा ेा खुद अपनी अपने परिवारजनों के प्रति बन्धन/आसक्ति जो उसके मार्ग में प्रतिबन्ध करती है, उसकी निवृत्ति करने के लिए गेरुआ वेष धारण करना चाहिए या किया जाता है; ज्ञानमार्गीयसंन्यास के नियमानुसार धारण नहीं किया जाता- यह अर्थ है। जिस प्रकार से ज्ञानमार्गीयसंन्यास में गेरुआ वेष एक प्रकार के पुण्य के लिए धारण किया जाता है, जो उसकी मोक्षप्राप्ति में उपयोगी होता है, उस उद्देश्य से भक्तिमार्गीयसंन्यास में धारण नहीं किया जाता, भक्तिमार्ग में तो केवल अपने परिवारजनों के बन्धन को निवृत्त करने के प्रयोजन से ही गेरुआ वेष धारण करना चाहिए, अन्य किसी दूसरे प्रयोजन से वेष धारण नहीं किया जाता- यह भाव है।

ननु ज्ञानमार्गे गुरुतदुपदिष्टसाधनादेरिष्टसिद्धिः, न पुनः संन्यासमात्राद्, भक्तिमार्गीयसंन्यासे तु तदप्रसिद्धेः कथं फलसिद्धिरित्याशङ्कायां तत्प्रसिद्धिमाहुः कौण्डिन्यो गोपिका इति । कौण्डिन्यो महर्षिः स गुरुः प्रोक्तः, गोपिका घोषभूषणरूपाः सीमन्तिन्यः, ता भक्तिमार्गीये विरहानुभवपर्यवसायिनि संन्यासे गुरवः प्रोक्ताः, श्रीभागवतादिषु सम्यक्कथिता इत्यर्थः । अत्रायमभिप्रायः । कौण्डिन्यस्यानन्तगुणवर्णनाकर्णनोदीर्णतदभ्यर्णगमनादिमनोरथार्णवभवदनन्तभावसन्तप्ताशेषकरणवृत्तेः कृत्स्नपरित्यागेन विपिनगह्वरादिषु तद्गवेषणविवशस्य सर्वपरित्यागपूर्वकतादृगार्तिलक्षणविरहानुभवहेतुभावप्रकाशकत्वमस्ति । गोपिकानां तु स्वप्राणप्रेष्ठप्रस्फुरत्सर्वात्मभाववत्तया रासोत्सवादिप्रस्तावे तथात्वं स्फुटतरमेवेति लोकवेदातीतशुद्धपुष्टिमार्गीयप्रकारस्य प्रभुणा स्वप्रयोजनार्थं स्वभोग्यभक्तस्थापितस्य प्रथमं तत एव प्राकट्यात्तत्रैव गुरुत्वं समञ्जसतमम् ।

एक प्रश्न यह होता है कि, ज्ञानमार्ग में गुरु एवं उनके द्वारा उपदिष्ट साधनों द्वारा इष्टसिद्धि होती है, केवल संन्यास ले लेने मात्र से नहीं, किन्तु भक्तिमार्गीयसंन्यास लेने में तो किसी गुरु के विषय में कहीं सुना नहीं है, फिर कैसे फलसिद्धि होगी? यदि ऐसी आशंका होती हो, तो आचार्यचरण भक्तिमार्ग के प्रसिद्ध गुरु के विषय में **कौण्डिन्यो गोपिकाः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- कौण्डिन्य महर्षि गुरु कहे गए हैं, व्रज की भूषणरूपा गोपिकाएँ भी गुरु कही गयीं हैं। गोपिकाएँ भक्तिमार्गीयविरहानुभव के हेतु से लिए जाने वाले संन्यास में गुरु कही/मानी गयीं हैं, यानि श्रीभागवत इत्यादि शास्त्रों में व्यवस्थितरूप से कही गयीं हैं- यह अर्थ है। इन्हें गुरु कहने का अभिप्राय यह है कि, कौण्डिन्यऋषि के मन में अनन्तभगवान के गुणों का वर्णन सुनकर भगवान के निकट जाने एवं उनका सानुभाव प्राप्त करने जैसे मनोरथ उत्पन्न हुए थे और उनकी समस्त इन्द्रियों की वृत्ति अनन्तभगवान के प्रति भावों के कारण संतप्त हो गयीं थीं, अतः विवश होकर समस्त वस्तुओं का परित्याग करके वे घनघोर जंगलों में भगवान को ढूँढने निकल पड़े थे; अतः सर्वपरित्यागपूर्वक भगवान के प्रति ऐसी आर्ति से लक्षित होने वाला भगवद्विरहानुभव करने का हेतुरूप जो भाव होता है, वे ऐसे भाव के प्रकाशक हैं। और जहाँ तक गोपिकाओं को गुरु कहने की बात है, तो गोपिकाओं की भगवान के प्रति ऐसी आर्ति तो अपने प्राणप्रेष्ठ भगवान के प्रति विशेषरूप से स्फुरित होने वाले सर्वात्मभाव के द्वारा रासोत्सव आदि के प्रसंग में स्पष्टतया प्रकट हुई है, अतः स्वयं लीला करने के प्रयोजन से प्रभु ने लोकवेदातीत शुद्धपुष्टिमार्गीयप्रकार स्वयं अपने लिए भोग्य व्रजभक्तगोपिकाओं में स्थापित किया है और सर्वप्रथम वह लोकवेदातीतप्रकार प्रकट भी उन्हीं से हुआ है अतः उन गोपिकाओं में शुद्धपुष्टिमार्ग का गुरुत्व होना तो बिलकुल उचित ही है।

महर्षौ तु तद्दर्शनार्तिप्रकर्षतौल्यात्तदुक्तिः, प्रमाणमार्गीयस्यात्र मुख्यं गुरुत्वमयुक्तमिवेति । तेन गुरुत्वमत्रैतत्परित्यागफलसाधनीभूतभावप्रकाशकत्वं विवक्षितम्, न तूपदेष्टृत्वम्, तस्य प्रकृतेऽभावात् । एतत्संन्यासस्य ज्ञानमार्गीयतद्विलक्षणत्वेनैतादृशस्यैव तस्य वक्तुमौचित्यात् । उपदेष्टृत्वस्यापि तदर्थज्ञापनमात्रौपयिकतया फलतो

विशेषाभावाच्च । अत एव 'एवं सत्यस्मिन्मार्गे स्वामिन्य एव गुरव इति ज्ञापितं भवती'ति निरोधविवृतिप्रकाशे श्रीमदस्मत्प्रभुचरणचारूक्तिश्चकास्ति । 'स्वामिन्य एवे'त्येवकारान्मुख्यं गुरुत्वमेतासामवसेयमित्यन्यदेतत् ।

कौण्डिन्यमहर्षि में तो मात्र गोपिकाओं के समान भगवान के दर्शन की उत्कट आर्ति होने के कारण आचार्यचरणों ने उन्हें गुरु कह दिया है, अन्यथा महर्षि तो प्रमाणमार्गीय थे, उन्हें लोकवेदातीत शुद्धपुष्टिमार्ग का गुरु कहना तो कुछ अयुक्त जैसा लगता है। इसलिए यहाँ इन दोनों को गुरु कहने का वास्तविक तात्पर्य इनके चरित्र द्वारा भक्तिमार्गीयपरित्यागफल का साधनरूप भाव प्रकाशित होता होने से है, न कि गुरु की भाँति उपदेश देने के कारण, क्योंकि इन्होंने कभी कोई पुष्टिमार्गीय उपदेश तो दिया ही नहीं है। चूँकि भक्तिमार्गीयसंन्यास तो ज्ञानमार्गीयसंन्यास की तुलना में हट कर होता है अतः गुरु एवं गुरु-उपदेश इत्यादि बातें तो ज्ञानमार्गीयसंन्यास लेने वाले के लिए ही कहनी ठीक रहेंगी। और फिर उपदेशकर्ता का कार्य भी तो केवल मार्ग का ज्ञापन कराने में उपयोगी होने तक ही सीमित रहता है, फलप्राप्ति में वह विशेष कुछ नहीं करता क्योंकि फलप्राप्ति तो शिष्य के अपने किए साधनों पर आधारित होती है इसलिए वास्तव में गुरु का कार्य तो दिशानिर्देश करने में ही है जो कि कौण्डिन्य एवं गोपिकाओं के चरित्र द्वारा अपने आप ही प्राप्त हो जाता है- यह अर्थ है । इसी कारण इस मार्ग के गुरु बताने के संदर्भ में दशमस्कन्धीय निरोधविवृतिप्रकाश में हमारे श्रीप्रभुचरणों का "इस मार्ग में तो स्वामिनीयाँ ही गुरु हैं-यह जानने को मिलता है" यह सुंदर कथन उपलब्ध होता है। हाँ, ये बात और है कि, वहाँ उन्होंने ने "**स्वामिनियाँ ही** गुरु हैं" (सुबो/टिप्पणी 10/26/1) यों कहकर इस मार्ग का मुख्यगुरुत्व केवल गोपिकाओं तक ही सीमित कर दिया है, कौण्डिन्यऋषि का नाम नहीं लिया।

किञ्च, न केवलमेता एतादृशभावमात्रस्य निजमार्गीयस्य प्रकाशिकाः, किन्तु यथा स्वभजनपराणामेतद्भावफलं सिध्यति, तथानुकम्पासम्पादिका इति विरहानुभवात्मकफलौपयिकधर्मवत्त्वलक्षणं साधनत्वं गुरुत्वेपि न विरुद्धं, कर्तुरिव निमित्तकारणत्वमित्याशयेनाहुः साधनं च तदिति । तत्प्रसिद्धं मुख्यं साधनं गोपिका एवेत्यर्थः । चोप्यर्थे । तेन श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहभरविजृम्भिततत्प्रकटितैतन्मार्गीयप्रकारपरिकलनावतामेतद्भावसजातीयभाववत्तयैतद्भजनपूर्वकं प्रभुभजने यथोक्तमुख्यफलं भवतितरां निर्विचिकित्समिति भावः । अत एव भगवद्भजनापेक्षयाप्येतासां भजनमुत्तममिति सूक्तिः श्रीमदाचार्यचरणानाम् ।

और, गोपिकाएँ न केवल निजमार्ग के इस प्रकार के भावों को प्रकाशित करने वाली हैं, परन्तु, उनका भजन करने वालों को जिस प्रकार से शुद्धपुष्टिमार्ग का फल प्राप्त हो सके, तदर्थ खुद साधन करके अपने निजजनों को बताने के द्वारा उन पर अपनी अनुकम्पा करने वाली भी हैं; और इसी कारण यद्यपि उन्होंने खुद भगवद्विरहानुभवात्मक फल को प्राप्त करने में उपयोगी होने वाले साधन किए हैं, तथापि, यानि गुरु तो साधनों का उपदेश करने वाला होता है, खुद साधनावस्था में नहीं होता और यदि गोपिकाओं ने खुद भी साधन किए हैं तब भी यह बात उनके गुरु होने से विरुद्ध नहीं जाती, क्योंकि गोपिकाओं का स्वयं साधन करके अपने निजजनों को शुद्धपुष्टिमार्ग का फल बताना भी गुरु द्वारा कृपा करने जैसा कार्य ही है। जिस प्रकार कर्ता को निमित्तकारण कहा जाता है, उस प्रकार। इस आशय से आपश्री गोपिकाओं के लिए **साधनं च तत्** यानि साधन भी वही हैं, यों कहा है। इससे आपश्री का कथन यह कि, इस मार्ग का मुख्यफल प्राप्त करने में प्रसिद्ध मुख्यसाधन गोपिकाएँ ही हैं; यहाँ **'च'** को **'अपि'** के अर्थ में समझना चाहिए, यानि गोपिकाएँ गुरु हैं एवं साधन **भी**। इससे यह समझना चाहिए कि, श्रीमदाचार्यचरणों के अनुग्रह के द्वारा विकसित एवं प्रकटित इस भक्तिमार्गीयप्रकार का आकलन करने वालों को इन गोपिकाओं के भावों के समान भाव रखते हुए गोपिकाओं का भजन करते हुए प्रभुभजन करने पर ऊपर जो मुख्यफल बताया, उस मुख्यफल की प्राप्ति होने में किसी भी प्रकार की कोई शंका नहीं है- यह भाव है। अतएव भगवद्भजन करने की तुलना में भी इन गोपिकाओं का भजन करना उत्तम है, इसलिए यह श्रीमदाचार्यचरणों का बड़ा ही सुंदर कथन है कि आपश्री ने गोपिकाओं को गुरु कहा है।

नन्वेवमेतासु गुरुत्वे व्यवस्थापितेपि किमेतत्प्रकाशितं स्वमार्गीयं साधनमित्यत आहुः भाव इति । सर्वात्मभावयुक्तानां भक्तानां विप्रयुक्तत्वदशावशादुन्मिषतो मनोवागविषयस्य भावस्य भगवत्स्वरूपात्मकत्वेन रसात्मकत्वात्तस्य भावनया स्वाचार्यानुग्रहभरसमुत्थतथाविधभगवदङ्गीकारादेवोदयमानया सिद्धः पर्यवसितो यस्तत्सजातीयोऽनुभवैकगम्यो भावः स एव तन्मार्गीयतया पूर्वोक्ते परित्यागफले साधनमिष्यते, अन्यत् ज्ञानमार्गीयत्यागे प्रसिद्धं किमपि साधनत्वेन नेष्यते, नाङ्गीक्रियत

इत्यर्थः ।

चलो, ये बात ठीक है कि आचार्यचरणों ने इन गोपिकाओं को गुरु तो कह दिया, तथापि इन्होंने किस स्वमार्गीय साधन को प्रकाशित किया ? यह आकांक्षा होने पर आपश्री इनके द्वारा किए गए साधन को **भावः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। 'भाव' से आपश्री का तात्पर्य यह है कि, सर्वात्मभाव वाले भक्तों का भगवान से विप्रयोगदशा में प्रकट होने वाला, न मन जान सके और न वाणी उसे कह सके ऐसा भाव भगवत्स्वरूपात्मक होता है और इसी कारण रसरूप भी होता है; ऐसे भाव की मन में निरन्तर भावना करते रहने के द्वारा, यानि अपने आचार्यचरणों के पूर्ण-अनुग्रह के कारण उत्पन्न होने वाले भगवदंगीकार के कारण ही उदयमान हुई भावना के द्वारा सिद्ध होने वाला, केवल खुद के अनुभव से ही जाना जा सकने वाला, गोपिकाओं के सजातीय जो भाव है, वही भक्तिमार्गीयरूप से पूर्व में कहे परित्याग से प्राप्त होने वाले फल को प्राप्त करने का साधन है, इसके अतिरिक्त अन्य ज्ञानमार्गीयत्याग में प्रसिद्ध कोई भी साधन आपश्री को भक्तिमार्गीयसाधन के रूप में स्वीकार्य नहीं है- यह अर्थ है।

यद्वा । असिद्धस्य भावस्य साधनत्वायोगेन प्रियतमस्य गुप्ततया स्थितस्य विप्रयोगरीत्या तत्तद्भावपोषकस्य तादृग्भक्तनिजविषयकोत्कटार्तिनिरीक्षणेन प्रतिक्षणविलक्षणरसभावानुभवविचक्षणस्य प्रभोः शुद्धपुष्टिभक्तकर्तृकया परमार्तिपूर्वकप्रियान्वेषणतर्वादिप्रश्नगुणगानतत्तदवस्थासम्बन्धिभावविषयिण्या भावनया तेष्वेव सिद्धः फलितो यः कोप्यनिर्वचनीयोनुभवैकविषयवैभवः स्वविषयातिरिक्तस्मरणहरणस्वभावः स एवोक्तभक्तानामनुग्रहेणैव कदाचिदन्यत्रापि क्वचिदुदितः परित्यागफले साधनमिष्यत इत्यर्थः । एतेनोक्तभक्तानां गुरुत्वं सम्यगुपपादितं भवतीति भावः ।

अथवा, 'भाव' का अर्थ इस प्रकार से करें- चूँकि असिद्धभाव(जो भाव अभी सिद्ध न हुआ हो, परिपक्व न बना हो वो) साधन नहीं बन सकता अतः गुप्तरूप से विराजते हुए विप्रयोगरीति से उन-उन भावों का पोषण करने वाले प्रियतम-भगवान अपने ऐसे भक्त में जब खुद के लिए उत्पन्न होने वाली उत्कट आर्ति को देखते हैं, तो प्रतिक्षण एक विलक्षणरस के भाव का अनुभव करने में कुशल प्रभु की शुद्धपुष्टिभक्त द्वारा की जाने वाली भावना के द्वारा, भावना का अर्थ है- परम आर्ति के कारण अपने प्रिय को ढूँढना और वृक्ष आदि से प्रश्न करना और प्रभु का गुणगान करना इत्यादि उन-उन अवस्थाओं से सम्बन्धित भावों के विषयक भावना करने के द्वारा उन्हीं गोपिकाओं में सिद्ध हुआ, फलित हुआ, जो शब्दों में कहा न जा सके और केवल अपने अनुभव से ही जाना जा सके और अपने प्रभु से अतिरिक्त अन्य सभी का विस्मरण करा देने वाला जो एक प्रकार का स्वभाव है, वही स्वभाव इन व्रजभक्तों के ही अनुग्रह से कदाचित् किसी अन्य जीव में भी उदित हो जाए, ऐसा 'भाव' परित्याग से प्राप्त होने वाले फल को प्राप्त करने में साधन के रूप में आचार्यचरणों को वांछित है- यह अर्थ है। इस विश्लेषण से सिद्ध होता है कि, यदि आपश्री ने उपरोक्त व्रजभक्तगोपिकाओं को गुरु कहा है, तो यह उचित ही है।

नन्वहर्निशं विरहभावनामभ्यस्यतस्तत्परिपाकदशायां नियमतो वैकल्यावस्थ्यादिकं यद्भवति तत् कथं फलरूपरसभावेऽन्तर्भावार्हम्, लौकिकतत्तुल्यरूपत्वदर्शनेन प्राकृतत्वस्य दुर्वारत्वादिति चेत्तत्राहुः विकलत्वमिति । विकलत्वमनुसन्धेयस्याननुसन्धेयस्य चाननुसन्धानानुसन्धानान्यथानुसन्धानादिजनको व्यभिचारिभावः । तथा तत्सदृशं व्यभिचारिभावरूपं प्रथमानुभूतप्रियविषयकतत्तदर्थोत्कटाभिलाषजनितमस्वास्थ्यं, येन तदतिरिक्ते वस्तुनि रुचिव्याघातः । ईदृशभावानामन्येषामुपलक्षणमेतद्द्वयं फलीभूतस्य विरहभावस्य प्रकृतिः प्रकारः स्वभावो वा, हि यतः प्राकृतं लौकिकं दुःखादिजन्यं न भवति, अतः फलरूपरसभावान्तर्भावो नैतस्यानुपपन्न इत्यर्थः । नहि यज्जातीयं कार्यं दुःखादितो जायते, न तज्जातीयं सुखादित इत्यस्ति नियमः । शोकादिव हर्षादप्यश्रूद्गमादेर्दर्शनात् । अत एवैवमुक्तं श्रीमदाचार्यचरणैर्दशमस्कन्धविवरणे, 'नहि दोषेणैव कार्यं भवति, गुणेन न भवतीति वक्तुं शक्यम्, दुःखादप्यश्रूणि आनन्दादप्यश्रूणी'ति ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, अहर्निश विरहभावना में रचे-पचे रहने वाले को विरहभावना की परिपक्वदशा आने पर नियमितरूप से विकलता और अस्वस्थता की स्थिति बनी रहती है, ऐसी स्थिति को फलरूपभगवान के रसभाव के अन्तर्गत कैसे माना जा सकता है, यानि विकलता और अस्वस्थता की अवस्थाएँ रसरूप कैसे मानी जा सकती हैं ? क्योंकि ये अवस्थाएँ तो लौकिकतुल्य दिखाई पड़ती हैं अतः इन्हें प्राकृत(लौकिकता) न कह पाना बड़ा कठिन है, यानि इस अवस्था को तो लौकिकावस्था ही कहा जायेगा- यदि ऐसी शंका होती हो !! तो आचार्यचरण इसका

समाधान **विकलत्वं** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। 'विकलता' का अर्थ है- जिसका अनुसन्धान रखना/करना है या जिसका अनुसन्धान नहीं रखना/करना है, उसका क्रमशः अनुसन्धान न करना और अनुसन्धान करना; अथवा तो अन्यथा अनुसन्धान को उत्पन्न करने वाले व्यभिचारिभाव(परिवर्तित होते रहने वाले भाव)को 'विकलता' कहते हैं। और इसी व्यभिचारिभाव के समान लक्षण 'अस्वास्थ्य' का भी है; अस्वास्थ्य का अर्थ है- अपने प्रियतम से सम्बन्धित जिन वस्तुओं का पहली बार अनुभव हो रहा होता है, उन वस्तुओं में उत्कट अभिलाषा उत्पन्न होती है, और वे अभिलाषाएँ पूर्ण न होने के कारण जो होता है, उसे 'अस्वस्थता' कहते हैं, जिसके होने पर अपने प्रिय के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुओं में रुचि समाप्त हो जाती है। इस प्रकार के भावों का और ऐसे अन्य सभी भावों के उपलक्षण के रूप में 'विकलता' एवं 'अस्वस्थता' यह दो अवस्थाएँ फलावस्था तक पहुँच चुके विरहभाव की प्रकृति या स्वभाव ही है क्योंकि ऐसे प्रकार की अवस्थाएँ प्राकृत/लौकिक दुःख के कारण उत्पन्न नहीं हो सकतीं अपितु अलौकिकविरह के कारण ही उत्पन्न होतीं हैं अतः इन अवस्थाओं को फलरूप रसभाव के अन्तर्गत कहना अनुचित नहीं है- यह अर्थ है। और ऐसा कोई नियम भी नहीं है कि, जिस प्रकार का कार्य दुःख इत्यादि के कारण उत्पन्न होता है, वैसा कार्य सुख इत्यादि के कारण उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि जिस प्रकार शोक में अश्रु निकलते हैं, उसी प्रकार हर्ष में भी तो अश्रु निकलते देखे जाते हैं। इसी कारण श्रीमदाचार्यचरणों ने दशमस्कन्ध के विवरण में *"ऐसा नहीं कहा जा सकता कि दोष के द्वारा जो कार्य होता है, वह गुण के द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि दुःख आ पड़ने पर भी अश्रु निकलते हैं और आनन्द में भी अश्रु निकलते हैं"* यों कहा है।

एवं संन्यासफलसाधनाद्यभिधाय, तत्सम्पत्तिमतो बाधकान्याहुः ज्ञानमिति । एवं विकलत्वास्वास्थ्यादिना वर्तमानस्य सतस्तस्य भक्तिमार्गीयपरित्यागवतः । किञ्चैवं परित्यागप्रकारेण वर्तमानस्य भक्तिमार्गीयस्य तस्य विकलत्वास्वास्थ्यादिभावस्य ज्ञानमात्माभेदानुभवरूपं बहिःसंवेदनाद्यभावद्वारा तादृक्तीव्रतापोपशामकतया स्वास्थ्यप्रयोजकं, गुणा भगवतो धर्माः, पूर्वं बहुधानुभूता बहव एवानुभवैकवेद्या ये सजातीयभावैर्भक्तैः सम्भूय भूयः क्रमेण मिथो गीयमानाः स्वास्थ्यमुपजनयन्ति, बाधका विरोधिन इत्यर्थः ।

इस प्रकार से शुद्धपुष्टिमार्गीयसंन्यास का फल और उसके साधन के विषय में बताकर अब आगे आचार्यचरण शुद्धपुष्टिमार्गीयसंन्यास लेने वाले के सामने कौन कौन से बाधक आते हैं, यह **ज्ञानं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **एवं वर्तमानस्य** का अर्थ है- उपर्युक्त प्रकार से 'विकलत्व' और 'अस्वास्थ्य' इत्यादि जिसको अनुभूत हो रहे हैं, ऐसे भक्तिमार्गीयपरित्याग करने वाले को 'ज्ञान' और 'गुण' बाधक होते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि, उपरोक्त प्रकार से परित्याग करने वाले भक्तिमार्गीय, जिसको विकलता एवं अस्वस्थता अनुभूत हो रही है, ऐसे भक्तिमार्गीय के मार्ग में 'ज्ञान' एवं 'गुण' बाधक होते हैं; **ज्ञानं** का अर्थ है- अपनी आत्मा एवं भगवान में अभेद समझना, यानि जब वह आत्मा में और परमात्मा में अभेद मानने लगता है, तो उसे बाहरी संवेदना/अनुसन्धान नहीं रहता और उसे सर्वत्र ब्रह्म की अनुभूति होने लगती है, जिसके कारण ऐसा ज्ञान उसके तीव्र ताप का शमन कर देता है और उसे पुनः स्वस्थ बनाने वाला बन जाता है क्योंकि विकलता और अस्वस्थता तो तभी बनी रहेगी जब उसे निरन्तर भगवान से विप्रयोग की अनुभूति होती रहे। परन्तु जब जीव ने अपनी आत्मा और भगवान में अभेद मान लिया और सर्वत्र ब्रह्म की अनुभूति हो रही है, तो फिर उसे विप्रयोग होने का अवकाश ही नहीं है और वह शांत एवं स्वस्थ हो जायेगा, इसलिए वह शुद्धपुष्टिमार्ग के मुख्यफल से वंचित भी रह जायेगा, जो कि पूर्णविप्रयोग सिद्ध होने पर ही प्राप्त होता है। इस अर्थ में 'ज्ञान' को बाधक बताया गया है; **गुणाः** का अर्थ है- भगवान के धर्म; वे भगवद्धर्म जो उसे पूर्व की संयोगावस्था में अनेक बार अनुभूत हो चुके हैं एवं अनेक बार अनुभव कर लेने के कारण ही समझ में आए हैं और जिन भगवद्गुणों को वह अपने अपने सजातीयभाव वाले भक्तों के संग मिलकर अनेक बार परस्पर गा भी चुका है, वे भगवान के गुण यदि उसे स्वस्थता प्रदान कर देते हैं, तो वे भगवद्गुण उसके विप्रयोगभाव में बाधक यानि कि विप्रयोगभाव के विरोधी होते हैं- यह अर्थ है।

ननु ज्ञानमार्गे संन्याससहकृतात् ज्ञानाद्यादृशं फलम्, भक्तिमार्गेपि त्यागात्तादृशमेव भविष्यतीति न फलत कोपि विशेष इति चेत्तत्राहुः सत्यलोक इति । फलभेदः सामग्रीभेदप्रयोज्य इति ज्ञानमार्गीयेण संन्यासेन विशेषितात् ज्ञानात् तत्त्वज्ञानात् सत्यलोके स्थितिर्ब्रह्मलोकप्राप्तिरिति यावत्, सा ज्ञानमार्गीयस्य संन्यासिनो भवति, भक्तिमार्गीयस्य तस्य विरहभावानुभावकभावसिद्धिहेतुभूतया

भावनया सहकृतत्वाद्यत्र भक्तिमार्गीयत्यागे, भावना साधनं प्रयोजिका, तत्र फलमपि तथा, तेनैव प्रकारेण विरहानुभवात्मकं भवेत् । नतु सत्यलोकादिसदृशं, कारणानुरूपस्यैव कार्यस्य न्याय्यत्वात् । सत्यलोकाद्येतत्त्यागफलयोस्तारतम्यं तु सुमेरुसर्षपयोरिव सुप्रसिद्धमेवेति क इतोधिको विशेषोभिधेय इति भावः ।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, संन्यास लेने के पश्चात् हुई ज्ञानप्राप्ति से ज्ञानमार्ग में जिस प्रकार का फल प्राप्त होता है, यदि भक्तिमार्ग में भी त्याग करने से वही फल प्राप्त होता है, तो फलदृष्टि से तो दोनों ही प्रकार के त्याग में कोई विशेषता(अंतर)सिद्ध नहीं हुई!! तो आचार्यचरण इसका समाधान **सत्यलोक** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। चूँकि सामग्री भिन्न होने के कारण फल में भी भेद आ जाता है, अतः ज्ञानमार्गीयसंन्यास के साथ हुई ज्ञानप्राप्ति/तत्त्वज्ञानप्राप्ति होने के द्वारा सत्यलोक/ब्रह्मलोक में स्थिति प्राप्त होती है, जो कि ज्ञानमार्गीयसंन्यासियों को प्राप्त होती है; जबकि भक्तिमार्गीय को भगवद्विरह का अनुभव कराने वाला जो भाव है, उस भाव को सिद्ध कराने वाली जो भावना है, वही भावना भक्तिमार्ग में साधन या प्रयोजिका होती है और इसमें फल भी उसी भावना के अनुरूप ही प्राप्त होता है, यानि फल भी उसी प्रकार का विरहात्मक होता है; सत्यलोक जैसा फल नहीं प्राप्त होता, क्योंकि जैसा कारण होता है, कार्य भी वैसा ही होता है- यह नियम है। ज्ञानमार्गीयसंन्यास में प्राप्त होने वाले सत्यलोक आदि का फल और इस भक्तिमार्गीयत्याग से प्राप्त होने वाले फल में अंतर तो सरसों के दाने और सुमेरुपर्वत जितना है और सुप्रसिद्ध ही है अतः अब इससे और अधिक क्या विशेष कहें- यह आचार्यचरणों का भाव है।

किञ्च, ज्ञानमार्गीयस्य त्यागिनः फलं यन्मुख्यतयाम्नातमपवर्गाख्यम्, तदपि न त्वरितमेव भवति, किन्त्वतिविलम्बेनैवेत्यभिसन्धायाहुः तादृशा इति । तादृशाः संन्यासविशिष्टज्ञानवन्तः सत्यलोकादौ ब्रह्मलोकादाववान्तरफलतयोपनते तिष्ठन्त्येव, न तु झटिति मुच्यन्त इत्यर्थः । 'ते ब्रह्मलोके त्वि'ति श्रुत्या तन्मुक्तिविलम्बावधारणात्तल्लोकस्थितिरसन्दिग्धेति न संशय इत्युक्तम् । तेन भक्तिमार्गीयत्यागफलचिन्तायामविचारितरुचिरस्याप्यस्यातिचिरेणैव चेत्प्राप्तिः, तदा तदाशामप्यवलम्ब्य स्थितिः श्रेयसी, न पुनरेतदुचिलवोप्युचित इति भावः ।

और यह भी है कि, ज्ञानमार्गीयत्यागियों को वेद में कहा गया स्वर्गरूपी जो मुख्यफल प्राप्त होता है, वह भी शीघ्र प्राप्त नहीं हो जाता किन्तु अतिविलम्ब से ही प्राप्त होता है- यह आपश्री **तादृशाः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **तादृशाः** का अर्थ है- संन्यास लिए हुए ज्ञानवान त्यागी। आपश्री इससे यह आज्ञा कर रहे हैं कि, ऐसे ज्ञानवान त्यागी सत्यलोक/ब्रह्मलोक इत्यादि स्थलों पर ही रुक जाते हैं, जो उनके लिए अवान्तरफल ही है, इसका अर्थ यह हुआ कि वे ज्ञानप्राप्ति के बाद झट से मुक्त नहीं हो जाते। "ते ब्रह्मलोके तु(महा0उप/दहरविद्या/12)" इस श्रुति के अनुसार उनकी मुक्ति विलम्ब से होनी आँकी गयी है, अतः सत्यलोक/ब्रह्मलोक में उनका रुके रहना निःसन्दिग्ध है, इस कारण आपश्री ने इनके लिए "**सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः**" यों कहा है। इसका फलितार्थ यह कि, जब एक भक्तिमार्गीय आपश्री के इस कथन का गंभीरता से विचार करता है, तब उसे ज्ञात होता है कि यदि ज्ञानमार्ग में इतने अधिक विलंब के पश्चात् मुक्ति प्राप्त होनी है, तब वह यह निर्णय लेता है कि फिर तो अपने भक्तिमार्गीयफल की आशा पर ही निर्भर रहना ही श्रेयस्कर है, भले ही थोड़ा विलंब भी क्यों न हो जाता हो अतः अब तो ज्ञानमार्ग में लेशमात्र भी रुचि रखनी उचित नहीं है- यह भाव है।

नन्वेवं भक्तिमार्गीयत्यागेपि कुतः शीघ्रं फलसम्भवो यतस्तत्प्रतिबन्धकस्तत्तदहन्तामममतादिरूपो बन्धस्तदवस्थस्तन्नाशश्च ज्ञानादिकं विना कथमित्याशंक्य तत्प्रकारमाहुः बहिश्चेदिति । सर्वपरित्यागानन्तरं विरहभावभावनाभ्यासभूयस्त्वादन्तस्तद्भावरूपेण स्थितोऽत एव स्वात्मानेरुपधिप्रियत्वाज्जीवनहेतुत्वाच्च तत्त्वेन स्फुरितः स कदाचिदत्युत्कटतापवैक्लव्यादिभावस्वभावाद्यादृशोन्तरनुभूयते तादृशो बहिः प्रकटो दृगादिगोचरश्चेद्भवति, तथाभूतश्च यदि पुनरन्तःप्रविशेत् तत्र दृष्टान्तो वह्निवदिति ।

किन्तु तब एक प्रश्न यह होता है कि, भक्तिमार्गीयपरित्याग से भी कहाँ शीघ्र फल प्राप्त होता है!! क्योंकि भक्तिमार्ग में भी तो अहन्तामममता इत्यादि प्रतिबन्धकों का बन्धन होता ही है, अतः अहंताममतात्मक बन्धन का नाश भी तो ज्ञान के बिना होना कैसे संभव हो सकता है, तो फिर आपश्री ज्ञानमार्ग का निषेध क्यों कर रहे हैं!! ऐसी आशंका होने पर आचार्यचरण भक्तिमार्गीयफल सिद्ध होने का प्रकार **बहिश्चेत्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, भक्तिमार्ग में सर्वपरित्याग करने के पश्चात् जीव को वारंवार विरहभाव की भावना होती रहती है और

जिसके अभ्यास के कारण उसी विरहभावरूप से भगवान उसके अन्तःकरण में बिराज जाते हैं और इसी कारण भगवान स्वात्मा(उसकी आत्मारूप)बन जाते हैं, जिसके कारण उसे भगवान से निस्वार्थप्रेम हो जाता है एवं भगवान उसके जीवन जीने का हेतु भी बन जाते हैं; ऐसे आत्मरूप भगवान अति उत्कटताप, विकलता आदि भावों के स्वभाव के कारण जिस प्रकार से अन्तःकरण में अनुभूत होते हैं, वैसे ही प्रकार से बाहर भी प्रकट होते हैं, यानि कि दृष्टिगोचर होते हैं और दृष्टिगोचर होने के पश्चात् जिस प्रकार से पुनः उसके अन्तःकरण में प्रविष्ट होते हैं, उस संपूर्णप्रक्रिया को समझाने के लिए आपश्री ने **वह्निवत्** इत्यादि शब्दों से अग्नि का दृष्टान्त दिया है।

यथा काष्ठनिष्ठो वह्निः कदाचिन्मथनादितो बहिः प्रकटीभूय पुनस्तन्मध्ये प्रविष्टः काष्ठतामपाकृत्य वह्निरूपतां सम्पादयति, तथा भगवानप्यात्मत्वेनान्तःस्थितो विरहभावोद्रेकाद्बहिरागतः पुनः सम्बद्धः सर्वथा प्रतिबन्धकमपनीय निजभावरूपतां सम्पादयतीत्यर्थः । वह्निदृष्टान्तेन स यथा तापहेतुरूपेणैवं सम्बद्धः स्वरूपात्मकत्वं कुरुते, तथा भगवानपि विप्रयोगभावप्रकारेणैव सम्बद्धस्तद्भावरूपतामित्यपि सूचितम् । तदैव पुनः प्रवेशक्षण एव सकलः सर्वोपि तत्तदहन्तामम्तारूपो बन्धो नाशमेति प्राप्नोति, न चान्यथा, प्रकारान्तरेणात्र प्रतिबन्धकस्य नाशो न भवतीत्यर्थः ।

आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, जिस प्रकार काष्ठ के भीतर रहने वाली अग्नि जब घर्षण करने से बाहर प्रकट होती है, और जब पुनः काष्ठ में प्रविष्ट होती है, तब उसकी काष्ठता को हटाकर उसे अग्नि जैसा ही बना देती है; ठीक उसी प्रकार भगवान भी जीव/भक्त के अन्तःकरण में आत्मारूप से बिराजे होते हैं और विरहभाव के उद्रेग से एक बार बाहर प्रकट होकर जब पुनः उसके अन्तःकरण में प्रविष्ट होते हैं, तब सभी प्रकार से उसके प्रतिबन्धों को दूर करके उसे भी अपने जैसा भावरूप बना देते हैं-यह अर्थ है। वह्नि के दृष्टान्त से यह समझना चाहिए कि, जिस प्रकार अग्नि तापरूप से ही काष्ठ से जुड़ने पर उसे अपने जैसा बना पाती है, काष्ठ के भीतर रहकर सुषुप्तावस्था में नहीं; ठीक उसी प्रकार भगवान भी विप्रयोगभाव के ताप के माध्यम से सम्बन्धित होने पर ही उसे अपने जैसा बनाते हैं, विप्रयोगताप के बिना नहीं- यह बात आचार्यचरणों ने सूचित की है। **तदैव** यानि प्रविष्ट होने के क्षण ही **सकलः** यानि अहन्तामममतारूप सभी बन्ध नष्ट हो जाते हैं, **न चान्यथा** यानि इस प्रक्रिया के बिना अन्य किसी भी प्रकार से उसके प्रतिबन्धकों का नाश नहीं हो सकता- यह अर्थ है।

नन्वेवं कात्स्न्येऽहन्तामम्तात्मकस्य बन्धस्य विलये प्रलयानलादप्यतिप्रबले विप्रयोगे च प्राचुर्यमश्नति, जीवनमेवाशक्यं स्यात् तत्तद्रसभावानुभवस्तु दूरदूरतर इत्यत आहुः गुणास्त्विति । तुशब्दः प्रकारान्तरव्यावृत्त्यर्थः । गुणाः स्वरूपात्मका भगवद्धर्मात्मकाः ते पूर्वं तथा तथानुभूता वियोगदशायां सङ्गराहित्यात् बहिःप्रियदर्शनाद्यभावात् अतिविरहतापविह्वलतया कमपि प्रकारं प्राप्नुवतां भक्तानामग्रिमैवंविधरसानुभवाय भगवता सर्वभावेन रक्षणीयानां जीवनार्थं भवन्ति ।

किन्तु एक शंका यह है कि, जब इस प्रकार संपूर्णरूप से अहन्तामम्तात्मक बन्धनों का नाश हो जायेगा और तब प्रलयाग्नि से भी अतिप्रबल विप्रयोग भी अपनी प्रचुरता को प्राप्त होगा, तब ऐसी अवस्था में तो जीवन जीना ही अशक्य बन जायेगा, भगवद्रस का अनुभव करने की बात तो दूर-दूरतर ही रह जायेगी !! यदि ऐसी शंका होती हो तो आचार्यचरण **गुणास्तु** इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कह रहे हैं, कि भगवद्गुणगान ऐसी पूर्णदशा पर आयी विप्रयोगावस्था में जीवन टिकाने में उपयोगी सिद्ध होते हैं। **तु** शब्द बताता है कि, भगवद्गुणगान के अतिरिक्त अन्य कोई भी उस विरही के जीवन को टिका कर नहीं रख सकता। भगवद्गुण स्वरूपात्मक होते हैं, भगवद्धर्मात्मक होते हैं, और जो विप्रयोगदशा आने के पहले भी उन-उन प्रकारों से उसे अनुभूत हो चुके हैं, किन्तु अब वही भगवद्गुण विप्रयोगदशा में **संगराहित्यात्** यानि अपने प्रियतम-भगवान के बाहर प्रकट होकर दर्शन आदि न मिलने के कारण अतिविरहताप की विह्वलता के कारण किसी एक भावविशेष की परिस्थिति को प्राप्त होकर, चूँकि भगवान को अपने ऐसे भक्तों को इसके आगे भी ऐसे रस का अनुभव कराने के लिए उनकी सर्वभाव से रक्षा करनी होती है, अतः अब वे ही भगवद्गुण उस भक्त का जीवन टिका कर रखने के लिए उपयोगी बन जाते हैं-यह अर्थ है, यानि भक्ति की साधनावस्था में भगवद्गुणगान भगवद्भाव का पोषण करने में उपयोगी थे, परन्तु अब भगवान के असहनीय तीव्रविप्रयोग की दशा में वही भगवद्गुण जीवन टिका कर रखने में उपयोगी बनते हैं।

न तु स्वास्थ्यमप्युत्पादयन्ति येन तद्भावान्तरायः स्यात् । हि युक्तोयमर्थः । रसात्मकस्य धर्मिणो विरहेण सन्दिग्धस्थितीनां जीवनं

स्वरूपात्मकतया तदीयगुणानामेव शक्यं यतः । यद्यपि धर्मिणो विरहस्य सर्वाधिकबलतया सर्वतिरोधायकत्वाज्जी जाघटीति, तथापि तस्य प्रियगुणगानप्रादुर्भावावकाशप्रदत्वात्तेषां च पर्यायेण मुह पेपीयमानपीयूषवज्जीवनजननस्वभावस्य जागरूकत्वान्न काप्यनुपपत्तिः ।

भगवद्गुण ऐसे भक्तों का केवल जीवन ही टिका कर रखते हैं, उसे स्वस्थता नहीं देते जिससे कि उल शांत हो जाय और उनके भाव में बाधा पड़ जाय। **हि** इस अर्थ की युक्तता बताने के लिए प्रयुक्त हु रसात्मक-धर्मिस्वरूप प्रभु के विरह में भक्त का जीवन जीना संदिग्ध बन जाता है अतः चूँकि भगव स्वरूपात्मक ही होते हैं अतः भगवान का गुणगान ही उनके जीवन को शक्य बना सकता है, अन्य कं यद्यपि धर्मिस्वरूप भगवान का विरह सर्वाधिक बलशाली होता है अतः भगवद्विरह सभी कुछ तिरोधान इसलिए इस परिस्थिति में तो उसका जीवन जीना किसी भी प्रकार से संभव नहीं होता, तथापि भगव थोड़ी राहत दे देते हैं और प्रियभगवान के गुणगान का अवकाश दे देते हैं, और जब वह नियमितरू भगवद्गुणों का गान करता है, तो जिस प्रकार पान किए जा रहे अमृत में पुनः जीवन उत्पन्न कर होता है, उसी प्रकार भगवद्गुणगान भी भक्त के जीवन को बचा देते हैं, इसलिए इस बात अनुपपत्ति (अप्रामाणिकता) नहीं है।

न चैवं गुणैर्जीवनसम्पत्त्यनन्तरं विरहभावस्य तिरोभावः प्रसज्येतेति वाच्यम् । तेषां जीवनाधिककार्यानुपध तादवस्थ्यात् । विरहानुभवार्थं तज्जीवनमात्रस्य भगवच्चिकीर्षितत्वाच्च ।

किन्तु इससे ऐसा नहीं मान लेना चाहिए कि, गुणगान जब जीवन टिका देंगे तो उसके बाद विरहभाव ही नष्ट ऐसा नहीं होगा, क्योंकि, गुणगान तो उसे उसी अवस्था में रखते हुए केवल जीवन टिका कर रखने तब कर सकते हैं, उसके विरहभाव को नष्ट नहीं करते, क्योंकि स्वयं भगवान को भी उसे विरह का अनुभव क अतः भगवान की भी इच्छा यही रहती है कि, उसका जीवन बना रहे और विरह का भी अनुभव हो

नन्वेवं सति स्वविरहसन्तापभरपीडितस्वान्तानामवस्थां विचार्य सर्वसमर्थो भगवानेव यदि कदाचिदपि लोकसि प्रकारान्तरेण वा तद्भावमुपशमयेत्, तदा स्वयमेव बाधकः स्यादिति चेत्तत्राहुः भगवानिति । स्वविप्रयोगतीव्रतापादिभावानुभवे भगवान् यद्यपि सर्वैश्वर्यसहितः, तथापि बाधकः केनापि प्रकारेणास्य विघातकं फलरूपत्वात्, निरवध्यानन्दरसात्मकत्वादित्यर्थः । यदि भगवान्मनागप्येतद्भावमपनयेत्त संयोगविप्रयोगभेदेनोभयरूपत्वादन्यतरभावानुभवाभावे स्वस्य तथात्वमेव न सिध्येत् । सर्वात्मभावस्तु स्वरूपात वितरत एव फलरूपत्वाभ्युपगमादिति भावः । एवं च 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति ।' 'एतस्यै भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'त्यादि श्रुतिव्याकोपोपि नोपनिपतति ।

किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि सर्वसमर्थभगवान अपने भक्तों को अपने ही विरह से पीड़ित अव यदि कभी लौकिकस्वस्थता के साधन या तो फिर किसी अन्य प्रकार से उसके भाव को शांत कर दें, त ही उसके मार्ग में बाधक बनेंगे!! तो आचार्यचरण इसका समाधान **भगवान्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। करते हैं- **अत्र** यानि अपने इस विप्रयोग के तीव्र ताप इत्यादि भाव का अनुभव करने की अवस्था में, भ सर्वेश्वर हैं और सभी कुछ करने में समर्थ हैं, तथापि वे उसके मार्ग में बाधक नहीं बनते। अर्थात् किसी वेघातक होना नहीं चाहते; क्यों? क्योंकि वे फलरूप हैं, अपार आनन्दमय हैं, रसात्मक हैं। यदि भगवान कि उसके ऐसे उच्चविप्रयोगभाव को दूर करना चाहें, तब तो रस विच्छिन्न हो जायेगा क्योंकि भगवद्रस वेप्रयोग- दोनों प्रकार का होता है, अतः यदि भक्त अपने अन्तःकरण में दोनों में से किसी भी एक भाव क करता, तो स्वयं भगवान भी रसात्मक सिद्ध नहीं हो पायेंगे। क्योंकि सर्वात्मभाव जो कि भगवत्स्वरूपात्मक भगवान के लिए ये समझा गया है कि वे ऐसे सर्वात्मभावरूपी रस का दान अपने भक्तों को निरन्तररू हैं और तभी उन्हें फलरूप भी माना जा सकता है, यह भाव है। और जब भगवान ठीक इसी प्रकार से हेंगे, तब ही *"निश्चितरूप से ब्रह्म ही रस है(तैत्ति0उप0 2/7/1)"*, *"ब्रह्म के आनन्द की मात्रा के आश्रित होक जीवन धारण करते हैं(बृहदा-4/3/32)"* इत्यादि श्रुतियां भी व्याकुपित नहीं होंगी।

ननु तथापि परमकरुणापरीतो भगवान् भक्तानां भूरितरमात्मविरहक्लेशमसहमानस्तदुपशमाय सर्वथा स्वास्थ्यप्रतिपादकवाक्यानि करिष्यति, अन्यथा स्वदयालुत्वविरोधः स्यादिति चेत्तत्राहुः स्वास्थ्यवाक्यमिति । स्वास्थ्यमागन्तुकक्लेशनिवृत्त्या पूर्ववत्स्थितिः, तत्प्रतिपादकं वाक्यं प्रभुणा न कर्तव्यम् । न चैवं सति सामर्थ्ये दुःखदर्शी कीदृशो दयालुरिति शङ्कनीयम् । एवंविधविरहक्लेशादिभावस्य परमपुमर्थरूपत्वेनैतदभावसम्पादन एव दयापचयापातो यतः । अतः स्वत एवैतादृशभावनिवहान्निजेष्वनिशं विशदयतो निर्व्यूढो दयातिशय इति मनसिकृत्योक्तं दयालुर्न विरुध्यत इति । न ह्येतादृशभावानां प्रतिक्षणं संरक्षणपोषणादितोप्यधिकं क्वचित्किञ्चित्कृपाकार्यमस्ति । क्लेशादित्वेन प्रतीतिमात्रमत्र परं प्राकृतानाम्, वस्तुतस्त्वमी रसात्मका अनुभवैकवेद्या निरवद्यभगवद्भावा इति सुस्थमखिलम् । स्वास्थ्यवाक्यमित्येकवचनेनैकमपि तादृग्वाक्यं प्रभुर्न करोति, येनैतद्भावबाधः स्याद्, बहूनां तु सम्भावनैव केति भावः ।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि भगवान तो परमकरुणावान हैं अतः अपने भक्तों को वारंवार उनकी आत्मा में होने वाले विरह-क्लेश को सहन नहीं कर पायेंगे और उसका शमन करने के लिये हर एक प्रकार से उसे स्वस्थता प्रदान करने वाले वाक्य कहेंगे; क्योंकि यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनके दयालु स्वभाव से विरोध आ जायेगा! यदि ऐसी शंका होती हो तो आचार्यचरण उसका समाधान **स्वास्थ्यावाक्यं** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। 'स्वास्थ्य' का अर्थ होता है, जो क्लेश आ पड़ा हो वह निवृत्त होकर पहले जैसी स्थिति बन जानी; आपश्री आज्ञा करते हैं प्रभु उसकी स्थिति पहले जैसी बन जाये, ऐसे प्रकार के वाक्य नहीं कहते, क्योंकि यदि भगवान पहले जैसी स्थिति बना दें, तो जीव फलदशा की ओर अग्रसर होते होते और पीछे चला जाय अतः नहीं कहते । और यदि प्रभु ऐसे वाक्य नहीं कहते तो यह शंका मत करिये कि प्रभु सर्वसामर्थ्यवान होकर भी उसके दुःख को देखे जा रहे हैं, तो प्रभु किस प्रकार के दयालु हैं? नहीं, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि इस प्रकार का विरह-क्लेश इत्यादि का भाव भक्तिमार्ग में परमपुरुषार्थरूप है, अतः भगवान उल्टे यदि ऐसे भाव का सम्पादन न करें तब ही दयाहीन कहे जायेंगे। अतः भगवान स्वयं ही निजजनों के ऐसे भाव का निर्वाह करते हैं, निजजनों में ऐसे भावों को बढ़ाते हैं अतः वे निःसंदिग्धरूप से अतिशय दयालु ही हैं- यह बात मन में धारण करके आचार्यचरणों ने **दयालुर्न विरुध्यते** यह कहा है। अब बताइये, इस प्रकार के भावों का प्रतिक्षण संरक्षण और पोषण आदि करने से अधिक उनकी कृपा और क्या होगी? ये तो केवल लौकिकजनों को ऐसा प्रतीत होता है कि विप्रयोगीजीव को क्लेश आदि हो रहा है, परन्तु वास्तव में तो ऐसे भाव केवल अनुभव से ही समझ में आने वाले होते हैं और क्लेशयुक्त न होकर सर्वथा निर्दुष्ट हैं, इसलिये आपश्री ने जो कहा है, वह सब कुछ ठीक ही है। 'स्वास्थ्यावाक्यं' पद में आचार्यचरणों ने एकवचन का प्रयोग किया है, इससे यह ज्ञात होता है कि ऐसी विप्रयोगावस्था की उच्चदशा में आने के पश्चात् भगवान जीव को पुनः स्वस्थ बनाने वाला ऐसा एक वाक्य भी नहीं कहते जो उसके भाव में बाधक बन सकता है, फिर अनेक वाक्य कहें, इसकी तो सम्भावना ही कहाँ रहती है- यह भाव है।

एवं भक्तिमार्गीयं परित्यागमभिधाय तस्य दुरापत्वं वदन्तस्तत्सिद्ध्युपायमाहुः दुर्लभोयमिति । अयं भक्तिमार्गीयपरित्यागो दुर्लभः, शुद्धभगवत्स्नेहातिरिक्तसाधनालभ्यत्वात् । अत एव तथाभूतप्रभ्वनुग्रहप्रभवेन प्रेम्णा शुद्धस्नेहेन सिध्यति, तस्य तत्तत्स्वकार्यपरम्परया तन्निर्वाहकत्वात्, नान्यथा, न तु विहितेन केनापि प्रकारेणेत्यर्थः । तेनैतदर्थिनां तदीयानां प्रेम्णि प्रयत्नः प्रतिष्ठितो भवतीति भावः । यत्रैतत्साधनस्य प्रेम्ण एव दुर्लभत्वम्, तत्रैतत्साध्यपरित्यागस्य दुर्लभत्वं किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायो द्योत्यते ।।६-१३½।।

इस प्रकार से भक्तिमार्गीयपरित्याग का परिचय देकर अब उसकी दुर्लभता को कहते हुए उसे सिद्ध करने का उपाय आपश्री **दुर्लभोयं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं कि यह भक्तिमार्गीयपरित्याग बड़ा ही दुर्लभ है, क्योंकि शुद्ध भगवत्स्नेह के अतिरिक्त अन्य किसी भी साधन से प्राप्त नहीं हो सकता, अतएव ऐसे दयालु भगवान के अनुग्रह से जीव में उत्पन्न होने वाले **प्रेम्णा** यानि भगवान में शुद्ध स्नेह रखने के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है; यानि भगवान के प्रति होने वाला प्रेम भक्त को परित्याग करने की ओर अग्रसर करते हुए उससे परित्याग में अपेक्षित समस्त कार्यों को करवाते हुए परित्याग का निर्वाहक बनता है, **नान्यथा** अर्थात् यह परित्याग अन्य किसी विधिपूर्वक प्रकार से संपन्न नहीं होता, यह अर्थ है। इसलिये भक्तिमार्गीयपरित्याग की इच्छा रखने वाले निजजनों को भगवत्प्रेम प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहना ठीक रहता है- यह भाव है। अब जहाँ भगवत्प्रेम, जो कि साधन है, वही प्राप्त करना दुर्लभ हो, वहाँ इस प्रेम के द्वारा ही सिद्ध हो सकने वाले परित्याग की दुर्लभता बताने के लिये बताइए कि अब और

क्या कहना आवश्यक रह जाता है, यह कैमुतिकन्याय भी आचार्यचरणों ने द्योतित किया है॥ 6-13$^{1}/_{2}$॥

एवं स्वमार्गीयं संन्यासं विचार्य ज्ञानमार्गीयसंन्यासविचारमाहुः ज्ञानमार्ग इति।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ।।१४।।
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ।।१५।।
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ।।१६।।
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ।।१६$^{1}/_{2}$।।

तुशब्दो भक्तिमार्गीयत्यागव्यावृत्त्यर्थः । ज्ञानमार्गे मोक्षार्थं विविदिषाविद्वत्ताभेदेन द्विविधोपि संन्यासो विचारितः । तदेवाहुः ज्ञानार्थमिति । ज्ञानार्थं ज्ञानप्रयोजनार्थं यः स विविदिषासंन्यासस्तस्य ज्ञानेच्छाप्रयुक्तस्य ज्ञानोत्पादनोपयोगित्वात् । उत्तराङ्गं मुक्त्यङ्गं यः स तु विद्वत्संन्यासस्तस्य ज्ञानोत्तरभाविनो मुक्तावेवोपक्षयात् । चकारेण मुक्तिचरमकारणे ज्ञानेपि तदुपयोगः सूच्यते ।

इस प्रकार से स्वमार्गीय संन्यास का विचार करके आपश्री ज्ञानमार्गीयसंन्यास का विचार **ज्ञानमार्गे** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। **तु** शब्द से ज्ञात होता है कि, अब यहाँ से भक्तिमार्गीयचर्चा पूर्ण हुई और अब ज्ञानमार्गीयचर्चा आरंभ हो रही है। आपश्री आज्ञा करते हैं- ज्ञानमार्ग में मोक्षप्राप्ति के लिए 'विविदिषा' और 'विद्वत्ता' यों दो प्रकार से संन्यास का विचार किया गया है। वही बात आपश्री **ज्ञानार्थं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **ज्ञानार्थं** का अर्थ है- ज्ञान प्राप्त करने के प्रयोजन से जो संन्यास लिया जाता है, उसे 'विविदिषासंन्यास' कहा जाता है, और ऐसे संन्यास में चूँकि ज्ञानेच्छा जुड़ी होती है अतः वह केवल ज्ञानप्राप्त करने में उपयोगी होता है। **उत्तरांगं च** यानि दूसरे प्रकार का संन्यास जो कि मुक्ति का एक अंग होता है और उसे 'विद्वत्संन्यास' कहा जाता है, मुक्ति का अंग इसलिए क्योंकि ज्ञानप्राप्त हो जाने के पश्चात् लिया जाता है अतः केवल मुक्तिप्राप्त करने में ही खप जाता है। **उत्तरांग च** शब्द में प्रयुक्त **च** शब्द से ज्ञात होता है कि, यह दूसरे प्रकार का संन्यास यद्यपि मुक्ति के लिए लिया जाता है, परन्तु मुक्तिप्राप्त करने के चरमकारण ज्ञान में भी उसका उपयोग है।

तत्र विविदिषासंन्यासः कलौ न सम्भवतीत्यभिधास्यते । विद्वत्संन्यासस्तु यद्यप्यस्ति, परं तस्मिन् सिद्धिर्मुक्तिर्जन्मशतैरनेकजन्मभिर्भवति । 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यत' इति प्रभुवाक्यात् । ज्ञानार्थं संन्यासस्तु कलौ न सिध्यतीत्याहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं च न केवलं संन्यासाद्भवति, किन्तु साधनापेक्षं यज्ञदानाद्यधीनं मतं, साधनत्वेन यज्ञादीनां श्रवणात् । 'तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेने'ति श्रुतेः । तानि च देशकालादिसाध्यानि, तच्छुद्धिः कथमपि कलौ न भवति । यतोतः कलौ स विविदिषासंन्यासः कृतः पश्चात्तापायैव भवति, नान्यथा, यतः फलान्तरमपि शंक्येतातः सर्वथैव न कर्तव्य इति भावः ।

इन दोनों प्रकारों में विविदिषासंन्यास(ज्ञानप्राप्ति करने के लिए लिया जाता संन्यास)कलिकाल में संभव नहीं होता- यह आचार्यचरण आगे कहेंगे। आपश्री का कहना यह है कि, यद्यपि विद्वत्संन्यास का कलिकाल में निर्वाह हो सकता है, परन्तु, इसमें **सिद्धि**/मुक्ति **जन्मशतैः**/सैंकड़ों जन्मों के पश्चात् होती है, जैसा कि *"बहुत जन्मों के पश्चात् अन्त में ज्ञानीपुरुष मेरी शरण आता है। ऐसा महात्मा मिलना तो बड़ा दुर्लभ है(भ0गी-7/19)"* इस प्रभुवाक्य में कहा भी गया है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए लिया जाने वाला संन्यास कलिकाल में सिद्ध नहीं हो पाता- यह आपश्री **ज्ञानं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। क्योंकि ज्ञानप्राप्ति केवल संन्यास ले लेने मात्र से ही नहीं हो जाती, परन्तु यज्ञ, दान इत्यादि साधनों के अधीन मानी गयी है, क्योंकि ज्ञानमार्ग में साधन के रूप में यज्ञ इत्यादि करने का वर्णन आता सुना गया है, जैसा कि "तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा" इस श्रुति में कहा भी गया है। ये सभी साधन देश-काल इत्यादि के द्वारा साध्य होते हैं और देश-काल इत्यादि की शुद्धि कलिकाल में तो किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती। चूँकि कलिकाल में विविदिषासंन्यास लेने से कालान्तर में केवल पश्चात्ताप ही हाथ लगता है, **नान्यथा** यानि पश्चात्ताप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं मिलेगा जिससे कि किसी अन्य फल प्राप्त होने की संभावना भी की जा सके, अतः सर्वथा लेना ही नहीं चाहिए- यह आपश्री का भाव है।

किञ्च, न केवलं पश्चात्तापस्तस्य पर्यवस्यति, किन्त्वन्यदपीत्याहुः पाषण्डित्वमिति । पाषण्डित्वं स्वधर्मविरुद्धाचरणं च भवेत् ।

अपिशब्दस्तज्जन्यपापसमुच्चयार्थः । यस्मादीदृशोयं संन्यासस्तस्मात् ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं न संन्यसेदित्यर्थः । यद्वा । ज्ञानेन हेतुना संन्यसेत्, ननु तेन विना तथेत्यर्थः । अपिच युगान्तरे यथा कथञ्चिद्विविदिषासंन्यासस्य निर्वाहः शङ्क्येतापि, कलौ तु कलयापि नेत्याहुः सुतरामिति । कलिदोषाणां बहूनां प्रबलत्वादशक्यबाधत्वादिति स्थितं, पर्यवसन्नमित्यर्थः ॥१४-१६$^{1}/_{2}$॥

और विविदिषासंन्यास लेना केवल पश्चात्ताप में परिणित हो जाता है, इतना ही नहीं, अपितु, इसमें अन्य भी दोष हैं, जिसे आपश्री **पाषण्डित्वं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यानि कलिकाल में विविदिषासंन्यास लेने वाला **पाषण्डित्वं** यानि अपने संन्यासधर्म से विरुद्ध आचरण करने वाला भी बन जाता है। इसमें जुडा हुआ **अपि** शब्द यह बताता है कि, वह पाखण्डी तो बनता ही है, साथ ही साथ पाखण्ड के कारण उत्पन्न हुए अन्यान्य पापों का भी भागी बनता है। चूँकि कलिकाल में विविदिषासंन्यास लेना उपर्युक्त प्रकार से दोषपूर्ण है, अतः **ज्ञाने न संन्यसेत्** अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने के हेतु से विविदिषासंन्यास नहीं लेना चाहिए- यह अर्थ है। अथवा, पाठ को **ज्ञानेन संन्यसेत्** यों मान लें। इसका अर्थ अब ये होगा कि, ज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् संन्यास लें, ज्ञान प्राप्त होने के पहले नहीं। अन्य युगों में तो चलो येनकेन प्रकारेण विविदिषासंन्यास का निर्वाह हो पाना शक्य भी था, परन्तु, अब कलिकाल में तो लेशमात्र भी निर्वाह हो पाना शक्य नहीं है- यह आपश्री सुतरां **इत्यादि** शब्दों से कह रहे हैं। चूँकि कलिदोष इतने प्रबल हैं कि उन्हें किसी भी प्रकार से रोक पाना संभव नहीं होता- यह **स्थिति** है, यानि **स्थितं** का अर्थ यह कि, यह चर्चा यहाँ पूर्ण होती है॥14-16 $^{1}/_{2}$॥

ननु यदि कलिदोषप्राबल्याज्ज्ञानमार्गे न संन्यासस्य निर्वाहस्तर्हि तत एव भक्तिमार्गेपि तस्य तथेति तुल्यमित्येवमाशङ्क्यन्ते भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥१७॥
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥१८॥
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥१९॥
ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥२०॥
तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥२१॥

भक्तिमार्गेपि चेत् कलिसम्बन्धी दोषः प्रबलस्तदा नाश एव स्यात् ननु त्यागस्य फलपर्यवसानमिति किं कार्यं, स्वीकार्यो वा ज्ञानमार्गीयः परित्यागः, परिहार्यो वा भक्तिमार्गीयोपीति महत्सङ्कटमिति प्राप्ते, उच्यते, समाधानमिति शेषः । तदेवाहुः अत्रारम्भ इति । ज्ञानमार्गे संन्यासस्योपक्रमे कलिकालादिदोषैः साधनवैगुण्यात्तदनिर्वाहे नाशः फलाभावो युज्यते । न च तत्र दोषसत्त्वे किं मानमिति वाच्यम् । 'कलेर्दोषनिधे'रिति वाक्येन भगवद्भजनातिरिक्ते तत्सद्भावस्य बोधितत्वात् । दृष्टस्य श्रुतस्य वा नाशस्यैव दोषोन्नायकत्वाच्च । अत्र भक्तिमार्गे आरम्भे उपक्रमे त्यागस्येति शेषः नाशः फलाभावो न स्यात्, कलेरन्यत्र बाधकस्यापि भक्तिमार्गे साधकत्वेन साधनवैगुण्याप्रसक्त्या संन्यासस्यानिर्वाहासंभवात् ।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, कलिदोषों की प्रबलता के कारण यदि ज्ञानमार्ग में संन्यास का निर्वाह नहीं हो सकता, तो फिर भक्तिमार्ग में भी कलिदोषों की प्रबलता बनी रहेगी और भक्तिमार्गीयसंन्यास का निर्वाह भी नहीं हो पायेगा अतः दोनों ही मार्गों में परिस्थिति तो समान ही रही !! यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण **भक्तिमार्गेपि** इत्यादि शब्दों से उसकी शंका व्यक्त करके फिर उसका समाधान भी कह रहे हैं।

आपश्री कह रहे हैं- यदि कोई ऐसी शंका करे कि, "यदि भक्तिमार्ग में भी कलिकाल सम्बन्धी दोषों की ही प्रबलता हो और उनसे नाश ही होना हो, त्याग फलदशा तक पहुँचने वाला न हो, तब क्या करें ? फिर क्या ज्ञानमार्गीयसंन्यास स्वीकार कर लें या फिर भक्तिमार्गीयपरित्याग भी त्याग दें ?? इस प्रकार से इसका निर्णय न कर पाने के कारण बड़ी संकट की परिस्थिति आ पड़ी हो, तब क्या करें ? तो आपश्री **उच्यते** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं, यानि इस समस्या का समाधान कह रहे हैं। वही समाधान आपश्री ने **अत्रारम्भे** इत्यादि शब्दों से दिया है। वैसे ज्ञानमार्ग में तो परिस्थिति

यह है कि, संन्यास लेने के साथ ही कलिकाल आदि के दोषों के कारण ज्ञानप्राप्ति के सभी साधन दूषित हो जाते हैं और संन्यासधर्मों का निर्वाह करना संभव नहीं बन पाता, जिसके फलस्वरूप भक्त का नाश हो जाता है यानि उसे संन्यास का फल प्राप्त नहीं होता। ये कहना योग्य नहीं है कि, इस बात में क्या प्रमाण है कि कलिकाल दोषों से भरा पड़ा है ?क्योंकि"हे परीक्षित्! कलियुग दोषों का खजाना है(श्री0भा-12/3/51)" इस वाक्यानुसार कलिकाल में भगवद्भजन के अतिरिक्त अन्य सभी में दोष होने बता दिए गए हैं। जिन वस्तुओं में दोष होना देखा गया है या सुना गया है, ऐसी वस्तुएँ तो दोष को बढ़ायेंगी ही। किन्तु आपश्री आज्ञा करते हैं कि, इस भक्तिमार्ग में त्याग का आरम्भ करने पर भक्त का नाश नहीं होता यानि उसे फल का अभाव नहीं होता। क्योंकि कलिकाल अन्य सभी मार्गों में भले ही बाधक होता है, परन्तु, भक्तिमार्ग में वह साधक कहा गया है अतः साधनों के दूषित होने का अवसर प्राप्त नहीं होता और संन्यास का निर्वाह न होने की संभावना नहीं रहती।

भक्तिमार्गस्य ज्ञानकर्मादिभ्यो बलवत्त्वस्य बहुलमुपलम्भात् । 'न कर्हिचिन्मत्परा नंक्ष्यन्ति','न मे भक्त: प्रणश्यती'त्यादिभिर्भक्तस्य नाशाभावावधारणाच्च । एकादशस्कन्धे 'न ह्यंगोपक्रमे नाशो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपी'त्यनेनारम्भदशायामपि तदभावस्य प्रतिज्ञातत्वाच्च । तेन भक्तिमार्गे दोषलेशोपि न शङ्कितुं शक्य इति भाव: ।

और यह भी है कि, भक्तिमार्ग अन्य ज्ञान-कर्म इत्यादि मार्गों की तुलना में बलशाली है- यह बात तो अनेकों स्थलों पर सिद्ध की जा चुकी है। साथ ही साथ,*"जिनका एकमात्र मैं ही प्रिय,आत्मा,पुत्र, मित्र, गुरु, सुहृद् हूँ, उन्हें मेरा कालचक्र भी ग्रस नहीं सकता(श्री0भा-3/25/38)","मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता(भ0गी-9/31)"* इत्यादि श्लोकों द्वारा भक्त का नाश न होने की बात भी निश्चित की गयी है। एकादशस्कन्ध में *"हे उद्धव! यही मेरा भागवतधर्म है, इसको एक बार आरम्भ कर देने के पश्चात् फिर किसी भी प्रकार के विघ्न-बाधा से इसमें रत्ती भर भी अंतर नहीं आता(श्री0भा-11/29/20)"* इस श्लोक द्वारा भगवान ने भी यह प्रतिज्ञा की है कि, भक्तिमार्ग की आरम्भदशा में भी भक्त का नाश नहीं होता। इन सभी प्रमाणों के अनुसार भक्तिमार्ग में लेशमात्र दोष की शंका करनी भी शक्य नहीं है- यह भाव है।

किञ्च, भक्तिमार्गे परित्यागवान् कश्चिन्नष्टो दृष्ट: श्रुतो वा येन तद्दृष्टान्तेनान्यस्मिन्नप्याधुनिके नाश: शक्यवचन: स्यादतो दृष्टान्तस्याप्यभावतो भक्तिमार्गे न कश्चिदुन्नेतुमपि शक्यते दोष इति न नाशसम्भावनालेशोपि । ननु तथापि विरहव्यथाव्याकुल: सन् यदि कोपि कदाचित् स्वास्थ्यसम्पादकं कमपि पदार्थमुपादद्यात्तदा तस्य भावस्य वा बाध: स्यादेवेति चेत्तत्राहु: स्वास्थ्यहेतोरिति । स्वास्थ्यहेतो: स्वास्थ्यप्रयोजकस्य येनैवैतद्भावविघातकं किञ्चिदपि स्वास्थ्यं भवति तस्य सर्वस्यैव पूर्वमेव सर्वभावेन त्यागादस्य भावस्य त्यागिनो वा बाध: प्रतिघात: केन पदार्थेन सम्भवेत्, न केनापीत्यर्थ: ।

और यह भी है कि, भक्तिमार्गीयपरित्याग करने वाले का नाश होना कभी देखा या सुना हो जिसके दृष्टान्त को लेकर अन्य किसी आधुनिकजीव के लिए भी नाश होना शक्य बन सकता हो, ऐसा कोई दृष्टान्त भी नहीं है अतः आचार्यचरण **दृष्टान्तस्याप्यभावतः** इत्यादि शब्दों से यह कह रहे हैं कि, भक्तिमार्ग में किसी भी प्रकार का दोष कह पाना अशक्य ही है अतः भक्त का नाश होने की संभावना तो लेशमात्र भी नहीं है। किन्तु यहाँ किसी को एक शंका यह होती है कि, इतने तीव्रविरह से व्याकुल होकर यदि कोई कभी स्वस्थता करने वाला कोई पदार्थ उसे मुहैया करा दे, तब तो उसके भाव का नाश होना ही होना है! तो आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण **स्वास्थ्यहेतोः** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। **स्वास्थ्यहेतोः परित्यागात्** का अर्थ है- स्वास्थ्यहेतुक या स्वास्थ्य होने के प्रयोजक पदार्थों का यानि उसके भाव का विघातक करने वाला स्वास्थ्य जिस किसी भी प्रकार से संभव हो सकता है, उन सभी पदार्थों का तो वह पहले ही सर्वभाव से त्याग कर चुका है अतः आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, अब किस पदार्थ से उसके भाव का या स्वयं उसका बाध होना संभव हो सकेगा, किसी से भी नहीं- यह अर्थ है।

ननु लौकिकस्य बाधकस्यासम्भवेप्यलौकिका: कालादय एव बाधका भविष्यन्तीति चेत्तत्राहु: हरिरिति । यद्यपि हरि: सर्वदु:खहर्ता समर्थ: सदयश्च, तेन भक्तक्लेशलेशमपीक्षितुं न क्षम:, तथाप्यत्र अस्मिन्नतिप्रचुरविप्रयोगभावे बाधां नाशं स्वरूपरसामृतैरेतद्भावरूपैर्भक्तानामपोषणरूपं कर्तुं न शक्नोति, समर्थो न भवति । अपरे कालादय: कुतो बाधां कर्तुं शक्ष्यन्तीत्यर्थ: ।

किन्तु कोई ये प्रश्न करे कि, चलो लौकिकपदार्थ बाधक बनने संभव न होते हों, तथापि ऐसा हो सकता है कि, काल

आदि अलौकिकबाधक ही बाधारूप बन जाएँ, तो आचार्यचरण **हरिः** इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कह रहे हैं। इससे आपश्री आज्ञा करते हैं कि, यद्यपि हरि सर्वदुःखहर्ता हैं, समर्थ हैं, दयालु भी हैं, इसलिए उनके भक्त के क्लेश को लेशमात्र भी नहीं देख सकते, तथापि, इस अतिप्रचुरविप्रयोगभाव में/का बाधा/नाश करने में समर्थ नहीं हैं, यानि भगवान अपने स्वरूपरसामृत के भाव का दान करके अपने भक्त का अपोषण करने जैसा कार्य नहीं करते -यह बात आचार्यचरण **कर्तुं न शक्नोति** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं, इसका अभिप्राय यह है कि, विरहावस्था की ऐसी उच्चदशा में पहुँच चुके जीव को भगवान यदि अपने स्वरूप के दर्शन करा दें, तो उसका विरहभाव मंदा पड़ जायेगा और तब वह आगे प्राप्त होने वाले पूर्णफलदान से वंचित रह जायेगा। अर्थात् इस दशा में भगवान का उसे अपने स्वरूप के दर्शन करवाना उसके भाव का अपोषण करना ही सिद्ध होता है- यह अर्थ है, प्रभु अपने भक्तों को बाधा करने में समर्थ नहीं होते। जब प्रभु ही समर्थ नहीं होते, तब फिर दूसरे काल इत्यादि तो कहाँ से समर्थ हो सकेंगे- यह अर्थ है।

इहायमभिसन्धिः । भगवान् हि रसत्वेनैव 'रसो वै स' इत्यादिश्रुत्या निरूपितः, तत्त्वं च संयोगविप्रयोगात्मके श्रृङ्गार एव विश्रान्तमिति तदुभयात्मकः स्वयं स्वस्वरूपात्मकानेव तत्तद्रसभावांस्तत्तद्विहृतिभिरत्यनुगृहीतेष्वाविर्भाव्य तदनुभवं विदधत्तदुद्बोधितनिजभावनिचयानां चानुभवमनिर्वचनीयानेकप्रकारैर्भक्तानां सम्पादयन् स्वरूपानन्ददायको महोदारो मुहुर्मुहुर्विप्रयोगादिभावपोषणमेव कर्तुमर्हति, न तु तद्विघातमपि, स्वस्य भावात्मकत्वात्तेषां चातिप्रबलत्वाद्धक्तविषयकैर्भावैः स्वस्य तदधीनत्वभावनात् निरवधिकृपानिधित्वस्य प्रकटितत्वाच्च ।

यहाँ समझने वाली बात यह है कि भगवान उसके भावों का विघात इसलिए नहीं करते, क्योंकि भगवान *"निश्चितरूप से ब्रह्म ही रस है(तैत्ति0उप-2/7/1)"* इस श्रुति द्वारा रसात्मकरूप से ही निरूपित हुए हैं, और रस संयोगविप्रयोगात्मक श्रृंगाररस में ही पर्यवसित होता है, अतः इन दोनों स्वरूपों वाले भगवान अपने ही स्वरूपात्मक संयोगविप्रयोगरस के भावों का अपनी लीलाओं द्वारा अपने अतिकृपापात्र भक्तों में आविर्भाव करवाते हैं और उन भावों का उन्हें अनुभव करवाते हैं, और उस अनुभव के द्वारा निजसम्बन्धी(भगवत्सम्बन्धी)अनिर्वचनीय भावसमूहों के अनुभव को अनेक प्रकारों से अपने भक्तों को करवाते हुए उसे अपना स्वरूपानन्द भी दे देने वाले महोदार भगवान वारंवार विप्रयोग आदि भावों का पोषण ही करते हैं, उनका विघात नहीं करते; क्योंकि स्वयं भगवान भावात्मक हैं और भगवद्भाव तो अतिप्रबल होते हैं, साथ ही साथ अपने आप को भक्तविषयक भावों के अधीन भी मानते हैं, और इस पुष्टिभक्तिमार्ग में तो उन्होंने अपने निरवधि कृपानिधि स्वरूप को प्रकट किया है, अतः इन समस्त कारणों से वे अपने भक्त के भावों का विघात नहीं करते अपितु पोषण ही करते हैं।

ननु तथापीश्वरः स्वतन्त्रः कदाचिद्भावमन्यथयेदेव, न तु नियमेन पोषयेदित्याशङ्क्य तस्य स्वभाव एवेदृशो यदेतद्भावं पोषयत्येव, न तु नाशयतीतीममर्थं व्यतिरेके दृष्टान्तेन समर्थयन्ति अन्यथेति । यदि भगवान् स्वरूपामृतैरुक्तभावैर्भक्तान्न पोषयेत् क्वचित्, किन्त्वेतद्भावबाधनमेव कुर्यादिति तदा लोके मातरो जनयित्र्यो बालान् स्तनन्धयान् स्तन्यैः क्वचित् न पुपुषुर्न पोषितवत्य इत्यपि स्यात् । तत्तु तथाभूतस्वभावानां तासां सर्वथैवाप्रसिद्धमसम्भावितमशक्यं च, एवं भगवतोपि स्वस्वरूपामृतैर्भक्तानामपोषणमेतद्भावनाशनरूपमित्यर्थः । तेन स्तन्यादिदानेन बालकानामपोषणे यथा मातृषु वात्सल्यस्वभावस्य तेषां जीवनस्य चान्यथाभावः स्यात्, तथा स्वरूपामृतदानेन भक्तानामपोषणे स्वरूपात्मकानुभूयमानविप्रयोगभावबाधनलक्षणे भगवति तादृक्स्वभावस्य भक्तानां जीवनस्य चान्यथा भावः स्यादिति भावः ।

तथापि एक शंका यह होती है कि, भगवान तो ईश्वर हैं, स्वतन्त्र हैं, किसी से बँधे हुए नहीं हैं अतः संभव है कि कदाचित् भक्त के भावों को विपरीत भी बना दें, निरन्तर पोषण न भी करें? ऐसी आशंका हो तो आचार्यचरण आगे यह बता रहे हैं कि, भगवान का स्वभाव ही ऐसा है कि, वे इस प्रकार के भाव का पोषण करते ही हैं, उसका नाश नहीं करते, और इस बात को समझाने के लिए आपश्री विपरीत ढंग से एक दृष्टान्त **अन्यथा** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, यदि भगवान ऊपर कहे अपने स्वरूपामृतरूपी भाव का दान करके अपने भक्तों का अपोषण करें और उनके भावों में व्यवधान खड़े करें, तब तो फिर ऐसा भी कहना पड़ेगा कि, लोक में जन्म देने वाली माताएँ स्तनपान करवा कर अपने दुधमुँहे बालकों का कभी भी पोषण नहीं करतीं। ऐसा करना जिस प्रकार से अपने बालकों का पोषण करने वाली माताओं के लिए सर्वथा अप्रसिद्ध है, असम्भव है, अशक्य है; उसी प्रकार भगवान का इस दशा में पहुँच चुके भक्त को अपने स्वरूपामृतरूपी भाव का दान करके उसका अपोषण करना, उसके भाव

का नाश करना भी सर्वथा अप्रसिद्ध है, असम्भव है, अशक्य है- यह अर्थ है। इस दृष्टान्त से यह बात समझ में आती है कि, स्तनपान द्वारा अपने बालकों का पोषण न करने पर जिस प्रकार माताओं का वात्सल्यस्वभाव एवं उन बालकों का जीवन दोनों ही पर ही आपत्ति आयेगी; ठीक उसी प्रकार यदि भगवान अपने स्वरूपामृतरूपी भाव का दान देकर अपने भक्तों का अपोषण कर दें, यानि भगवत्स्वरूप का दान देकर वर्तमान में अनुभूत होने वाले विप्रयोगभाव का बाधन करने वाले बन जाएँ, तो भगवान के अपने भक्तों का पोषण करने के स्वभाव पर एवं भक्तों के जीवन दोनों पर आपत्ति आयेगी यानि तब भक्तों को विप्रयोगभाव सिद्ध नहीं होगा और वे पूर्णफलदान से वंचित रह जायेंगे- यह भाव है।

ननु यद्यप्ययं भाव: सर्वाशक्यबाधस्तथाप्येतद्भावस्य बहि:संवेदनदशायामेवोद्गमसम्भवेन ज्ञानस्य च तन्नाशकत्वेनैतादृशभाववतो भक्तस्य भगवदिच्छया ज्ञानिभि: संगे सति तद्वाक्यैरेतद्भावविपर्यासेन चित्तस्यान्यथावृत्तिरूपो मोहो भविष्यत्येव, तेन च फलप्रतिबन्ध इति चेत्तत्राहु: ज्ञानिनामपीति । यद्यपि 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'त्यादिवाक्यैर्ज्ञानस्य तादृशभक्तिपरिपन्थित्वमिति तद्वत्संगे भवति भाववैपरीत्यं, तथापि भगवान् भक्तं तादृशं ज्ञानिनामपि वाक्येन ज्ञानाद्भक्तेराधिक्यज्ञापनाय तन्मार्गीयाणां संसर्गं संपाद्यापि तद्वाक्येन बहि:संवेदनविघटनद्वारा तद्भावविरोधिना अत्युत्कटभाववन्तं न मोहयिष्यति,

किन्तु एक शंका यह होती है कि, यद्यपि यह तीव्रविरहभाव किसी के भी द्वारा बाधित नहीं हो सकता, तथापि, विप्रयोग का ऐसा उच्चभाव उत्पन्न होना तो तब ही संभव होता है, जब उसे बाहरी संवेदना रहती हो बाहरी संवेदना रहनी आवश्यक इसलिए है क्योंकि बाहरी संवेदना रहती होने पर ही तो उसे ये ज्ञात होता रहेगा कि, भगवान यहाँ-वहाँ कहीं भी नहीं हैं और तभी तो उसे भगवान का विप्रयोग होगा !!; और ज्ञान होना विप्रयोगभाव का नाशक होता है यानि ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर तो ज्ञान भक्त को जड़-चेतन सर्वत्र ब्रह्म का अनुभव करवाता है अतः [illegible] होती है कि, ऐसे उच्चविप्रयोगभाव वाले भक्त को मान लो कि भगवदिच्छा से ज्ञानियों का संग मिल जाय और उनके वाक्यों से उसका भाव विपरीत बन जाने के कारण उसके चित्त की अन्यथावृत्तिरूप मोह/भ्रम तो उसे होगा ही!! और इससे उसके फल में प्रतिबन्ध आ जायेगा!! यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण **ज्ञानिनामपि** इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कह रहे हैं। यद्यपि *"जो योगी मेरी भक्ति से युक्त रहता है, उसके लिए ज्ञान अथवा वैराग्य की आवश्यकता नहीं होती। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्ति से ही हो जाता है(श्री0भा-11/20/31)"* इत्यादि वाक्यों के अनुसार ज्ञान उक्त प्रकार की भक्ति का विरोधी होता है और ज्ञानियों के संग से भक्त का भाव विपरीत भी बनता है, तथापि भगवान लोक में भक्ति को ज्ञान से अधिक श्रेष्ठ सिद्ध करने के हेतु से ज्ञानमार्गियों का संसर्ग करवा कर भी ज्ञानसम्बन्धी वाक्यों द्वारा उसके बाहरी अनुसन्धान का विघटन करा के(हटा कर, दूर करवा कर) उसके भाव के विरोधी ज्ञानीजनों द्वारा अपने ऐसे उत्कट भाव वाले भक्त को मोहित/भ्रमित नहीं होने देते; विप्रयोगी जीव को बाहरी अनुसन्धान रहना आवश्यक है क्योंकि यदि बाहरी अनुसन्धान रहेगा तभी तो उसे सतत निरन्तर यह बात ज्ञात होती रहेगी कि भगवान कहीं भी दिखाई नहीं दे रहे हैं और तभी उसकी विकलता और अस्वस्थता बढ़ेगी और विप्रयोग परिपक्व बनता चला जायेगा। किन्तु यदि उसे बाहरी अनुसन्धान न रहे और वो सर्वत्र समस्त पदार्थों में भगवान के ही दर्शन करता रहे तो उसे विप्रयोग होगा ही नहीं और वह पूर्णफलदान से वंचित रह जायेगा- यह भाव है;

तथा सति तद्भावमेव तस्य न सम्पादयेत्, प्रयोजनाभावात् । अग्रे तस्य ज्ञानिवाक्यादिभिर्निरस्यत्वात् । किञ्चैवं सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणसिद्धं ज्ञानमार्गाद्भक्तिमार्गस्याधिक्यमुत्सिदेत् । अतो भक्तस्य भाव: केनाप्यन्यथा कर्तुमशक्य इति न फलप्रतिबन्धसम्भावनापीति भाव: । लृट्प्रयोगेणाग्रेपि मोहानुत्पाद: सूच्यते ।

यदि भगवान को उसे भ्रमित ही करना होता, तो उसे ऐसे उच्चविप्रयोगभाव का दान करने का प्रयोजन ही क्या था यदि आगे चलकर उन्हें उसे ज्ञानियों के वाक्यों से मोहित/भ्रमित ही कराना होता तो!! और एक बात यह भी है कि, यदि वे ज्ञानियों के वाक्यों से अपने भक्त को मोहित/भ्रमित कर दें, तो समस्त श्रुति-स्मृति-पुराणों में जो ज्ञानमार्ग की तुलना में भक्तिमार्ग की अधिकता बतायी है, वह भी खंडित हो जायेगी। अतः ऐसे भक्त का भाव बदलने में कोई भी शक्य नहीं है, इसलिए उसके फल में प्रतिबन्ध आने की तो सम्भावना भी नहीं है। 'मोहयिष्यति' शब्द में लृट् का प्रयोग करने के द्वारा

ाचार्यचरणों ने यह सूचित किया है कि, ऐसे भक्त को अभी तो ठीक परन्तु आगे चलकर भी मोह होने वाला नहीं है। **ानु प्रभुकृतिप्रयोजनमाकलयितुमशक्यं तदिच्छामन्तरेणेति कदाचिद्दत्तमपि भावं प्रत्यादित्सुश्चेत्, तदा ज्ञानिवाक्यैर्भक्तमपि ोहयेदेवेत्याशंकायामाहु: आत्मप्रद इति । यत आत्मानं रसरूपं भक्तेभ्य: प्रकर्षेण विमुक्तसंकोचतया ददाति, प्रिय: प्रीत्याश्रयश्च, ापिशब्दात्तदधीनश्च भवति, अतो दित्सितस्य स्वरूपस्यैतद्भावातिरिक्तप्रकारेण दानासम्भवादेतद्भावरहिते तद्दानाभावेनास्यादेयतापत्ते: ीत्यन्यथात्वप्रसक्ते: प्रयोजनाभावध्रौव्याच्च किमर्थं मोहयिष्यतीत्यर्थ: ।**

केन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, प्रभु की इच्छा के बिना प्रभु के कार्यों के प्रयोजन का आकलन कर पाना शक्य नहीं ; अतः यदि उनकी इच्छा परिवर्तित हो गयी और कदाचित् उन्होंने दिए गए भाव को भी वापस ले लेना चाहा, तब तो ानिवाक्यों के द्वारा भक्त को भी मोहित/भ्रमित करेंगे ही!! ऐसी शंका होने पर आपश्री **आत्मप्रदः** इत्यादि शब्दों से इसका माधान कर रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, चूँकि भगवान अपनी रसरूप आत्मा भी अपने भक्तों को नेःसंकोच होकर दे देते हैं, अपने भक्तों के लिए प्रिय भी हैं, उनकी (भक्तों की) प्रीति का आश्रय भी हैं, **अपि** शब्द के द्वारा नके अधीन भी हैं, इसलिए इन सभी कारणों से यह समझिए कि जिस स्वरूप का दान प्रभु को करना है, उस स्वरूप का दान परोक्त प्रकार की उच्चविरहभावदशा पर पहुँच चुके भक्त के अतिरिक्त अन्य किसी को देना तो असंभव है और यदि भगवान ऐसे भक्त को ही मित कर दें एवं स्वरूपदान न करें, तो फिर किसको करेंगे ? साथ ही साथ, जिसे ऐसा उच्चविरहभाव प्राप्त नहीं हुआ है उसे भी स्वरूपदान हीं मिलना चाहिए, तो फिर स्वरूपदान देंगे किसको, अब बचा ही कौन ? इसलिए दोनों ही प्रकार से भगवान पर स्वरूपदान न देने की ापत्ति आती है; और यदि ऐसे विरहभावयुक्त जीव को भी भगवान अपने स्वरूप का दान नहीं करते, तो उन्हें अपने भक्तों ा प्रेम करने वाला भी कैसे कहा जा सकेगा, इसलिए भी वे क्यों कर उसे भ्रमित करेंगे ? और भगवान के पास अपने ऐसे भक्त को भ्रमित करने का निश्चितरूप से कोई प्रयोजन भी नहीं है, इसलिए इन समस्त कारणों से आखिर वे क्यों पने भक्तों को मोहित करेंगे !!! यानि स्वरूपदान करेंगे ही- यह अर्थ है।

एवं स्वमार्गीयं परित्यागं सम्यग्विचार्य तं कर्तुमुपदिशन्ति तस्मादिति । यस्मादुक्तातिरिक्तप्रकारेण कृत: परित्याग: श्चात्तापैकपर्यवसितस्तस्मादुक्तो य: प्रकारो 'विरहानुभवार्थं त्वि'त्यादिना तेन परित्यागो भक्तिमार्गीय: संन्यासो विधीयतां क्रेयतामित्यर्थ: । तथा सति पश्चात्तापनिवृत्तिपूर्वकमुक्तफलमप्रत्यूहं भविष्यतीति भाव: ।

स प्रकार से स्वमार्गीयपरित्याग का व्यवस्थितरूप से विचार करके उसे करने का उपदेश आपश्री **तस्मात्** इत्यादि शब्दों से दे रहे ं। आपश्री आज्ञा करते हैं- चूँकि ऊपर कहे प्रकार के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से किया गया परित्याग कालान्तर में पश्चात्ताप में ी बदल जाता है अतः हमने जिस प्रकार का परित्यागग्रन्थ के आरंभ में "विरहानुभव के लिए संन्यास लेना प्रशंसनीय है(7)" इस ाक्य द्वारा कहा, वैसा भक्तिमार्गीयपरित्याग करना चाहिए- यह अर्थ है। यदि ऐसे प्रकार का परित्याग करेंगे, तो पश्चात्ताप नहीं होगा ौर हमने जैसा उसका फल बताया है, वह निर्विघ्न प्राप्त होगा- यह भाव है।

ानूक्तपरित्यागफलस्यैतत्प्रकारेणैव सिद्धावपि प्रकारान्तरकृतपरित्यागे किञ्चित्प्रयोजनं भविष्यत्येव, तस्यापि तत्र तत्रोक्तत्वादिति ेत्तत्राहु: अन्यथेति । अन्यथा प्रकारान्तरेण संन्यासे स्वार्थात् स्वप्रयोजनात् भ्रश्यते भ्रष्टो भवति, तेन पश्चात् तप्त एव भवेदिति । एतद्भावतत्त्वाभिज्ञस्य निश्चिता मतिर्नि:सन्दिग्धा बुद्धिरतो मदीयैरेतन्मत्यनुसारिभि: प्रकारान्तरं सर्वथैव नोपादेयमित्यर्थ: ।।१७-२१।।

ब किसी को यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, चलो यह बात ठीक है कि, आपने जिस प्रकार का परित्याग बताया, वैसे ारित्याग का फल तो आपके बताए प्रकार से ही सिद्ध हो सकता है, तथापि, किसी अन्य प्रकार से भी यदि परित्याग केया जाए, तो कुछ न कुछ फल तो अवश्य प्राप्त होगा ही, क्योंकि आखिर दूसरे प्रकार के परित्याग भी अपने-अपने मार्गों ें तो करने कहे ही गए हैं!! तो आपश्री **अन्यथा** इत्यादि शब्दों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इससे आपश्री आज्ञा कर हे हैं कि- हमारे कहे प्रकार के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से संन्यास लेंगे, तो **स्वार्थात्** यानि अपने प्रयोजन से भष्ट हो ायेंगे, और जिसके पश्चात् उसे पश्चात्ताप ही होगा- यह इस भाव के तत्त्व के जानकार मेरी निश्चित मति है, यानि नेःसन्दिग्ध बुद्धि है। अतः मेरे मतानुसार चलने वाले मेरे निजजनों के लिए परित्याग का अन्य कोई भी प्रकार उपादेय र्वथा नहीं हो सकता- यह अर्थ है॥ 17-21॥

ापसंहरन्ति इतीति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ।।२२।।

इतिशब्दः समाप्तौ । कृष्णप्रसादेन कृष्णः फलात्मा, यशोदाद्युत्सङ्गलालितः, तस्य प्रसादः, परमकाष्ठापन्नोऽनुग्रहः, तेनासाधारणालौकिकहेतुनालौकिकस्यैतन्निश्चयजननासामर्थ्यात् वल्लभेनेति प्रथितेन प्रभोः प्रियेणात एव रसात्मकतत्स्वरूपस्य संयोगविप्रयोगभावतदवान्तरभेदानुभववता भक्तौ फलरूपायाम् संन्यासवरणं पुष्टिमार्गीयपरित्यागाङ्गीकार इति यावत्, तत् विशेषेण स्फुटतया गुप्ततया वा निश्चितं निर्धारितं, अन्यथा एतन्निश्चयाभावे फलरूपभक्त्यभावे वा प्रकारान्तरेण संन्यासमुरीकुर्वन् पतित उक्तस्वमार्गीयसंन्यासफलात् प्रच्युतो दोषवांश्च भवेदित्यर्थः ।।२२।।

अब आचार्यचरण इस ग्रन्थ का उपसंहार **इति** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

इति शब्द बताता है कि, अब ग्रन्थ समाप्त हो रहा है। **कृष्णप्रसादेन** शब्द में **कृष्ण** का अर्थ है- फलात्मा, यशोदा आदि के गोद में लालित कृष्ण। कृष्ण के प्रसाद/प्रसन्नता का अर्थ है- परमकाष्ठापन्न कृष्ण का अनुग्रह; इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि- इस असाधारण और अलौकिक हेतुरूप अनुग्रह के द्वारा ही इस अलौकिकभाव को निश्चयपूर्वक कहने की सामर्थ्य मुझमें आयी है। **वल्लभेन** यानि प्रभु के प्रिय के रूप में प्रसिद्ध वल्लभ ने, और प्रिय होने के कारण ही प्रभु के रसात्मकस्वरूप के संयोगविप्रयोग एवं इनके अवान्तर भावों का अनुभव करने वाले वल्लभ ने, जीव में फलरूपभक्ति प्रकट हो जाने पर **संन्यासवरणं** यानि पुष्टिमार्गीयपरित्याग स्वीकार करने का प्रकार विशेषतया स्पष्ट करके या गुप्तरूप से कहा है/निर्धारित किया है; यदि इस प्रकार से **अन्यथा** करने जायेंगे यानि इस ग्रन्थ में कहे प्रकार को मन में निश्चय किए बिना अथवा भक्ति की फलरूपदशा तक पहुँचे बिना किसी अन्य प्रकार से संन्यास स्वीकार करेंगे, तो **पतित** होंगे यानि हमारे कहे स्वमार्गीयसंन्यास के फल से गिर जायेंगे और दोष के भागी भी होंगे- यह अर्थ है ॥22॥

श्रीविट्ठलेशचरणाब्जयुगानुगश्रीकल्याणरायतनयेन मुदा विचार्य ।
गोपेश्वरेण विहिता विवृतिर्वितन्यात् संन्यासनिर्णय इयं विदुषां विनोदम् ।।१।।

इतिश्रीश्रीगोकुलाधीशपदसरसिजसेवापथप्रवर्तकश्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जरजोणुशरणश्रीकल्याणरायात्मजश्रीहरिरायानुज श्रीगोपेश्वरविरचिता संन्यासनिर्णयविवृतिः [१]सम्पूर्णा ।।

श्रीविट्ठलेशचरणकमलयुगल के अनुगामी श्रीकल्याणरायपुत्र गोपेश्वर ने प्रसन्नतापूर्वक विचार करके संन्यासनिर्णय की विवृति की, जो विद्वानों के आनन्द को बढ़ाए ॥1॥

यह श्रीश्रीगोकुलाधीश के चरणकमलों के सेवामार्ग के प्रवर्तक श्रीवल्लभाचार्यचरणरेणु के शरणागत श्रीकल्याणराय के आत्मज और श्रीहरिरायजी के लघुभ्राता श्रीगोपेश्वर द्वारा विरचित संन्यासनिर्णय की विवृति सम्पूर्ण हुई।

१. गीर्भिगोपालदासस्य श्रीगोकुलनिवासिनः । गोपेश्वरेण विवृतिः कृता संन्यासनिर्णये ।।१।। इत्यधिकम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतः ।

स्वाचार्यवर्यचरणोदितभक्तिमार्गप्रारम्भकालिकजनत्यजनप्रकारम् ।
संन्यासनिर्णयमयं विवृणोति दासः श्रीबालकृष्णपदपद्मनिवेशितात्मा ।।१।।

अथ श्रीमदाचार्यचरणा यदा देहदेशपरित्यागविषयकं भगवदाज्ञाद्वयं पुरःस्फूर्तिकविचारेण न कृतवन्तः, तदा सेवकत्वात् पश्चात्तापे जाते, लोकत्यागविषयिण्यां भगवतस्तृतीयाज्ञायां जातायां, विचारितवन्तः, किं भगवान् मदुपर्यप्रसन्नोस्ति, नवेति । तत्र यद्यप्रसन्नः स्यात्, उपेक्षेतैव, न त्वाज्ञापयेद्, अतो द्वितीयैव कोटिः;

अपने आचार्यवर्यचरणों द्वारा बताए गए, भक्तिमार्गीय के प्रारम्भकाल में होने वाले त्याग का प्रकार बताने वाले इस संन्यासनिर्णयग्रन्थ का विवरण श्रीबालकृष्णचरणकमलों में समर्पितात्मा यह दास कर रहा है॥1॥

श्रीमदाचार्यचरणों ने जब देह-देश परित्याग सम्बन्धी भगवान की दो आज्ञाओं का पालन नहीं किया क्योंकि उन्हें आगे अभी कुछ कार्य करना शेष था; तब सेवक होने के नाते आपश्री को पश्चात्ताप हुआ; और जब उन्हें लोकत्याग करने की तीसरी भगवदाज्ञा हुई, तब आपश्री ने विचार किया- क्या भगवान मुझ पर अप्रसन्न हैं या नहीं हैं !! यदि अप्रसन्न होते तो मेरी उपेक्षा ही कर देते, मुझे तीसरी आज्ञा न करते, अतः सिद्ध होता है कि, भगवान मुझ पर प्रसन्न ही हैं।

परं तत्र किं कारणमिति विचारे सूक्ष्मटीकानिवृत्त्याऽतिसर्जनरूपदेशत्यागस्य, माधवभट्टकाश्मीरिनिवृत्त्योपचयरूपदेहत्यागस्य च भगवतैव कारितत्वात् पूर्वाज्ञयोर्देशदेहशब्दौ यौगिकाववगतौ । ततस्तदाज्ञाद्वयं भगवतानेन प्रकारेण साधितमित्येव कारणमिति निश्चित्य पूर्वाज्ञाद्वयवत्तृतीयस्या अपि दुर्ज्ञेयतां निश्चित्य, यद्यप्याज्ञाद्वयं सम्पन्नम्, तथापि स्वतस्तु न कृतम् । अतस्तदकरणजः पश्चात्तापः कथं निवर्तत इति विचारे करिष्यमाणाज्ञाविषयविचारादेव भगवान् निवारयिष्यतीति निश्चित्य स्वावस्थासूचनपूर्वकं परित्यागनिरूपणं प्रतिजानते पश्चात्तापेत्यादि ।

परन्तु आखिर इसका कारण क्या है कि, मैंने दो आज्ञाओं का पालन नहीं किया तथापि भगवान मुझ पर प्रसन्न ही हैं ! ऐसा विचार करने पर आपश्री ने यह निश्चय किया कि, इसलिए प्रसन्न हैं क्योंकि देखा जाय तो दोनों ही आज्ञाओं का पालन हो ही गया है । आज्ञापालन इस प्रकार हुआ कि, जब आचार्यचरणों की श्रीभागवत पर सूक्ष्मटीका नष्ट हो गयी, तो अतिसर्जनरूप 'देश' का त्याग हो गया; और जब माधवभट्टकाश्मीरी लीलास्थ हो गए, तो उपचयरूप 'देह' का त्याग हो गया। यानि सूक्ष्मटीका नष्ट होने के द्वारा 'देशत्याग' की पहली आज्ञा का पालन हो गया और माधवभट्टकाश्मीरि के लीलास्थ होने के कारण जब सुबोधिनीलेखन का कार्य रुक गया, तो इसके द्वारा 'देहत्याग' की दूसरी आज्ञा का भी पालन हो गया। अब यहाँ समझना यह है कि, इन दोनों परिस्थितियों के कारण दोनों आज्ञाओं का पालन किस प्रकार से हुआ। 'देश' शब्द 'दिश्' धातु से बना है, जिसका यौगिक-अर्थ होता है- अतिसर्जन यानि 'दान'। दान कर देने का अर्थ होता है- किसी वस्तु पर अपनी सत्ता न रहनी यानि वह वस्तु अपने पास न रहनी। तात्पर्य यह हुआ कि, जब सुबोधिनी की सूक्ष्मटीका नष्ट हो गयी, यानि आचार्यचरणों के पास न रही, तो इससे अतिसर्जनरूप 'देश' का परित्याग करने की आज्ञा का पालन हो गया। इसी प्रकार 'देह' शब्द 'दिह्' धातु से बना है, जिसका यौगिक-अर्थ होता है- उपचय। उपचय का अर्थ होता है- वृद्धि। तात्पर्य यह हुआ कि जिस सुबोधिनी के कार्य में माधवभट्टकाश्मीरि द्वारा लिखने की सहायता से निरन्तर वृद्धि हो रही थी, वह वृद्धि रुक गयी, यानि 'देश' परित्याग करने की आज्ञा का पालन हो गया। यों आचार्यचरणों को यह ज्ञात हुआ कि, इस प्रकार से भगवान ने दोनों ही आज्ञाओं का पालन उनसे करवा लिया है और यही कारण है कि वे मुझ पर अप्रसन्न नहीं हैं- ऐसा मन में निश्चय करके आपश्री ने यह सोचा कि, पहले की ही दो आज्ञाओं की भाँति इस तीसरी आज्ञा का भी तात्पर्य जानना बड़ा कठिन है, यह निश्चित करके आपश्री ने यह भी सोचा कि यद्यपि पहले की दोनों आज्ञाओं का पालन तो हो गया, तथापि, स्वयं आपश्री ने तो नहीं किया था, अतः उन दो आज्ञाओं का पालन न कर पाने के कारण जो पश्चात्ताप हुआ उसका निवारण अब कैसे किया जाय- जब ऐसा विचार आपश्री को आया, तब

आपश्री ने सोचा कि भगवान की तीसरी 'लोक' का परित्याग करने की आज्ञा के विषय में विचार करने के द्वारा ही भगवान मेरे पश्चात्ताप का निवारण करेंगे- ऐसा मन में निश्चय करके अपनी पश्चात्ताप वाली वर्तमान अवस्था बताते हुए परित्याग का निरूपण करने की प्रतिज्ञा आपश्री **पश्चात्ताप** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ।।१।।

अत्र केचित्[१] प्राञ्चो भक्तिमार्गीयपरित्यागेतरसर्वपदार्थान् विचार्य त्यागविचाराभावजनितस्वपश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागविचारप्रतिज्ञेत्याहुः ।

इसमें कुछ प्राचीन आचार्य प्रथमश्लोक का अर्थ *"पुष्टिभक्तिमार्गीयपरित्याग का स्वरूप क्या है- इस मुद्दे के अतिरिक्त आचार्यचरणों ने अभी तक पुष्टिमार्ग से सम्बन्धित समस्त पदार्थों का विचार कर लिया था, परन्तु पुष्टिमार्गीयपरित्याग के स्वरूप का विचार नहीं किया था अतः आपश्री को इस बात का पश्चात्ताप हुआ और अपने पश्चात्ताप की निवृत्ति करने के लिए आपश्री इस ग्रन्थ में पुष्टिमार्गीयपरित्याग का स्वरूप बताने कि प्रतिज्ञा **पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थम्** शब्द से कर रहे हैं"* - इस प्रकार से करते हैं।

[२]अन्ये तु कर्ममार्गीयाणां संसारवैराग्यस्य वार्धक्येप्यभावात् तत्सङ्गवशेन कदाचिद्भगवदीया अपि तादृशा मा भूवन्नित्येतदर्थं सुखोपायस्य संन्यासस्य निरूपणप्रतिज्ञेत्युक्त्वा, शरीरवैकल्ये जाते पूर्वदशां स्मृत्वा, मया पूर्वमेव भगवदर्थं किमिति न यत्नः कृत इतीदृशो यो भगवदीयानां तापः स पश्चात्ताप इत्याहुः ।

किन्तु दूसरे आचार्य पश्चात्ताप का अर्थ *"जिनकी केवल कर्ममार्ग में ही निष्ठा है, उनको भगवत्प्राप्तिरूप मुख्यफलसम्बन्ध न होता होने के कारण निरन्तर क्लेश होता देखा गया है और वृद्धावस्था में भी उन्हें उस क्लेश से जनित ग्लानि नहीं होती अतः ऐसों के संगदोष के कारण कभी भगवदीय भी उनके जैसे न हो जाएँ और भगवत्प्राप्ति से वंचित न रह जाएँ, तदर्थ आचार्यचरण ऐसी नौबत आ पड़े उसके पहले ही सुख का उपायरूप भक्तिमार्गीयसंन्यास का निरूपण कर रहे हैं-* ऐसा कहकर वे ये कहते हैं कि, *शरीर विकल हो जाने के पश्चात् अपनी पूर्व की यौवनावस्था का स्मरण करते हुए एतन्मार्गीयजीव यह सोचता है कि, अब तो शरीर जीर्ण हो गया अतः मैंने पहले ही भगवत्प्राप्ति के लिए यत्न क्यों नहीं किया ? इस प्रकार जो ताप भगवदीयों को होता है, उस पश्चात्ताप का स्वरूप आपश्री **पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं"* - इस प्रकार से करते हैं।

[३]इतरे तु भक्तिमार्गे ज्ञानमार्गे च साधनदशायां सिद्धदशायां च परित्यागः कर्तव्यत्वेनोक्तः, तत्राद्यायां पूर्णवैराग्याभावेन सम्यक्परित्यागासम्भवात् पाषण्डित्वप्रसङ्गेन पश्चात्तापायैव सः स्यात्, एतत्तारतम्यज्ञानाभावेन भगवदीया अपि पूर्वं परित्यजन्तः पश्चात्तप्ता भवेयुः, तथा तान् दृष्ट्वा स्वयमाचार्या अपि पश्चात्तापमाप्नुयुरिति तदुभयविधपश्चात्तापानुदयाय प्रतिज्ञेत्याहुः ।

दूसरे आचार्य पश्चात्ताप का अर्थ *"आपश्री का तात्पर्य यह है कि, भक्तिमार्ग एवं ज्ञानमार्ग में साधनदशा एवं सिद्धदशा दोनों दशाओं में परित्याग करना चाहिए। चूँकि साधनदशा में अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न न हुआ होने के कारण परित्याग का निर्वाह नहीं हो पाता और पाखंडी हो जाने की आपत्ति आती है, जिसके कारण किया हुआ परित्याग भी अंततोगत्वा पश्चात्ताप ही दिलाता है। साधनदशा एवं सिद्धदशा का अंतर न समझ पाने के कारण भगवदीय भी सिद्धदशा में पहुँचने के पहले ही सभी का परित्याग कर बैठेंगे और फिर बाद में पश्चात्ताप करेंगे, और उन्हें ऐसा देखकर स्वयं आचार्यचरणों को भी पश्चात्ताप होगा, अतः अन्यों को एवं स्वयं आचार्यचरणों को भी पश्चात्ताप न हो, इसके लिए आपश्री इस ग्रन्थ में परित्याग के वास्तविक स्वरूप का विचार कर रहे हैं-* इस प्रकार से करते हैं।

अपरे तु आचार्यैर्निबन्धे 'त्रिदण्डं परिगृह्णीत सर्वशास्त्राविरोधि त'दित्याज्ञापनात्तद्वीक्ष्य पुष्टिमार्गीयोपि तुरीयाश्रमत्वेन त्रेदण्डं परिगृह्णन् पश्चात्तापमाप्नुयाद्, अतस्तदनुदयाय पुष्टिमार्गीयसन्न्यासविचारारम्भ इत्याहुः ।

इनके अतिरिक्त अन्य आचार्य तो *"निबन्ध में आचार्यचरणों द्वारा कहे "सर्वशास्त्र अविरोधी त्रिदण्डसंन्यास ग्रहण करना चाहिए(सर्व-192)" इत्यादि वाक्यों को ग्रहण करके यहाँ पुष्टिभक्तिमार्ग में भी त्रिदण्ड संन्यास को ईष्टसाधन समझ जाने के भ्रम से जल्दबाजी में कोई पुष्टिमार्गीय भी चौथे आश्रम के रूप में त्रिदण्डसंन्यास ग्रहण कर लेगा और कालान्तर में उसे पश्चात्ताप करना पड़ेगा अतः उसे पश्चात्ताप करने की नौबत न आए, इसलिए आचार्यचरण पुष्टिमार्गीयसंन्यास पर विचार करना*

---

१. श्रीमद्गोकुलनाथचरणाः । २. श्रीमद्रघुनाथचरणाः । ३. श्रीगोकुलोत्सवाः । ४. श्रीद्वारकेश्वराः

आरम्भ कर रहे हैं"- ऐसा कहते हैं।

अन्ये तु श्रुत्यादिप्रमाणप्रतिपन्नस्य रसात्मकस्य भगवतो विरहात्मकभावानुभव: सर्वात्मभावप्रपत्त्येकलभ्य: सर्वपरित्यागं विना न सम्भवतीति तस्य त्यागस्य स्वरूपादिकमविदुषां ज्ञानादिमार्गेष्वपि परित्यागस्योक्तत्वात् सन्दिहानानां स्वीयानामविचारत: परित्याग: पश्चात्तापायैव भवेदिति तदभावाय विचारारम्भ इत्याहु: ।

कुछ आचार्य "*वेदादि समस्त प्रमाणों से प्रतिपादित रसात्मक श्रीपुरुषोत्तम के विरहानन्द के विविधभावों के वृन्द का अनुभव भगवान में सर्वात्मभावपूर्वक शरणागति लेने से ही प्राप्त होता है और सर्वपरित्याग करे बिना भगवान की शरणागति लेनी असंभव है अत: भक्तिमार्ग में परित्याग करना आवश्यक होता है। और, परित्याग कर्म-ज्ञान-भक्ति इत्यादि मार्गों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है अत: स्वमार्गीयपरित्याग की अतिविलक्षणता को न जान पाने वाले एवं उन-उन मार्गों के संशयों में फँसे रहने वाले निजमार्ग में अंगीकृतजीव जब बिना विचार किए परित्याग करते हैं, तो ऐसा परित्याग कालान्तर में उनके लिए पश्चात्ताप का ही हेतु बनता है, अत: स्वमार्गीय एवं अन्य मार्गों के प्रति रहे हुए समस्त संशयों को मिटाते हुए पश्चात्ताप को दूर करने के हेतु से श्रीमदाचार्यचरण परित्याग का विचार करना आरम्भ कर रहे हैं*- ऐसा कहते हैं।

मया तु तेषां परस्परविसम्मतिमवलोक्यान्त:करणप्रबोधग्रन्थस्थपश्चात्तापपरित्यागपदयोरत्र प्रत्यभिज्ञानात् स एव पश्चात्तापोत्र निवर्त्यत्वेनादृत इति न दोष: ।

मैंने तो इनकी सभी की परस्पर विसम्मति को देखकर यह विचार किया है कि, चूँकि आचार्यचरणों ने अन्त:करणप्रबोधग्रन्थ में कहे 'पश्चात्ताप' एवं 'परित्याग' इन दो शब्दों को ही यहाँ भी दोहराया है, अत: जान पड़ता है कि, उसी पश्चात्ताप का निवारण करने के विषय में आपश्री यहाँ कह रहे हैं, अत: मेरे कहे में कोई दोष नहीं है।

ननु भगवदाज्ञाया जातत्वात् तया तत्कर्तव्यताया: स्वयं च निश्चितत्वाद्विचारस्य किं प्रयोजनमत आहु: स इत्यादि विचारणेत्यन्तम् । स परित्याग: मार्गद्वितये प्रोक्त:, मार्गस्य द्वितयं मार्गद्वितयम् । अत्र संख्याया अवयवे तयबित्यनेन द्विशब्दादवयवे तयप् । अवयवशब्दश्च 'अङ्गं प्रतीकोवयव' इति कोशादङ्गाख्य एकदेशे रूढ:, सोत्र न सङ्गच्छते, सङ्ख्याया गुणत्वेन तत्र देशभेदस्य वक्तुमशक्यत्वात्, किन्तु 'सत्यं ह्यवयव: प्रोक्त: सर्वावयविनामिहे'ति द्वादशस्कन्धे उपादानकारणेपि प्रयुक्त इति तदत्र ग्राह्यम् । तथा च संख्याया: कारणं संख्येयं तदत्र वदति ।

किन्तु यहाँ एक सन्देह यह होता है कि, परित्याग करने के लिए भगवदाज्ञा तो हो गयी और भगवदाज्ञा का पालन तो करना ही है एवं आचार्यचरण भगवदाज्ञा का पालन करने का निश्चय भी कर चुके हैं, फिर इस ग्रन्थ में परित्याग के विषय में विचार करने की क्या आवश्यकता रह गयी ? तो आपश्री इसका समाधान **स** से लेकर **विचारणा** तक के शब्दों द्वारा दे रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं, परित्याग करने के लिए दो मार्गों में कहा गया है। यहाँ **'मार्गद्वितये'** का अर्थ है- 2 प्रकार का मार्ग होना। 'द्वितये' शब्द में "संख्याया अवयवे तयप्" इस सूत्र द्वारा 'द्वि' शब्द से अवयव अर्थ में तयप् प्रत्यय हुआ है, जिससे 'द्वितय' शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है- दो हैं अवयव जिसके। यानि 'मार्गद्वितये' का कुलमिलाकर अर्थ हुआ- मार्ग के 2 अवयव। किन्तु 'अवयव' शब्द का अर्थ तो "अंग प्रतीकोवयव('अवयव' शब्द के तीन अर्थ होते हैं- अंग,प्रतीक,अवयव)" इस कोशवाक्यानुसार यद्यपि अंगरूप अर्थ में रूढ है, यानि एक भाग के अर्थ में रूढ़ है, परन्तु यह अर्थ यहाँ संगत नहीं हो सकता क्योंकि संख्या गुण है और गुण में देशभेद नहीं किया जा सकता यानि कि उसके भाग नहीं किए जा सकते यानि पदार्थ में देशभेद किया जा सकता है परन्तु गुण में नहीं। अर्थात् संख्या को विभक्त करके उसका कोई एक भाग नहीं बताया जा सकता। हाँ, जिसकी संख्या बतायी जा रही है, उसको अवश्य विभक्त किया जा सकता है परन्तु संख्या को नहीं। उदाहरण के रूप में यदि कह दिया जाय कि दूध सफ़ेद है। इसमें दूध द्रव्य है और सफ़ेद उसका गुण। अब दूध को तो अलग-अलग किया जा सकेगा परन्तु उसमें से सफ़ेद को अलग नहीं किया जा सकता। साथ ही साथ 'अवयव' अर्थ करने पर एक आपत्ति यह भी आयेगी कि, तब उल्टा अर्थ यह हो जायेगा कि *ज्ञानमार्ग के दो अवयव हैं एवं भक्तिमार्ग के दो अवयव हैं अत: कुलमिलाकर चार प्रकार के मार्ग होते हैं, यानि ज्ञानमार्ग दो प्रकार का है और भक्तिमार्ग दो प्रकार का है अत: कुलमिलाकर चार प्रकार का परित्याग होता है*, ऐसा उल्टा अर्थ न हो जाय इसलिए श्रीपुरुषोत्तमचरण 'अवयव' शब्द का रूढ़ अर्थ ग्रहण नहीं कर रहे हैं ; इसलिए चूँकि ऊपर कहे अनुसार 'द्वितये' शब्द का 'अवयव' अर्थ नहीं किया जा सकता इसलिए अब चूँकि श्रीभागवत के "सत्यं ह्यवयव: प्रोक्त:(श्री0भा-12/4/27) इस वाक्य में 'अवयव' शब्द का अर्थ उपादानकारण(मूलकारण) किया गया है अत: हम भी यहाँ 'अवयव' शब्द का अर्थ 'उपादानकारण(मूलकारण)' लेंगे। इस प्रकार से

---

१. श्रीगोपेश्वरा: ।

वयव' का अर्थ होगा- मार्ग के उपादानकारण, यानि जिसकी संख्या 2 बतायी गयी है वह, यानि कि 'मार्ग'; मार्ग के उपादानकारण र्थात् ज्ञान और भक्ति। अब 'मार्गद्वितये' शब्द का कुल मिलाकर अर्थ हुआ- ज्ञान और भक्ति के अनुसार मार्ग 2 प्रकार का है और दोनों ार्गों के अनुसार परित्याग भी 2 प्रकार का होता है।

मासे मार्गस्येत्यभेदे षष्ठी, तेन मार्गाभिन्नौ यौ द्वित्वसंख्यासंख्येयौ तयो: प्रकर्षेणावश्यकर्तव्यत्वेनोक्त इत्यर्थ: ।

मार्गद्वितये' शब्द में अभेद अर्थ में षष्ठीसमास है। यद्यपि षष्ठीसमास अधिकतर भेद अर्थ को दिखाती है, परन्तु यहाँ अभेद-अर्थ में ष्ठीसमास समझनी चाहिए। यानि, मार्ग के तौर पर तो एक समान ही ऐसे 'ज्ञान' और 'भक्ति' इन दोनों मार्गों में विशेषरूप से वश्य परित्याग करने को कहा गया है।

त्र कौ तौ मार्गावित्यपेक्षायां, कुतश्च तत्रोक्त इत्यपेक्षायां चाहु: भक्तौ ज्ञाने विशेषत इति । भक्तिमार्गे आरम्भदशायां सेद्धदशायां च, ज्ञानमार्गे विविदिषादशायां विद्वद्दशायां च, वैराग्याद्यतिशयरूपं विशेषमभिप्रेत्योक्त इत्यर्थ: ।।१।।

अब वे दो मार्ग कौन से हैं और उनमें किस कारण से परित्याग करना बताया है, यह आचार्यचरण **भक्तौ ज्ञाने विशेषतः** इत्यादि ाब्दों से कह रहे हैं। इसका अर्थ है- भक्तिमार्ग में (1)आरम्भदशा में और (2)सिद्धदशा में; एवं ज्ञानमार्ग में (1)विविदिषादशा में और (2)विद्वद्दशा में परित्याग करना बताया गया है, यानि इन दोनों मार्गों में दो अवस्थाओं में परित्याग करना बताया गया है। **वेशेषतः** का अर्थ है- भक्तिमार्ग हो या ज्ञानमार्ग हो, दोनों ही मार्गों में जब मन में अतिशय वैराग्य जग जाये, तब ही परित्याग करना चाहिए ॥1॥

नु 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया, ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चे'त्येकादशस्कन्धे भगवद्वाक्यात् त्रयोपि योगा नृणां श्रेय:साधकत्वात्तुल्या इति कर्ममार्गे कुतो नोक्त इत्यत आहु: कर्ममार्ग इत्यादि ।

कर्ममार्गे न कर्तव्य: सुतरां कलिकालत: ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ।।२।।

वातुराश्रम्यपक्षेण यद्यपि कर्ममार्ग उक्तस्तथापि 'कर्मयोगस्तु कामिना'मिति भगवता तस्य कामाधिकारकत्वेनोक्तत्वात्परित्यागस्य च वैराग्याधिकारकत्वात्तत्र न कर्तव्य: । यद्यपि 'वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वाथ दु:खित' इत्यङ्गिरसा आतुरभयभीतयोरप्युक्तस्तथापि कलिकालत: कलिकालं प्राप्य सुतरां न कर्तव्य: । कलिवर्ज्येषु संन्यासस्यापि गणनादित्यर्थ: ।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, जब एकादशस्कन्ध के *"प्रिय उद्धव ! मैंने ही मनुष्यों का कल्याण करने के लिए ज्ञान-कर्म-भक्ति ये तीन प्रकार के योगों का उपदेश किया है(श्री0भा-11/20/6)"* इस भगवद्वाक्यानुसार कर्मयोग-ज्ञानयोग-भक्तियोग ये तीनों ही मनुष्यों के लिए श्रेयस्कर माने गये हैं, फिर कर्ममार्ग में परित्याग करना क्यों नहीं बताया गया ? तो इसका स्पष्टीकरण आपश्री **कर्ममार्गे** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं कि, यद्यपि कर्ममार्ग में चार आश्रमों(ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ और फिर संन्यास)का निर्वाह करने के रूप में परित्याग करना बताया गया है, तथापि "जिनके चित्त में कर्मों एवं उनके फलों से वैराग्य नहीं हुआ है, ऐसे सकामव्यक्ति कर्मयोग के अधिकारी हैं(श्री0भा-11/20/7)" इस श्लोकानुसार भगवान ने कर्ममार्ग को कामियों के लिए करना बताया है और परित्याग का अधिकार तो वैराग्य सिद्ध होने पर प्राप्त होता है अतः आपश्री आज्ञा करते हैं कि, कर्ममार्ग के अन्तर्गत परित्याग नहीं करना चाहिए। यद्यपि *"वनाद्वा प्रव्रजेत् विद्वान् आतुरो वाथ दु:खित:"* इस वाक्य में अंगिरा ऋषि ने भगवत्प्राप्ति के लिए आतुर और भयभीत(कदाचित् संसार से, परिवार से या विपरीत परिस्थितियों से भयभीत)को भी परित्याग करने का उपदेश दिया है, तथापि, **कालतः** यानि अभी वर्तमान में कलिकाल होने के कारण नहीं करना चाहिए। क्योंकि कलिकाल में जिन-जिन को वर्ज्य माना गया है, उनमें संन्यास की भी गणना की गयी है- यह अर्थ है।

तर्हि मास्तु कर्ममार्गे तस्य कर्तव्यता, तथापि यत्रोक्तस्तेनैव यथा कर्तव्यो, विचारस्य किं प्रयोजनमित्याकांक्षायामाहु: अत इत्यादि । अत: तत्तन्मार्गे तत्तद्दशायां परित्यागस्योक्तत्वात् भक्तिमार्गे आदौ आरम्भे कर्तव्यत्वमभिप्रेत्य विचारणा यथा कथञ्चित्सञ्जातभक्ते: पुंसो भक्त्युत्कर्षजनकश्रवणादिनिर्वाहार्था एका आरम्भदशा, तैरभ्यस्तैरासक्तिसिद्ध्यर्था द्वितीया, तदुत्तरं व्यसनसिद्ध्यर्था तृतीया, तत्र यस्यां दशायां कलिकालादिकृतदोषसम्बन्धो न भवति तदर्थं तदीयदशाफलस्वरूपप्रकारविचार: क्रियत इत्यर्थ: । एवं सार्धेन प्रयोजनमुक्तम् ।

यदि ऐसा है तो फिर प्रश्न यह होता है कि, चलो भले ही कर्ममार्ग में परित्याग करना संभव न होता हो, तथापि जिस मार्ग में परित्याग

करने का उपदेश दिया गया हो, उसी मार्गानुसार परित्याग कर लेना चाहिए, इसमें इतना सब विचार करने का क्या प्रयोजन है ? यदि ऐसी आकांक्षा हो, तो आचार्यचरण **अतः** इत्यादि शब्दों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। **अतः** का तात्पर्य है- चूँकि उन-उन मार्गों में अलग-अलग दशाओं में परित्याग करना बताया गया है, अतः **भक्तिमार्ग** में **आदौ** यानि आरम्भदशा में परित्याग करने के विषय में जब हम विचार करते हैं, तो यह समझना चाहिए कि जिस व्यक्ति में येनकेन प्रकारेण भक्ति उत्पन्न हुई है, उस मनुष्य की भक्ति के उत्कर्ष को पैदा करने वाली श्रवणकीर्तन इत्यादि करने वाली एक दशा है, जिसे आरम्भदशा कहा जा सकता है। श्रवणकीर्तन आदि का भलीभाँति निर्वाह हो जाने के पश्चात् आसक्ति सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील रहना भक्ति की दूसरी दशा है; और तत्पश्चात् व्यसन सिद्ध करने के लिए प्रयत्न करना भक्ति की तीसरी दशा है। इन तीनों दशाओं में से जिस दशा में कलिकाल आदि के द्वारा उत्पन्न किए दोष प्रभावी न हो सकते हों, उस दशा में परित्याग करने के लिए भक्ति की उस दशा में प्राप्त होने वाले फल, उसका स्वरूप एवं उसके प्रकार के विषय में आपश्री यहाँ विचार कर रहे हैं- यह अर्थ है। इस प्रकार डेढ़ श्लोक के द्वारा आपश्री ने परित्यागविचार का प्रयोजन बताया है।

अत्रायमर्थः । एकादशस्कन्धस्य सप्तदशेध्याये, 'यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् । स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तन्मे व्याख्यातुमर्हसी'त्युद्धवप्रश्ने चातुराश्रम्यं वदता भगवताष्टादशाध्याये 'इष्ट्या यथोपदेशं मा'मित्यादिभिः पञ्चदशभिः संन्यासाश्रमरूपः परित्याग उक्तः । तदनन्तरं भक्तिवैराग्ययोराधिक्ये 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः, सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर' इत्यादिभिः सार्धैर्दशभिरवैधश्च परित्याग उक्तः । अत्र च ज्ञानभक्तिमार्गिणोर्धर्माः समाना एव सङ्कीर्योक्ताः । एवं पूर्वोक्तेपि बोध्यम् । तथा 'न्यासे कुटीचकः पूर्वं बह्वोदो हंसनिष्क्रिया'विति चत्वारो भेदाः संन्यासस्य तृतीयस्कन्ध उक्ताः, तेन मार्गत्रयेपि तस्य कर्तव्यता ।

कर्ममार्गीयपरित्याग का निषेध करने का अर्थ यह है कि, एकादशस्कन्ध के सत्रहवें अध्याय में *"उद्धवजी ने पूछा- कृपा करके यह बतलाइये कि मनुष्य किस प्रकार से अपने धर्म का अनुष्ठान करे जिससे आपके चरणों में उसे भक्ति प्राप्त हो जाय?(श्री0भा-11/17/2)"* इस प्रकार से उद्धवजी के पूछने पर चारों आश्रमों के विषय में बताते हुए भगवान ने अठारहवें अध्याय में "इष्ट्या यथोपदेशं मां(श्री0भा-11/18/13)" इत्यादि पंद्रह श्लोकों द्वारा संन्यासाश्रमरूप परित्याग के विषय में बताया है। इसके पश्चात् जब जीव में भक्ति और वैराग्य बढ़ जाए, तब *"ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, मुमुक्षु और मोक्ष की भी अपेक्षा न रखने वाला मेरा भक्त आश्रम की मर्यादा में बँधा हुआ नहीं है। वह चाहे तो आश्रमों और उनके चिन्हों को छोड़कर वेद-शास्त्र के विधि-नियमों से परे होकर स्वच्छन्द विचरण कर सकता है(श्री0भा-11/18/28)"* इत्यादि साढ़े दस श्लोकों द्वारा उसे बिना विधि का परित्याग करना बताया है, यानि जिसका वर्णन शास्त्रों में नहीं है ऐसा परित्याग बताया है । इन साढ़े दस श्लोकों में भगवान ने ज्ञानमार्गीय और भक्तिमार्गीय दोनों ही प्रकार के परित्याग का समानरूप से वर्णन किया है अतः उक्त श्लोकों में दोनों ही मार्गों के परित्याग का मिलाजुला स्वरूप बताया है। इसी प्रकार पूर्व के एकादशस्कन्ध के अठारहवें अध्याय वाले श्लोकों में भी दोनों मार्गों के मिलेजुले परित्याग का वर्णन भगवान ने किया है- यह समझ लेना चाहिए। इसी प्रकार *"कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस- ये चार भेद संन्यासियों के हैं(श्री0भा-3/12/43)"* इस श्लोक द्वारा तृतीयस्कन्ध में संन्यास के चार भेद बताए गए हैं; इससे ज्ञात होता है कि, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग इन तीनों ही मार्गों में परित्याग करना बताया गया है।

यद्यपि कर्ममार्गे तृतीयस्य चतुर्थे पादे 'पुरुषार्थोतःशब्दा'दित्यधिकरणस्थे'ष्वाचारदर्शना'दित्यादिषु पञ्चसु सूत्रेषु वशिष्ठादीनां ब्रह्मविदामग्निहोत्रादिकर्मकरणाचारदर्शनात्, 'जनको ह वै बहु दक्षिणेन यज्ञेनेज' इति ब्रह्मविदोपि जनकस्य कर्मकरणश्रुते'स्तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चे'ति श्रुतौ विद्याकर्मभ्यां फलारम्भश्रावणात्, 'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा तं दर्शपूर्णमासयोर्वृणीत' इति कल्पश्रुतौ ब्रह्मविदोपि ब्रह्मत्वेनर्त्विक्त्वश्रावणात्, 'आश्विनं धूम्रललाममालभेत यो दुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासेत्, ऐन्द्राग्नं पुनरुत्सृष्टमालभेत य आतृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबेत्, विछिन्नो वा एतस्य सोमपीथो यो ब्राह्मणः सन्नातृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबति । यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुया'दित्यादिश्रुतिभिः कर्मकरणस्य नित्यताश्रावणात्, कर्मणश्च दम्पत्यधिकारकत्वाज्जैमिनिमते आश्रमपक्ष एव, यथा कथञ्चित्कर्मकरणाशक्तौ सर्वत्यागकरणम्, 'यदहरेवे'त्यादिश्रुतिस्तु कर्माशक्ततदनधिकार्यन्धपंग्वादिविषयेति न तद्वैयर्थ्यमिति कर्मविचारकजैमिनिसिद्धान्तात् कर्ममार्गे न कर्तव्यः ।

आगे बढ़ने से पहले ये जान लेना आवश्यक होगा कि, यहाँ चर्चा यह चल रही है कि कर्ममार्ग में संन्यास/परित्याग करना चाहिए कि नहीं। आचार्यचरणों का मत है कि कर्ममार्ग में संन्यास/परित्याग नहीं करना चाहिए। श्रीपुरुषोत्तमचरण यहाँ यह बता रहे हैं कि, जैमिनि ऋषि जो कि कर्म करने के पक्ष के हैं, परित्याग के पक्ष के नहीं, उनके सामने जब संन्यास/परित्याग करने का विधान करने वाली श्रुतियाँ लायी जायेंगी तो वे अपने मतानुसार उनका अर्थ कैसे करेंगे और कर्म करने के पक्ष को कैसे स्थापित करेंगे। इसमें आगे जैमिनि ऋषि के ही मत

के संदर्भ में श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने कई पूर्वपक्ष भी रखे हैं एवं उनका समाधान भी किया गया है, जिससे व्याख्यान विस्तृत हो गया है, परन्तु ध्यान ये रखना है कि इन सभी के पश्चात् अंततोगत्वा सिद्ध यही किया जायेगा कि, कलिकाल में कर्ममार्गीयपरित्याग करना संभव नहीं है अतः नहीं करना चाहिए। यद्यपि कर्ममार्ग में ब्रह्मसूत्र के तृतीयाध्याय के चतुर्थपाद में *"पुरुषार्थोतः शब्दात्(ब्रह्मसूत्र-3/4/1)"* इस अधिकरण में *"आचारदर्शनात्(ब्रह्मसूत्र-3/4/3)"* इत्यादि पाँच सूत्रों में ब्रह्मज्ञ-वसिष्ठजी आदि के लिए अग्निहोत्र आदि कर्माचरण करते होने की बात दिखाई देती है और यद्यपि *"जनको ह वै बहु"* इस वाक्यानुसार ब्रह्मज्ञ राजा जनक को भी कर्म करते होने की बात कही गयी है क्योंकि *"तं विद्याकर्मणी"* इस श्रुति के द्वारा विद्या और कर्म दोनों के द्वारा ही फलप्राप्ति आरम्भ होनी सुनी गयी है, यानि इन सभी स्थलों पर कर्म करने की बात बतायी गयी है; साथ ही साथ,*"ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा तं दर्शपूर्णमासयोर्वृणीत"* इस कल्पश्रुति(यज्ञ का विधि-विधान करने वाली श्रुति)में ब्रह्मज्ञ को ही यज्ञ में ब्रह्मा बनाने का विधान किया गया है। ब्रह्मस्वरूप को जान लेने वाले ज्ञानी को 'ब्रह्मज्ञ' कहते हैं। यज्ञ की संपूर्ण प्रक्रिया का निरीक्षण एवं निर्देश देने वाले को 'ब्रह्मा' कहा जाता है। ये कहने का फलितार्थ यह हुआ कि ब्रह्मज्ञ को भी आखिर कर्म करना ही बताया गया, परित्याग करना नहीं। और यद्यपि *"आश्विनं धूम्रललाममालभेत यो दुर्ब्राह्मणः सोम पिपासेत्"* इत्यादि श्रुतियों के अनुसार तो कर्ममार्गी को नित्यरूप से कर्म करने को कहा गया है; ये कर्म भी दंपति ही कर सकते हैं एवं जैमिनिऋषि के मतानुसार आश्रम में रहते हुए ही, और जब किसी भी प्रकार से कर्मों को करने में अशक्त हो जाएँ तभी उन्होंने सर्वत्याग करना बताया है, किन्तु तथापि यदि जैमिनी के इस मत में यदि कोई ये प्रश्न करे कि, फिर *"यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्= जिस क्षण वैराग्य उत्पन्न हो जाय, उसी क्षण गृहत्याग करके वन की ओर निकल जाना चाहिए(जाबालोपनिषत्-4)"* इस श्रुति का आप क्या अर्थ करेंगे, जो सर्वपरित्याग करने की बात कर रही है, कर्म करने की नहीं !! तो जैमिनी इसका स्पष्टीकरण यह देते हैं कि, जो कर्म करने में अशक्त हैं, या कर्म करने के अधिकारी नहीं हैं, या जो विकलांग हैं और कोई भी कर्म करने के लिए समर्थ नहीं हैं, ऐसों के लिए ही उपरोक्त सर्वपरित्याग करने वाली श्रुति लागू पड़ती है अतः मेरा(जैमिनि)मत इस श्रुति से विरुद्ध नहीं जाता। अतः कर्मविचारक जैमिनि के सिद्धान्तानुसार कर्ममार्ग में तो परित्याग नहीं करना चाहिए। यहाँ तक जैमिनि ऋषि का पक्ष था, अब आगे जैमिनि ऋषि के इसी मत का खंडन बताया गया है।

अथ 'तुल्यं दर्शन'मित्यादिसूत्रेषु शुकसंवर्तारुणिजडभरतदृष्टान्तेन दर्शनस्य साधारणतया कर्मावश्यकत्वासाधकत्वात्तेनैव त्र परित्यागस्यान्धपंग्वाद्यधिकारकत्वनिरासेन जैमिनिमते प्रव्राजश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात्, 'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुः ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे, एतद्ध स्म वैतत्पूर्वे विद्वांसोग्निहोत्रं न तुहवाञ्चक्रिरे','एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राजे'त्यादिभिर्बह्वीभिः श्रुतिभिः प्रव्राजबोधनेन कर्मकरणश्रुतेरसार्वत्रिकत्वनिश्चायनात् । 'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मे'त्यत्रापि ब्रह्मपदेन वेदस्याभिप्रेततया तद्विद एवार्त्विज्यबोधनेन या श्रुत्या ज्ञानस्य कर्मशेषताया आपादयितुमशक्यत्वात् ।

जब कोई जैमिनी ऋषि के उक्त कर्म करते रहने के मत में पूर्वपक्ष करके उसका खंडन करता है और कहता है कि, *"तुल्य दर्शनम्(ब्रह्मसूत्र-3/4/9)" इत्यादि सूत्रों में शुक, संवर्त, आरुणि और जड़भरत का दृष्टान्त दिया गया है और इन ब्रह्मज्ञानियों को भी कर्म करते देखा गया है, अतः ये कैसे कहा जा सकता है कि जो कर्म करने में अशक्त हैं वही परित्याग करते हैं, क्योंकि इन सभी ने तो परित्याग भी किया है, जबकि ये सभी कर्म करने में भी समर्थ थे !! और इसी बात से यह बात भी निराधार सिद्ध हो जाती है कि, जो विकलांग हैं और कोई भी कर्म करने के लिए समर्थ नहीं हैं, वे ही परित्याग करते हैं। इसलिए इन सभी विश्लेषणो से यह सिद्ध होता है कि, ऊपर कही "यदहरेव" श्रुति का कोई भी काट जैमिनी के पास अब नहीं है। साथ ही साथ "एतद्धस्म वै", एतावदरे खल्वमृतत्वमिति(बृहदा-4/5/14)" इत्यादि अनेक श्रुतियाँ "यदहरेव(जिस क्षण मन में वैराग्य जाग जाए, उसी क्षण परित्याग कर देना चाहिए)" इस श्रुति का ही बोध कराती हैं अतः यह निश्चित हो जाता है कि, कर्म करने का विधान करने वाली श्रुतियाँ सभी स्थलों पर कर्म करने का विधान नहीं करतीं यानि जो वैराग्य के अधिकारी हैं, उनके लिए कर्मश्रुति लागू नहीं पड़ती, वहाँ तो परित्याग आवश्यक बताया गया है। और साथ ही साथ, जैमिनि ने अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए जो "ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा" वाली श्रुति दी थी, तो उसमें भी हमारा कहना यह है कि, इस श्रुति में 'ब्रह्म' पद का अर्थ 'वेद' है, न कि 'ब्रह्म'; इसलिए इस श्रुति का अर्थ यह है कि, <u>"वेद के जानकार को ही ऋत्विक्(यज्ञ करने वाला)बनाना चाहिए"</u>, इसलिए जब वेद के जानकार ज्ञानी को ऋत्विक बनाने वाली बात कही गयी है तो सिद्ध हो जाता है कि ज्ञानी की प्रधानता है कर्म की प्रधानता नहीं है अतः इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस श्रुति के आधार पर ज्ञान को गौण और कर्म को श्रेष्ठ नहीं बताया जा सकता।*

'आश्विनं धूम्रललाम'मित्यादिषु कर्मनियमवत् 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु'रित्यादौ त्यागनियमस्यापि श्रावणेन रागोपाधिक एव कर्मनियम इति निश्चयेनाविशेषात्, उत्तरे वयसि तुरीयाश्रमतया द्रव्ययज्ञत्यागेपि जरामर्याग्निहोत्रश्रुत्या तत्सिद्धौ यावज्जीवाग्निहोत्रादिश्रुतेरप्यबाधाच्च जैमिन्युक्तदूषणपरिहारे जाते कर्ममार्गीयचातुराश्रम्यपक्षस्याक्षुण्णत्वात् कर्ममार्गे परित्याग: कर्तव्यत्वेनायाति,

इस फक्किका में भी पूर्वपक्षी द्वारा उक्त जैमिनी ऋषि के कर्म करते रहने के मत का खंडन ही है- यह ध्यान रखें। *और इनके अतिरिक्त "आश्विनं धूम्रललाम" इत्यादि श्रुतिवाक्यों में कर्म करने के नियम बताए जाते हैं और "कर्मों के द्वारा, धन के द्वारा मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती अपितु केवल त्याग करने से ही होती है(कैवल्योपनिषद्/2)" इत्यादि श्रुतिवाक्यों में तो त्याग करने का नियम भी होना सुना जाता है, अतः इन दोनों श्रुतियों में परस्पर आने वाले विरोध को दूर करने के लिए यहाँ यह समझना चाहिए कि इसमें पहली वाली श्रुति में कर्म करने का नियम तो केवल उनके लिए है, जिनमें सांसारिक पदार्थों के प्रति राग है; और दूसरी श्रुति जिसमें त्याग का नियम बताया गया है, वह उनके लिए है, जिनमें वैराग्य जग चुका है- इस प्रकार का निश्चय वहाँ किया गया है; और जहाँ तक आयु के अंतिम चरण में चौथा आश्रम संन्यास ले लेने के बाद द्रव्ययज्ञ (ऐसा यज्ञ जिसमें सामगी, द्रव्य, पदार्थ आदि की आवश्यकता होती है)का भले ही त्याग कर दिया हो, तथापि "जब तक वृद्धावस्था आ जाय, तब तक अग्निहोत्र करते रहना चाहिए" इस श्रुति के अनुसार वृद्धावस्था तक अग्निहोत्र किया जाता है और तत्पश्चात् जब वृद्धावस्था के कारण अग्निहोत्र करना संभव नहीं बनता, तब संन्यासी उस अग्नि को अपने भीतर आत्मसात कर लेता है और संपूर्ण यज्ञप्रक्रिया बिना किसी द्रव्य-सामग्री के उसके भीतर ही चलती रहती है, अतः इस ढंग से "जब तक जिएँ, तब तक अग्निहोत्र करते रहें" इस श्रुति से भी कोई विरोध नहीं आता। इस कारण जैमिनि ऋषि ने परित्याग करने में "चूँकि परित्याग में कर्म करने संभव नहीं होते अतः परित्याग नहीं करना चाहिए" यह दूषण बताया था, वह भी उपरोक्त समाधान द्वारा निरस्त हो जाता है, इसलिए कर्ममार्गीय चातुराश्रम्यपक्ष वाला परित्याग अक्षुण्ण बना रहता है और कर्ममार्ग में भी परित्याग करना कर्तव्यतया प्राप्त होता है।*

तथापि'अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकं, देवराच्च सुतोत्पत्ति: कलौ पञ्च विर्वजये'दिति वर्जनस्मृत्या कलिकालतस्तत्र न कर्तव्य: । यदि च, 'यावद् वर्णविभागोस्ति यावद्वेद: प्रवर्तते । संन्यासं चाग्निहोत्रं च तावत् कुर्यात् कलौ युगे'इति प्रतिप्रसवात् कर्ममार्गेपि कर्तव्यत्वं त्यागस्य विभाव्यते, तदापि जाबालश्रुतौ चातुराश्रम्यपक्षं पूर्वमुक्त्वा, तत: 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वाथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे'दिति समाप्तौ विरागस्यैव सर्वत्राधिकारत्वेन श्रावणात्, एकादशस्कन्धे 'यदा कर्मसु काम्येषु लोकेषु निरयात्मसु । विरागो जायते सम्यङ्न्यस्ताग्नि: प्रव्रजेत्तत' इत्यादिना वैराग्य एव तस्य पक्षस्य भगवता कथितत्वात् कलौ च सर्वधर्मशून्ये वैराग्यस्यासम्भवात् सुतरां न कर्तव्य: । अतश्चातुराश्रम्यपक्षेण प्राप्तस्येदानीमधिकाराभावाद्यदा ज्ञाननिष्ठा भक्तिनिष्ठा वा भवति, तदा तस्मिन्मार्गे कर्तव्य: ।

इस फक्किका में श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने उपरोक्त समस्त विवेचना के पश्चात् अंततोगत्वा कलिकाल में कर्ममार्गीयपरित्याग न करना सिद्ध कर दिया है। इतना सब कुछ होने पर भी देखा जाय तो *"अग्निहोत्रं गवालम्भनं...कलौ पञ्च विवर्जयेत्"* इस वाक्यानुसार वैसे तो यह सिद्ध हो ही जाता है कि कलिकाल में संन्यास लेने को वर्ज्य माना गया है अतः यह बात तो सिद्ध ही है कि, कलिकाल में कर्ममार्गीयपरित्याग नहीं किया जाना चाहिए, तथापि पूर्वपक्षी ने इस अपवाद का भी प्रतिप्रसव कहते हुए यह कहा कि, *"यावद् वर्णविभागोस्ति.....कलौ युगे"* इस वाक्यानुसार कलिकाल में भी परित्याग किया जा सकता है, फिर भी यहाँ समझने वाली बात यह है कि जाबालश्रुति में यद्यपि पहले तो चारों आश्रमों(ब्रह्मचर्य,गृहस्थ,वानप्रस्थ,संन्यास) में प्रवेश करने की बात कही गयी है एवं तत्पश्चात् समाप्ति में *"यदि वेतरथा(जाबालोपनिषद्-4)"* इस वाक्य द्वारा यह बताया गया है कि, वैराग्य ही सभी स्थलों पर जीव में अधिकार उत्पन्न करता है, वैराग्य जागे बिना परित्याग परिपूर्ण/संभव नहीं बन पायेगा, साथ ही साथ एकादशस्कन्ध में भी *"वानप्रस्थी को चाहिए कि जब उसकी समझ में यह बात आ जाय कि, काम्यकर्मों के फलस्वरूप जो लोक प्राप्त होते हैं वे नरकों के समान ही दुःखपूर्ण होते हैं और जब उसे मन से लोक-परलोक में पूरी तरह से वैराग्य हो जाय, तब वह संन्यास ले ले(श्री0भा-11/18/12)"* इस वाक्यानुसार वैराग्य जागने पर ही परित्याग का अधिकार प्राप्त होने की बात भगवान ने भी कही है और कलिकाल में तो समस्त धर्म समाप्त हो गए हैं, ऐसे में वैराग्य जागना तो असम्भव है, इस कारण भी सिद्ध होता है कि, कलिकाल में कर्ममार्गीयपरित्याग नहीं किया जा सकता । अतः भले ही चातुराश्रम्य(ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास)की प्रक्रिया द्वारा यद्यपि आयु के चौथे भाग में संन्यास/परित्याग करना प्राप्त होता भी हो, तथापि, इस कलिकाल में तो

कर्ममार्गीयपरित्याग का अधिकार नहीं मिलता इसलिए कर्ममार्गीयपरित्याग तो खैर नहीं ही किया जा सकेगा, परन्तु, हाँ... जब जीव में ज्ञान के प्रति निष्ठा या भक्ति के प्रति निष्ठा जग जाए, तब ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्ग के अनुसार परित्याग करना चाहिए।

तत्र स्वस्य भक्तिमार्गीयत्वेन भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वादादौ पूर्वं विचारणा तत्प्रकारचिन्ता क्रियते, तथा च स यद्येकस्मिन्नेव मार्गे उक्तः स्यात्, यदि वा मार्गत्रयेप्येकविध एवोक्तः स्यात्, तदा भगवदाज्ञावाक्ये सन्देहाभावान्न विचार्यः स्यात्, अस्ति तु सर्वत्रोक्तः, तत्र कः कीदृशो वा भगवदाज्ञाविषय इति निश्चेतुं विचार्यत इत्यर्थः ।।२।।

अब चूँकि आचार्यचरण स्वयं भक्तिमार्गीय हैं अतः हमें तो भक्तिमार्गीयपरित्याग करना है, इसलिए आपश्री पहले भक्तिमार्गीयप्रकारक परित्याग की चिन्ता/विचारणा कर रहे हैं; विचार करने का प्रयोजन यह है कि, परित्याग यदि तीनों में से किसी एक ही मार्ग में करना बताया गया होता, या फिर तीनों ही मार्गों में एक ही प्रकार से परित्याग करना बताया गया होता, तब तो आचार्यचरणों को जो भगवदाज्ञा हुई थी, उसमें उन्हें सन्देह न हुआ होता और उनको परित्याग के विषय में विचार करने की आवश्यकता भी न पड़ी होती, किन्तु भगवान ने तीनों मार्गों में परित्याग करना कहा है अतः परित्याग करने की भगवदाज्ञा कौन से मार्ग की है और वह परित्याग किस प्रकार का है- यह निश्चय करने के लिए आपश्री परित्याग के विषय में विचार कर रहे हैं- यह अर्थ है॥2॥

एवं प्रयोजनमुक्त्वा विचारमारभन्ते श्रवणादीत्यादि ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ।।३।।
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ।।४।।
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ।।५।।
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ।।६।।

श्रवणादीनां नवविधभक्तीनां प्रकर्षेण अविच्छेदेन सिद्ध्यर्थं परित्यागः कर्तव्यश्चेत् सः पक्षः नेष्यते नाङ्गीक्रियते । अयमर्थः । भगवता हि नृणां श्रेयोविधित्सया ज्ञानकर्मभक्तिरूपं मार्गत्रयमुक्तम्, निर्विण्णाः, कामिनः, न निर्विण्णा नातिसक्ताश्चेति यथायथं तदधिकारिणश्चोक्ता एकादशे 'योगास्त्रय' इत्यादिना । त्रिष्वपि संन्यासश्च तत्र निरूपितः । तथा'न कर्मणे'ति श्रुतौ च त्यागस्य अमृतत्वरूपं फलमुक्तम् ।

इस प्रकार से दो श्लोकों में परित्याग के विषय में विचार करने का प्रयोजन बता कर अब **श्रवणादि** इत्यादि शब्दों से उसका विचार करना आरम्भ कर रहे हैं।

श्लोक का अर्थ है- भक्ति के श्रवणकीर्तन आदि नवविध प्रकारों को निरन्तररूप से करने के लिए यदि परित्याग करना चाहें, तो आपश्री को वह पक्ष स्वीकार्य नहीं है। इसका अर्थ यह है कि, भगवान ने मनुष्य का कल्याण करने की इच्छा से ज्ञान-कर्म-भक्ति ये तीन प्रकार के मार्ग बताए हैं। इन मार्गों के अधिकारी भी यानि (1)संसार से वैराग्य रखने वाले(2) कामी (3) न वैरागी और न ही कामी, यों जो जैसे प्रकार का हो, वैसे अधिकारी भी भगवान ने *"प्रिय उद्धव! मैंने ही मनुष्यों का कल्याण करने के लिए ज्ञान-कर्म-भक्ति ये तीन प्रकार के योगों का उपदेश किया है(श्री0भा-11/20/6)"* इस वाक्य द्वारा बताए हैं। इसी श्लोक के बाद भगवान ने तीनों प्रकार के अधिकारियों के लिए संन्यास का स्वरूप भी बताया है। उसी प्रकार *"भगवत्प्राप्ति न अपने पुण्यकर्म से हो सकती है, न अपने पुत्रों के कर्मों के बल पर, न धन से किन्तु केवल समस्त सुखों का परित्याग कर देने से एवं सभी कुछ प्रभु को अर्पण कर देने से ही होती है(महानारा0 उप-9/5)"* इस श्रुति में त्याग से प्राप्त होने वाले फल को अमृतस्वरूप फल भी बताया गया है।

तच्च फलं मार्गादेव, न तु केवलात् त्यागात्, त्यागस्य तत्तन्मार्गाङ्गत्वेन तत्र फलश्रुतेरर्थवादत्वस्यैव विचारितत्वात् । 'यत्र योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः, व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपी'ति वाक्ये त्यागमात्रेण स्वप्राप्त्यभावस्य भगवता

---

१. 'मार्गद्वये' इति पाठः ।

कथनाच्च । अतस्तस्य कथञ्चिदुपकारकत्वमेव । तत्राधिकारश्च वैराग्यात्, तद्यथा यथोत्कृष्यते तथा तथा त्यागो मार्गस्योपकरोति ।
किन्तु यह अमृतस्वरूप फल केवल त्याग करने से प्राप्त नहीं होता अपितु त्याग तो उन-उन मार्गों का केवल अंगभूत है, मुख्य कार्य तो मार्ग से सिद्ध होगा, इसलिए इन श्रुतियों में त्याग की जो भी प्रशंसा की गयी है, वह केवल अर्थवाद के रूप में जाननी चाहिए, यानि जीव का उस मार्गानुसार परित्याग की ओर रुझान कराने मात्र के प्रयोजन से कही गयी है, यह जानना चाहिए। भगवान ने भी *"हे उद्धव! बड़े बड़े प्रयत्नशील साधक भी योग, सांख्य, दान, व्रत, तपस्या, संन्यास आदि साधनों द्वारा मुझे प्राप्त नहीं कर सकते(श्री0भा-11/12/9)"* इस श्लोक द्वारा यह बताया है कि, केवल त्याग से ही उनको प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः यह सिद्ध होता है कि, इन मार्गों में त्याग केवल कुछ मात्रा में ही उपकारी होता है। और त्याग का अधिकार भी वैराग्य से आता है, जैसे जैसे वैराग्य दृढ होता चला जाता है, वैसे वैसे त्याग भी मार्ग में उपकारी बनता चला जाता है।

तस्योत्कर्षश्च कथं स्यादिति विचारे केवलादृष्टमात्रेण तदसम्भवान्मार्गानुकूला दृष्टसामग्री श्रवणाद्यविच्छेदरूपा ग्राह्या । अतस्तत्सिद्ध्यर्थं त्यागः कर्तव्यश्चेत्, स पक्षो नात्रेष्यते, न भगवन्मतेङ्गीक्रियते ।
अब वैराग्य कैसे दृढ बनेगा, यह विचार किया जाय, तो ऐसा तो नहीं है कि वैराग्य अपने आप दृढ हो जाता है अतः जिस मार्ग के अन्तर्गत वैराग्य लिया हो, उस मार्ग के अनुकूल निर्बाधरूप से किए जाने वाले श्रवणकीर्तन से वैराग्य दृढ होता है, यह मानना चाहिए- ऐसा विचार करके निर्बाधरूप से श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के लिए यदि कोई त्याग करना चाहता हो, तो वह पक्ष भी आचार्यचरणों को इष्ट नहीं है, यानि भगवान ने इस पक्ष को स्वीकार नहीं किया है, इसलिए आचार्यचरणों को इष्ट नहीं है।

अयमर्थः । भगवता हि 'यदा कर्मविपाकेष्वि'त्यादिभिः साधनदशापन्नस्य परित्यागकथने अटनमेव तस्योक्तम्, न तु क्वचित्स्थित्वा श्रवणादिकरणम्, ततो 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षक' इत्यादिभिः सार्धैर्नवभिः परित्यागं सिद्धदशापन्नयोर्ज्ञानिभक्तयोरुक्त्वा ततो ज्ञाननिष्ठस्यापरोक्षज्ञानाभावे 'दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान्,''अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपव्रजेत् । तावत्परिचरेद्भक्त्या श्रद्धावाननसूयकः, यावद् ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृत' इति द्वाभ्यां विविदिषासंन्यासोपि संगृहीतः । ततो 'यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः, ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति । सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा । अविपक्वकषायोस्मादमुष्माच्च विहीयत' इति द्वाभ्यां ज्ञानवैराग्यराहित्ये अविपक्वकषायत्वाल्लोकद्वयहानिरुक्ता ।
इसका अर्थ यह है कि, भगवान ने भी *"वानप्रस्थी को चाहिए कि जब उसकी समझ में यह बात आ जाय कि, काम्यकर्मों के फलस्वरूप जो लोक प्राप्त होते हैं वे नरकों के समान ही दुःखपूर्ण होते हैं और जब उसे मन से लोक-परलोक में पूरी तरह से वैराग्य हो जाय, तब वह संन्यास ले ले(श्री0भा-11/18/12)"* इत्यादि वाक्यों के द्वारा भक्ति की साधनदशा की कोटि में आने वाले जीव के लिए परित्याग करने की प्रक्रिया में उसे भ्रमण ही करते रहना बताया है, किसी एक स्थल पर टिक कर श्रवणकीर्तन करना नहीं। इसके पश्चात् भगवान ने *"ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, मुमुक्षु और मोक्ष की भी अपेक्षा न रखने वाला मेरा भक्त आश्रम की मर्यादा में बँधा हुआ नहीं है। वह चाहे तो आश्रमों और उनके चिन्हों को छोड़कर वेद-शास्त्र के विधि-नियमों से परे होकर स्वच्छन्द विचरण कर सकता है(श्री0भा-11/18/28)"* इत्यादि साढ़े नौ श्लोकों में कहे साधनों द्वारा भक्ति की सिद्धदशा में पहुँच जाने वाले ज्ञानीभक्त को परित्याग करने का उपदेश देकर, इसके पश्चात् ज्ञाननिष्ठ भक्त को जब अपरोक्षज्ञान(साक्षात्कार)नहीं हुआ होता, तब तक के लिए उसे गुरु की शरण लेना बता कर *"जितेन्द्रिय पुरुष को जब यह निश्चय हो जाय कि संसार के विषयों के भोग का फल दुःख ही है, तब वह विरक्त हो जाय और यदि वह मेरी प्राप्ति के साधनों को न जानता हो, तो भगवच्चिन्तन में तन्मय रहने वाले ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण ग्रहण करे। वह गुरु की दृढ भक्ति करे, श्रद्धा रखे और उनमें दोष कभी भी न निकाले। जब तक ब्रह्मज्ञान हो, तब तक आदरपूर्वक गुरु के रूप मुझे ही समझ कर उनकी सेवा करे(श्री0भा-11/18/38,39)"* इन दो वाक्यों द्वारा विविदिषासंन्यास को भी गिन लिया है। इसके पश्चात् *"किन्तु जिसने पाँच इन्द्रियाँ और मन, इन छहों पर विजय प्राप्त नहीं की है, जिसके इन्द्रियरूप घोड़े और सारथिरूप मन बिगड़े हुए हैं, और जिनके हृदय में न ज्ञान है और न ही वैराग्य, वह यदि त्रिदण्डी संन्यासी का वेष धारण कर पेट पालता है, तो संन्यासधर्म का सत्यानाश ही कर रहा है(श्री0भा-11/18/40)"* इन दो श्लोकों द्वारा यह बताया है कि, यदि ज्ञान और वैराग्य न जागा हो, यानि जिसके कर्म या दोष अभी पूरी तरह से पके नहीं हैं(यानि जिसके मन में कर्म करने की इच्छा अभी शेष है, जिसका अन्तःकरण अभी पूर्णरूप से शुद्ध नहीं हुआ है)वह यदि परित्याग करता है, तो उसके लौकिक-पारलौकिक दोनों की हानि हो जायेगी।

भक्तिमार्गीयस्य तु साधनदशायां संन्यासे किमप्यधिकं नोक्तम्, किन्तु 'भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसे'त्यादिद्वाभ्यां संक्षेपेण

चातुराश्रम्यधर्ममुक्त्वा 'इति मां य: स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक् । सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढा'मिति फलोक्तिपूर्वकं चातुराश्रम्यधर्मनिरूपणमुपसंहृतम् । तेन भक्तिमार्गीयस्यापि तत्र सन्निहितो भिक्षुधर्म एव मुख्य इति सिध्यति । एवं सति यदि श्रवणाद्यर्थं संन्यास: क्रियेत, तत्स्वरूपेण तद्धर्मैश्च विरोध: स्यादित्याशयेन प्रथमं संन्यासस्वरूपविरोधात्मकं दोषं व्युत्पादयन्ति सहायेत्यादि ।

किन्तु भक्तिमार्गीय के लिए साधनदशा में संन्यास लेने के विषय में भगवान ने कुछ अधिक नहीं कहा है, अपितु *"संन्यासी का मुख्यधर्म है- शान्ति और अहिंसा(श्री0भा-11/18/42)"* इन दो श्लोकों द्वारा संक्षिप्तरूप से चतुर्थाश्रम के धर्मों को कहकर *"जो पुरुष इस प्रकार अनन्यभाव से वर्णाश्रमधर्म के द्वारा मेरी सेवा में लगा रहता है और समस्त प्राणियों में मेरी भावना करता है, उसे मेरी अविचल भक्ति प्राप्त हो जाती है(श्री0भा-11/18/44)"* इस वाक्य द्वारा उसका फल कहकर चतुर्थाश्रमधर्म का निरूपण करके भक्तिमार्गीयसंन्यास की चर्चा समाप्त कर दी है। इन सभी विश्लेषणों से यह सिद्ध होता है कि, भक्तिमार्गीय के लिए भी उपर्युक्त श्लोकों में बताया गया भिक्षुधर्म ही मुख्य है। इस परिस्थिति में यदि वह श्रवणकीर्तन आदि सिद्ध करने के उद्देश्य से संन्यास लेता है, तो भक्तिमार्गीयसंन्यास के वास्तविक स्वरूप से एवं उसके धर्मों से विरोध आयेगा- इस आशय से आचार्यचरण सबसे पहले संन्यास के स्वरूप से विरुद्ध जाने वाले दोष का **सहाय** इत्यादि शब्दों से विवरण कर रहे हैं।

संन्यासस्वरूपं हि जाबालश्रुतौ 'तद्वैके प्राजापत्या'मित्यारभ्य 'एवमेवैतद्भगव'न्नित्यन्तेनोक्तम्, तदेवैकादशस्कन्धे 'इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्वा सर्वस्वमृत्विजे । अग्नीन्स्वप्राण आवेश्य निरपेक्ष: परिव्रजे'दित्यनेनोक्तम् । तथा सति 'अग्न्युपचयनं कृत्वा जीवश्राद्धविधानत:' श्राद्धाष्टकं विधाय प्राजापत्यामिष्टिं कृत्वा मन्त्रेणाग्नीन् स्वप्राण आवेश्य नैरपेक्ष्येण सर्वत्र परिभ्रमणमिति सिध्यति । श्रवणादिकं तु सहायसङ्गसाध्यम्, सहाय: समानशीलतया सहकारी, तत्सङ्गेन साध्यम् । नहि श्रावयितारं विना श्रवणं सिध्यति, न वा श्रोतारं विना कीर्तनम् । तौ च नैतेन सह परिभ्रमत इति न श्रवणकीर्तनयो: सिद्धि: ।

संन्यास का स्वरूप तो जाबालश्रुति में *"तद्वैके प्राजापत्याम्(4)"* इस श्रुति से आरम्भ करके *"एवमेवैतद्भगवन्(4)"* इस श्रुति तक कहा गया है। उसी प्रकार एकादशस्कन्ध में *"जो वानप्रस्थी संन्यासी होना चाहे, वह पहले वेदविधि द्वारा आठों प्रकार के श्राद्ध करे और प्राजापत्य यज्ञ से मेरा यजन करे। इसके बाद अपना सर्वस्व ऋत्विकों को दे दे। यज्ञाग्नियों को आत्मसात कर ले और फिर किसी भी स्थान, वस्तु और व्यक्तियों की अपेक्षा न रखता हुआ स्वच्छन्द विचरण करे(श्री0भा-11/18/13)"* इस वाक्य द्वारा भी कहा गया है। इन वाक्यों के अनुसार संन्यास का स्वरूप तो *"अग्न्युपचयनं कृत्वा"* इस श्रुति के अनुसार श्राद्धाष्टक(?) करके, प्राजापत्य होम करके मन्त्र द्वारा अग्नि को अपने प्राणों में आविष्ट कराके निरपेक्षता से सर्वत्र परिभ्रमण करना सिद्ध होता है। ऐसी परिस्थिति में श्रवण आदि कैसे सिद्ध हो सकेंगे; अतः आपश्री आज्ञा करते हैं- श्रवणकीर्तन आदि तो सहाय संगी-साथियों के सहयोग से सिद्ध होते हैं; **सहाय** का अर्थ है- अपने समान जिसका आचरण हो, ऐसा सहकारी व्यक्ति; यानि ऐसे सहकारी व्यक्ति के संग द्वारा सिद्ध हो सकते हैं। क्योंकि वक्ताओं के बिना श्रवण सिद्ध नहीं हो सकता और न ही श्रोताओं के बिना कीर्तन ही। अब वक्ता और श्रोता दोनों ही ऐसे परित्यागी के संग तो परिभ्रमण करेंगे नहीं, अतः श्रवण-कीर्तन सिद्ध नहीं हो पायेंगे।

प्रवृत्त्यर्थमिति पाठे तु प्रकर्षेण वृत्तिर्विद्यमानतेति पूर्वोक्त एवार्थ: । अथैतेन सह परिभ्रमतस्तदा नैरपेक्ष्येण सर्वत्रैकाकिपरिभ्रमणरूपं संन्यासस्वरूपं विरुन्ध: (स नेष्यत इत्यर्थ: ।) किञ्चेदानीमुत्कटमेधाविशेषाभावात् श्रुतमपि स्वरूपलीलादिकं न हृदि तिष्ठतीति तत्स्थित्यर्थं पुस्तकादिकं रक्षणीयम्, अर्चनार्थं तदुपकरणमपि रक्षणीयम्, तदपि नैरपेक्ष्यं विरुणद्धि । अत: श्रवणादीनां सहायसङ्गसाध्यत्वात्तत्साधनानां रक्षणाच्च संन्यासस्वरूपविरोधत: स नेष्यत इत्यर्थ: ।

यदि **श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थम्** के स्थान पर **श्रवणादिप्रवृत्त्यर्थम्** पाठ मान लिया जाये, तो 'प्रवृत्ति' शब्द का अर्थ होता है- विशेषरूप से किसी वस्तु को करना अर्थात् श्रवणादि में विशेषरूप से प्रवृत्त होने के उद्देश्य से यदि कोई संन्यास लेना चाहे, तो पूर्व में ही किए अर्थ की भाँति यह आचार्यचरणों को स्वीकार्य नहीं है। और यह भी है कि, यदि संन्यासी के साथ वक्ता और श्रोता भी परिभ्रमण करें, तो यह बात सर्वत्र अकेले ही परिभ्रमण करने वाले संन्यास के नियम से विरुद्ध हो जायेगी। अतः आचार्यचरणों को उक्त उद्देश्य से संन्यास लेना स्वीकार्य नहीं है। और एक बात यह भी है कि, अभी इस समय तो उसकी भक्ति की साधनावस्था चल रही होती है, अतः इस समय विशेषरूप से उत्कट बुद्धि उत्पन्न न हुई होने के कारण उसने भगवान के स्वरूप, उनकी लीला के बारे में जो भी श्रवण किया है, वह उसके हृदय में टिक भी नहीं पाता, अतः उन सभी को हृदयारूढ़ करने के लिए उसे पुस्तक, ग्रन्थों इत्यादि की भी व्यवस्था

करनी पड़ेगी, प्रभु की अर्चना करने के लिए तदुपयोगी उपकरण भी सम्भाल कर रखने पड़ेंगे, और यह सभी कुछ निरपेक्षरूप से परिभ्रमण करने के नियम से विरुद्ध जायेगा। अतः श्रवणकीर्तन आदि चूँकि सहायक संगी साथी के साथ ही करने संभव हो सकते हैं और चूँकि श्रवणकीर्तन करने के साधनों की भी संभाल रखनी आवश्यक है अतः यह सभी कुछ संन्यास के स्वरूप से विरुद्ध जाता होने के कारण आचार्यचरण आज्ञा कर रहे हैं कि, श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के उद्देश्य से संन्यास लेना स्वीकार्य नहीं है- यह अर्थ है।

यद्वा, 'यस्त्वसंयतषड्वर्ग' इति द्वाभ्यामसंयतषड्वर्गस्य त्रिदण्डोपजीवने बाधकं कथयता भगवता पूर्वोक्तत्रिदण्डिसाधनरक्षणं सूच्यते, तद्रक्षणं च 'एकश्चरेन्महीमेता'मित्यादिभिर्ये धर्मा: पूर्वमुक्तास्ते एव कर्तव्यत्वेन सिध्यन्ति, न तु श्रवणादिकम्, एकचरणे सहायसङ्गाभावात्, सत्यपि सहायसङ्गे स्थिते: कर्तुमशक्यत्वात् ।

अथवा, *"किन्तु जिसने पाँच इन्द्रियाँ और मन, इन छहों पर विजय प्राप्त नहीं की है, जिसके इन्द्रियरूप घोड़े और सारथिरूप मन बिगड़े हुए हैं, और जिनके हृदय में न ज्ञान है और न ही वैराग्य, वह यदि त्रिदण्डी संन्यासी का वेष धारण कर पेट पालता है, तो वह संन्यासधर्म का सत्यानाश ही कर रहा है(श्री0भा-11/18/40)"* इन दो श्लोकों के द्वारा असंयतषड्वर्ग व्यक्ति(जिसकी पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन अभी संयत नहीं हो पाया है)के लिए त्रिदण्डपरित्याग को बाधक बताते हुए भगवान ने सबसे पहले त्रिदण्डसंन्यास के साधनों का रक्षण करना सूचित किया है और उन साधनों का रक्षण तो *"भगवान ने कहा- संन्यासी को पृथ्वी पर अकेले ही विचरण करना चाहिए। उसकी कहीं भी आसक्ति न हो, सभी इन्द्रियाँ वश में हों। प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी धैर्य रखे(श्री0भा-11/18/20)"* इत्यादि श्लोकों के द्वारा जो धर्म कहे गए, उन्हीं धर्मों को करने से सिद्ध होता है, श्रवणकीर्तन करने से नहीं क्योंकि जब अकेले विचरण किया जायेगा, तब सहायक संगीसाथी तो मिलेंगे नहीं, और यदि मिल भी जाएँ तब भी संन्यासी को किसी के भी संग रहना निषिद्ध होता है अतः वह उनके संग रहते संन्यास के धर्मों का पालन नहीं कर पायेगा, क्योंकि संन्यासी को तो चलते ही रहना है, किसी भी स्थान पर टिकना नहीं होता और श्रवणकीर्तन तो बिना एक स्थान पर बैठे हो नहीं पायेंगे- यह अर्थ है।

तथा च संन्यास उक्तानां साधनानां संन्यासे अवश्याचरणात् । एवं सत्यत एव परस्परस्वरूपविरोधेन तथेत्यर्थ: । यद्यपि मूले स्वरूपविरोधत इति पदं नास्ति, तथाप्यग्रे तद्धर्मैश्च विरोधत इति चकारदर्शनात् मयैवं व्याख्याने समुचित इति न दोष: ।

और संन्यास में जिन साधनों को करना बताया गया है, उनका संन्यास में पालन करना आवश्यक होता है, इसलिए इस ढंग से तो श्रवणकीर्तन एवं संन्यास दोनों के स्वरूपों में परस्पर विरोध आयेगा, इस कारण आचार्यचरण **तद्धर्मैश्च विरोधतः** यों कह रहे हैं। यद्यपि देखा जाए तो मूलश्लोक में "श्रवणकीर्तन का **संन्यास के स्वरूप से विरोध** होता होने के कारण श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के उद्देश्य से संन्यास नहीं लेना चाहिए" इस प्रकार से **संन्यास के स्वरूप से विरोध** यों स्पष्टरूप से आचार्यचरणों ने नहीं कहा है, तथापि, आपश्री ने "तद्धर्मैश्च विरोधतः" इस पद में **'च'** पद दिया गया है, इसलिए मैंने अपने व्याख्यान में "**संन्यास के स्वरूप से विरोध होने के कारण**" इस प्रकार से 'संन्यासस्वरूप' पद को भी समाविष्ट करके अर्थ किया है, अतः इस प्रकार से अर्थ करने में कोई दोष नहीं है।

अथ त्रिदण्डिनोपि चातुर्मास्य एकत्रस्थिते: स्मरणात् भगवतापि 'विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशय' इति कथनात् साधनरक्षणपूर्वकं स्थित्वा श्रवणादिसाधने को दोष इत्याकांक्षायां परस्परधर्मविरोधरूपं दोषान्तरं व्युत्पादयन्ति अभिमानादित्यादि । अभिमानो गर्व:, अहन्ताममतात्मको वा, तस्मात्, स्थितौ हि, तत्र 'भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान् वर्जयंश्चरेत्, सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता । बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यत: । विभज्य याचितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृत'मिति द्वाभ्यामेको भिक्षाप्रकार उक्त: । तत्र सप्तागारेषु कस्यचित् दुष्टान्ने प्राप्ते तद्दोषमज्ञात्वा च तस्य भक्षणे कृते विविदिषादशायामिव श्रवणादिसाधनदशायामपि ग्रन्थादिपक्षपातेन शरीराभिमत्या च प्रतिवादिनिराकरणार्थं पारुष्यावमानयो: सम्भवात् । 'अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चने'ति संन्यासधर्मेषु भगवदुक्तस्यातिक्रमेण तद्धर्मविरोध: ।

अब एक शंका यह होती है कि, त्रिदण्डी संन्यासी को भी चातुर्मास में तो एक ही स्थान पर रहना बताया गया है, एवं भगवान ने भी *"संन्यासी को निर्जन और निर्भय स्थान पर रहना चाहिए। उसका हृदय निरन्तर मेरी भावना से शुद्ध रहना चाहिए और निरन्तर मेरा चिन्तन करते रहना चाहिए(श्री0भा-11/18/21)"* यह कहा है, अतः इस श्लोक में कहे अनुसार त्रिदण्डसंन्यास के साधनों की रक्षा करते हुए श्रवणकीर्तन आदि सिद्ध करने में क्या दोष है ? तो आचार्यचरण संन्यास और श्रवणकीर्तनप्रक्रिया इन दोनों के धर्म एकदूसरे से विरुद्ध जाने वाले अन्य दोष को **अभिमातात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **अभिमान** का अर्थ है- गर्व करना; या अहन्तामममता होनी; इससे

आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, जब एक स्थान पर टिक कर रहेंगे, तो *"संन्यासी को चाहिए कि जातिच्युत एवं गोघाती आदि पतितों को छोड़कर चारों वर्णों की भिक्षा ले। केवल अनिश्चित सात घरों से जितना मिल जाय, उतने से सन्तोष कर ले। भिक्षा लेने के पश्चात् जलाशय पर जाय और हाथ-पैर धोकर जल से भिक्षा पवित्र कर ले। फिर शास्त्रोक्त पद्धति के द्वारा जिन्हें भिक्षा का भाग देना चाहिए उन्हें देकर मौन रहकर शेष बचा ग्रहण कर ले(श्री0भा-11/18/18)"* इन दो श्लोकों के द्वारा जो भिक्षा माँगने का प्रकार कहा गया है, उसमें सात घरों में से भिक्षा माँगने के प्रकार में यदि किसी के घर से दुष्ट अन्न प्राप्त हो गया और उसके दोष को न समझते हुए यदि दुष्ट अन्न खा लिया तो जिस प्रकार से ज्ञान की कच्ची दशा में विविदिषासंन्यास लेने में जो दोष लागू हो जाते हैं, उसी प्रकार से श्रवणकीर्तन वाली भक्ति की साधनावस्था में किए जाने वाले इस परित्याग में भी (1)ग्रन्थादि के पक्षपात से, (2)शरीराभिमान के कारण या (3)प्रतिवादी के मत का निराकरण करने में कठोर वचन/अपमानजनक वाणी कहने के द्वारा दोष आ जाता है। और संन्यास के धर्म तो *"संन्यासी को चाहिए कि उसमें इतना धैर्य हो कि, वो अपनी निन्दा को सहन कर ले और किसी का भी अपमान न करे(श्री0भा-11/18/31)"* इत्यादि भगवद्वाक्यानुसार ऐसे हैं कि संन्यासी को किसी से भी कठोरवचन नहीं कहने चाहिए, अतः भगवद्वाणी का उल्लंघन किया होने कारण संन्यासधर्मों से भी श्रवणकीर्तन का विरोध आ जाता है, जिसे आपश्री ने **तद्धर्मैश्च विरोधतः** इत्यादि शब्दों द्वारा बताया है।

केश्च, नियोगात् नितरां योगो नियोगः, 'तस्मात्सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणा'मिति द्वितीयस्कन्धवाक्यात्तेषामावर्तनं तस्मात् । न हि सकृत् कृतं श्रवणादिकं प्रेमभक्तिं जनयति, किन्त्वावर्त्यमानम्, आवृत्तिश्च स्थित्या, सा च 'एकेश्वरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः । आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान्समदर्शन' इत्याद्युक्तैः परित्यागधर्मैर्विरुध्यते । अतो हेतुद्वयोपपादिताद्धर्मविरोधादपि तथेत्यर्थः ।

और, **नियोगात्** का अर्थ है- भगवान से पूर्णरूप से जुडना ; यानि *"हे परीक्षित् ! इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि सब समय और सभी परिस्थितियों में भगवान श्रीहरि का ही श्रवण, कीर्तन और स्मरण करें(श्री0भा-2/2/36)"* इस द्वितीयस्कन्ध के वाक्यानुसार इन श्रवणकीर्तन इत्यादि के द्वारा भगवान से पूर्णरूप से जुडना; यानि श्रवणकीर्तन का निरन्तर आवर्तन करते रहना; और यदि निरन्तर इनके ही आवर्तन में लगे रहेंगे, तो श्रवणकीर्तन के धर्म परित्यागधर्मों से विरुद्ध जाते हैं। केवल एक ही बार किया गया श्रवणकीर्तन प्रेमभक्ति उत्पन्न नहीं कर देता, किन्तु वारंवार किया गया श्रवणकीर्तन ही प्रेमभक्ति को उत्पन्न करता है। और श्रवणकीर्तन की आवृत्ति एक स्थान पर टिक कर ही हो सकती है, और संन्यासी के लिए एक स्थान पर टिक कर रहना तो *"भगवान ने कहा- संन्यासी को पृथ्वी पर अकेले ही विचरण करना चाहिए। उसकी कहीं भी आसक्ति न हो, सभी इन्द्रियाँ वश में हों। प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी धैर्य रखे(श्री0भा- 11/18/20)"* इत्यादि वाक्यों में कहे अनुसार परित्याग के धर्मों से विरुद्ध जाता है। अतः उपरोक्त दो हेतुओं(अभिमान एवं नियोग)में बताए संन्यासधर्म से विरोध आता होने के कारण भी श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के उद्देश्य से परित्याग नहीं करना चाहिए।

ननु मास्तु श्रवणाद्यर्थं संन्यासरूपो वैधः परित्यागः, तथापि गृहादीनां विषयासक्तिजनकतया भगवदासक्तिबाधकत्वेनावश्यं त्याज्यत्वात् । 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः । सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर' इत्युक्तरीतिकस्य त्यागान्तरस्य भगवदासक्तिसाधनार्थं करणे को दोषः, तादृशत्यागे च स्वरूपधर्मविरोधरूपपूर्वोक्तबाधकाभावात्, वैराग्यस्य ज्ञानाजनकत्वं यदा, तदा गृहत्यागः कर्तव्य इति पक्षस्य तुलकूबरमणिग्रीवस्तुतितात्पर्यनिरूपणप्रसङ्गे निर्णीतत्वाच्चेत्याशंकां परिहर्तुं व्युत्पादयन्ति गृहादेरित्यादि । गृहधनादेर्भगवदासक्तिबाधकत्वेन साधनार्थं भगवदासक्तिसाधनार्थं, यदि तथा अवैधत्यागः कर्तव्यश्चेत् सोपि नेष्यत इत्यर्थः । नेष्यत इति पददृयं अत्राप्यनुषज्यते ।

आगे पूर्वपक्षी की शंका है जो कोष्ठक में दी गयी है। [[किन्तु एक शंका यह होती है कि, चलो, भले ही श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के उद्देश्य से संन्यासरूप विधिपूर्वक परित्याग न भी किया जाय, तथापि, घर-परिवारजन तो विषयों में आसक्ति उत्पन्न करने वाले होते हैं अतः वे भगवदासक्ति में बाधक होते होने के कारण उनका अवश्य त्याग करना चाहिए। यानि *"ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, मुमुक्षु और मोक्ष की भी अपेक्षा न रखने वाला मेरा भक्त आश्रम की मर्यादा में बँधा हुआ नहीं है। वह चाहे तो आश्रमों और उनके चिन्हों को छोड़कर वेद-शास्त्र के विधि-नियमों से परे होकर स्वच्छन्द विचरण कर सकता है(श्री0भा-11/18/28)"* इस वाक्य में कही रीति अनुसार भगवदासक्ति सिद्ध करने के हेतु से एक भिन्न प्रकार का त्याग किया जाए, तो इसमें क्या दोष है? क्योंकि इस प्रकार के त्याग करने में पूर्व में कहा संन्यास के स्वरूप से विरुद्ध जाने जैसा बाधक भी नहीं होगा, साथ ही साथ "घर में रहते हुए वैराग्य हो भी जाय, और वह वैराग्य यदि भगवज्ज्ञान को

उत्पन्न नहीं करता, तो गृहत्याग कर देना चाहिए"- यह पक्ष भी आचार्यचरण नलकूबरमणिग्रीवस्तुति का तात्पर्य बताने के प्रसंग में निर्णीत कर ही चुके हैं, अतः गृहत्याग कर देना चाहिए]]- इस शंका परिहरण करने के लिए आचार्यचरण **गृहादेः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, गृह-धनसंपत्ति इत्यादि भगवदासक्ति में बाधक होते होने के कारण **साधनार्थं** यानि भगवदासक्ति सिद्ध करने के लिए यदि कोई पूर्व में कहा अविधिपूर्वकत्याग भी करना चाहे, तो यह भी आपश्री को **नेष्यते** यानि स्वीकार्य नहीं है- यह अर्थ है। तीसरे श्लोक में कहे **'न इष्यते'** इन दोनों पदों को इस पंक्ति में भी जोड़ लेना चाहिए, यानि यह पक्ष भी आपश्री को स्वीकार्य नहीं है- यह अर्थ है।

एवमनूद्य परिहरन्ति अग्रेऽपीत्यादिद्वाभ्याम् । त्यागो हि न स्वतन्त्रं साधनमपि तु मार्गाङ्गतयेति पूर्वं व्युत्पादितम् । तथा सति मार्ग एव स्वतन्त्रः साधकः । स च 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये'ति वाक्यात्पूर्वं श्रवणादिकमेवापेक्षते । तच्च श्रावयित्रादिरूपं सहायम् । ते च 'ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्परा' इत्यादिना जलभेदे ये निरूपिताः, तादृशास्त्विदानीं दुर्लभा इति 'गायकाः कूपसंकाशा' इत्यादिना य उक्ता गायका वा पौराणिका वा मिलन्ति, ते च यथा स्वयं गृहासक्तो विरजिष्यमाणो वा तादृशा एव, न तु स्वत उत्कृष्टाः, अतोग्रेपि तादृशैरेव संगो भवति, नान्यथा, नोत्कृष्टप्रकारकः । तथा च संगदोषेण स्वाभिप्रेतफलाभावान्नेष्यत इत्यर्थः ।

इस प्रकार से कहते हुए आचार्यचरण "गृहादि बाधक होते हैं अतः गृहादि का त्याग कर देना चाहिए" इस पक्ष का परिहार **अग्रेपि** इन दो पदों द्वारा कर रहे हैं। त्याग ज्ञान उत्पन्न करने में या श्रवणकीर्तन सिद्ध करने में स्वतन्त्ररूप से साधन नहीं है, परन्तु किसी भी मार्ग का अंगभूत होने के नाते ही साधन बनता है- यह बात आचार्यचरण पूर्व में कह चुके हैं। इसके अनुसार सिद्ध यह हुआ कि चाहे कोई भी मार्ग हो परन्तु मार्ग ही स्वतन्त्ररूप से फलप्राप्ति में साधन होता है। और कोई भी मार्ग *"भगवान का स्मरण करें और करावें, इसी प्रकार साधनरूपा भक्ति के द्वारा प्रेमरूपा भक्ति का उदय हो जाता है(श्री0भा-11/3/31)"* इस वाक्यानुसार सबसे पहले श्रवणकीर्तन इत्यादि की ही अपेक्षा रखता है। और श्रवणकीर्तन तो तब सिद्ध होंगे जब कोई सुनाने वाला होगा। और *"भगवच्छास्त्र को जानने वाले पण्डित वक्ता 'ह्रद' कहे जाते हैं(जल-5)"* इत्यादि श्लोकों द्वारा जिस प्रकार के वक्ता और श्रोता बताए गए हैं, वैसे तो वर्तमान में मिलने दुर्लभ होते हैं अतः जलभेद में ही *"संगीत द्वारा भगवद्यश गाने वाले कुँओं के समान होते हैं(जल-2)"* इत्यादि श्लोकों द्वारा जिस प्रकार के वक्ता बताए गए हैं, वैसे गायक वक्ता या पुराणकथा कहने वाले निम्नप्रकारक वक्ता मिलते हैं। और वे तो जैसे हम खुद गृहासक्त हैं या वैराग्य लेने की अभी प्रक्रिया में हैं, वैसे ही होते हैं, वे हमसे उत्कृष्ट नहीं होते, अतः आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, आगे जाकर भी ऐसे ही लोगों का संग प्राप्त होना/होता है, हमसे उत्कृष्ट लोगों का संग नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि, ऊपर बताए संगदोष के कारण हमें जो फल चाहिए था वह फल न मिलता होने के कारण आचार्यचरण इस परित्याग को स्वीकार नहीं कर रहे हैं।

अथ यदि तादृशा मध्यमाधिकारिणो मिलन्ति, तदा गृहपरित्यागे को दोष इत्याशंकायां स्वीयदोषादपि तथात्वमाहुः स्वयं वेत्यादि । चोप्यर्थे । स्वयमपि विषयाक्रान्तः । 'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टै'रिति न्यायेन पञ्चेन्द्रियविषयाकृष्टमानसस्तानभिध्यायन् पाषण्डी स्यात्, 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् । इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते' इति गीतावाक्यात् तादृशः सन्नुपधर्मात्मकाधर्मशाखाछायास्थः पाषण्डी स्यात् । तत्र कालस्यापि सहायतामाहुः तु कालत इति । तु पुनः धर्मप्रतिपक्षरूपात् कलेरपि तथा स्यात् । अतस्तादृशानां संगेपि पाषण्डित्वात् पतितः स्यादतो नेष्यत इत्यर्थः ।

किन्तु जो मिलें वे चलो हमसे उत्कृष्ट भले न हों परन्तु कम से कम यदि मध्यमाधिकारी ही हों, तो फिर गृहपरित्याग करने में क्या दोष है ? यदि किसी को ऐसी शंका होती हो तो आचार्यचरण **स्वयं च** इत्यादि शब्दों द्वारा उनके साथ-साथ खुद भी दूषित हो जाते होने के कारण गृहपरित्याग को अस्वीकार कर रहे हैं। यहाँ **च** शब्द 'अपि' के अर्थ में समझना चाहिए; इसका अर्थ यह हुआ कि, उनके साथ-साथ परित्याग करने वाला स्वयं भी विषयाक्रान्त हो जायेगा। यानि *"जो लोग विषयचिन्तन में लगे रहते हैं, उनकी इन्द्रियाँ विषयचिन्तन में फँस जाती हैं तथा मन को भी उन्हीं की ओर खींच ले जाती हैं(श्री0भा-4/22/30)"* इस वाक्यानुसार अपनी पाँचों इन्द्रियों द्वारा सांसारिकविषयों में अपने मन को रमाने वाला व्यक्ति उन विषयों का ध्यान करता हुआ पाखण्डी हो जायेगा। यानि *"जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों का हठ से दमन करके मन से इन्द्रियविषयों का चिन्तन करता है, वह निःसन्देह अपने आप को भ्रम में डालता है और मिथ्याचारी कहलाता है(भ0गी-3/6)"* इस गीतावाक्य के अनुसार उपधर्मात्मक-पाखण्डरूपी अधर्मशाखा वाला पाखण्डी होगा। इसमें काल भी सहायक बनेगा, यह बताने के लिए आपश्री **तु कालतः** इत्यादि शब्दों से कह रहे

हैं। इसका अर्थ यह है कि, कलिकाल चूँकि धर्म का विरोधी होता है अतः कलिकाल के कारण भी वह पाखण्डी हो जायेगा। अतः विषयाक्रान्तजनों के संग से भी वह पाखण्डी होकर पतित हो जायेगा, इसलिए आचार्यचरण इस परित्याग को अस्वीकार कर रहे हैं- यह अर्थ है।

अथ 'कलिं सभाजयन्त्यार्या' इत्यादिवाक्यैः कलेः (श्रवण) कीर्तनाद्यनुगुणत्वेन गृहत्यागे दोषाभावो विभाव्यते, तदापि दोषमाहुः विषयेत्यादि । सत्यं कालः कीर्तनानुगुणः, तथापि फलांशे एवानुगुणो, न तु साधनस्वरूपांशे, तेषु वाक्येषु तथैवोपलम्भात् । अतो विषयाक्रान्तदेहानां पूर्वोक्तरीत्या विषयारूढस्थूललिंगशरीराणां कालतः कलेः सकाशात् हरेरावेशः सर्वदा न, भगवच्चित्तता सर्वदा न भवति, किन्तु कदाचित् । तथा सति यदा आसुरावेशः स्यात्तदा पूर्वोक्तस्य सर्वस्य प्रतिबन्धात्, पाषण्डित्वमेव भवेत् । अतो नेष्यत इत्यर्थः । कामत इति पाठे तु काम इच्छा, तथा च विषयकामनया तथा स्यादित्यर्थो बोध्यः ।

किन्तु यदि कोई *"कलियुग में भगवत्संकीर्तन से ही सारे स्वार्थ और परमार्थ सिद्ध हो जाते हैं(श्री0भा-11/5/36)"* इत्यादि वाक्यों द्वारा कलिकाल को श्रवणकीर्तन इत्यादि में सहायक मानते हुए गृहत्याग करने में दोष न मानता हो, तो आचार्यचरण उसमें दोष बताते हुए **विषयाक्रान्तदेहानां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यह बात सत्य है कि, कलिकाल भगवत्कीर्तन करने में सहयोगी होता है, तथापि वास्तविकता यह है कि फलदशा के समय ही सहयोगी होता है, साधनदशा के समय नहीं, यानि कि श्रवणकीर्तन जब सिद्ध अवस्था में पहुँच जाएँ तब ही काल बाधा नहीं कर पायेगा- यह अर्थ है। ऐसा नहीं है कि आज श्रवणकीर्तन किया और कल से काल बाधारूप नहीं होगा क्योंकि उपर्युक्त वाक्य में इस मुद्दे को इसी प्रकार से प्रमाणित किया गया है। अतः ऊपर कहे अनुसार **विषयाक्रान्तदेहानां** अर्थात् विषयों में रचे-पचे स्थूल और लिंगशरीर में **कालतः** यानि कलिकाल के कारण **हरेरावेशः सर्वदा न** यानि भगवान में चित्त सर्वदा नहीं लगता, किन्तु यदा-कदा ही लग पाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि, जब-जब हरि का आवेश नहीं होगा, तब-तब आसुरावेश आता है, और तब-तब पूर्व में कहे सभी प्रतिबन्धकों से वह पाषण्डी ही हो जाता है। इसलिए आचार्यचरणों को ऐसा परित्याग स्वीकार्य नहीं है। यदि **कालतः** के स्थान पर **कामतः** पाठ मान लिया जाय, तो **काम** का अर्थ है- इच्छा; इसका अर्थ यह हुआ कि विषयों की इच्छा करते रहने के कारण वह पाखण्डी हो जायेगा।

तदेतन्निगमयन्ति अतोत्रेत्यादि । अतः उक्तेभ्यो दोषेभ्यः, अत्र काले, भक्तौ भक्तिमार्गे, साधने साधनदशायाम्, तादर्थ्यसप्तमीपक्षे आसक्तिसाधनार्थं वा, त्यागो गृहपरित्यागः नैव सुखावहः । इदानींतनवीतरागिवत् पाषण्डित्वमापादयन् भगवदासक्तिरूपं सुखं न जनयति, तस्मात् मध्यमायामपि साधनदशायां सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । अत्र भक्तिमार्गे भगवता कर्तव्यत्वेन प्रोक्तस्य परित्यागस्य प्रेमभक्तिसाधनदशायामकर्तव्यत्वे साधिते पारिशेष्यात् तत्सिद्धत्वदशायां फलोपकार्यङ्गत्वेन कर्तव्य इति सिद्धम् ॥३-६॥

अब इन सभी विवेचनों का फलितार्थ आपश्री **अतोऽत्र** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **अतः** यानि ऊपर जो दोष बताए, उन दोषों के कारण, **अत्र** यानि इस कलिकाल में, **भक्तौ** यानि भक्तिमार्ग में **साधने** यानि साधनदशा में(इसी को तादर्थ्यसप्तमी मान लें, तो आसक्ति सिद्ध करने के लिए)**त्यागः** यानि गृहत्याग करना सुखावह नहीं है। यानि ऐसा परित्याग आपको आज के ढोंगी संन्यासियों की श्रेणी में खड़ा कर देगा और भगवदासक्तिरूप सुख नहीं देगा, अतः यदि भक्ति की साधनदशा हो, तो मध्यमाधिकारियों के संग भी गृहत्याग सर्वथा नहीं करना चाहिए- यह अर्थ है। इन सभी विवेचनों से जानना चाहिए कि, भगवान ने भक्तिमार्ग में परित्याग कर्तव्यरूप से बताया तो है, परन्तु, प्रेमभक्ति की साधनदशा में वह करणीय सिद्ध नहीं होता, इसलिए अब शेष बची भक्ति की सिद्धदशा में ही परित्याग करना फलोपकारी बनता है अतः सिद्धदशा पर पहुँच जाने के बाद ही परित्याग करना चाहिए- यह बात सिद्ध होती है ॥3-6॥

अत्र 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतपे'ति गीतायां भगवद्वाक्यात् फलस्य त्रयी वेधा । तत्र कस्मै फलाय कर्तव्य इति विचारणायां प्रवेशस्य ''मत्कर्मकृन् मत्परम'' इति वाक्योक्तसाधनान्तरसापेक्षत्वात्ततः पूर्वमुक्तयोर्ज्ञानदर्शनयोरर्थे कर्तव्य इत्याशयेनाहुः विरहेत्यादि ।

अब भगवान ने गीता में *"हे अर्जुन! केवल भक्ति के द्वारा ही तेरे सामने खड़े मुझको (1)तत्त्व से जाना और (2)प्रत्यक्ष देखा जा सकता है और (3)मुझमें प्रवेश पाया जा सकता है (भ0गी-11/54)"* इस वाक्यानुसार भगवान को (1)जानने, (2)देखने और (3)प्रवेश पाने यों तीन प्रकार के फल प्राप्त होने बताए हैं। अब इनमें से किस फल को प्राप्त करने के लिए परित्याग करना चाहिए, जब यह विचार करते हैं

तो इसी श्लोक के आगे वाले *"हे अर्जुन! जो मनुष्य पूर्वकृत सकामकर्म और ज्ञान से मुक्त होकर मेरी शुद्धभक्ति में तत्पर है और परायण है तथा प्राणीमात्र का मित्र है, वह निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होता है(भ0गी-11/55)"* इस श्लोक में यह बताया गया कि भगवत्स्वरूप में प्रवेशरूपी फल पाने के लिए तो परित्याग के अतिरिक्त अन्य साधनों की भी आवश्यकता होती है, इसलिए शेष बचे '(1)भगवत्स्वरूप का ज्ञान' एवं '(2)भगवत्स्वरूप के दर्शन' रूपी दो फल प्राप्त करने के लिए परित्याग करना चाहिए- इस बात को बताने के आशय से आपश्री आगे **विरह** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेशः सोऽत्र न चान्यथा ।।७।।
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ।।८।।
विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधकाः ।।९।।
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ।।१०।।
तादृशः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ।।११।।
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ।।१२।।
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ।।१३।।
दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।।१३$^{1}/_{2}$।।

विरहस्यानुभवो विरहानुभवः, विरहसामयिको वानुभवो विरहानुभवः, विरहानन्तरोनुभवो वा विरहानुभव इति त्रिधा सम्भवति, तदर्थं कर्तव्य इति फलति, तत्राद्ये पक्षे जीवस्य सृष्ट्यादौ व्युच्चरणाज्जातो यो विरहस्तस्योद्बोधन आसक्त्या कृते तस्याभीक्ष्णमनुभवार्थं, द्वितीयपक्षे तु, भक्तियोगमायाभ्यां सह कृत्यासक्तिभ्रमन्यायेनोत्पादितोध्यासरूपो यो भगवदनुभवस्तदर्थं, तृतीयपक्षे तु 'तासामाविरभू'दित्यादिनोक्तो यः साक्षात्काररूपोनुभवस्तदर्थं, तथा चैवं त्रिविधो विरहानुभवोर्थः प्रयोजनं यस्य तद्विरहानुभवार्थं, क्रियाविशेषणमेतत् । तदर्थं तद्यथा स्यात्तथा परित्यागः प्रशस्यते ।

विरहानुभवः शब्द का अर्थ- (1)भगवद्विरह का अनुभव करना (2)भगवद्विरह होने के समय होने वाला अनुभव (3)भगवद्विरह होने के पश्चात् होने वाला अनुभव- यों तीन प्रकार से संभव हो सकता है। इन्हीं तीनों के लिए परित्याग करना चाहिए- यह फलितार्थ है। इनमें से पहले वाला पक्ष लिया जाय, यानि (1)भगवद्विरह का अनुभव करना तो इसका तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आरम्भ में जीव जब अग्नि में से निकलने वाले तिनकों की भाँति ब्रह्म से अलग हुआ, तब उस वियोग के कारण उसे जो विरह हुआ, वह विरह भगवान के प्रति आसक्ति हो जाने के कारण जब पुनः जाग्रत होता है, उस भगवद्विरह का निरन्तर अनुभव करने के लिए परित्याग करना चाहिए- यह आचार्यचरणों का आशय है। यदि दूसरा पक्ष लें, यानि (2)भगवद्विरह के समय होने वाला अनुभव तो इसका तात्पर्य यह है कि भक्ति और भगवान की योगमाया दोनों आसक्तिभ्रमन्यायानुसार भक्त में जो अध्यासरूप भगवदनुभव उत्पन्न कर देते हैं, यानि भक्ति और भगवान की योगमाया दोनों ही भक्त में ऐसा भाव उत्पन्न कर देते हैं कि जिसके द्वारा भक्त को सर्वत्र, हर एक पदार्थ में भगवान की ही प्रतीति होने लगती है। इसे ही आसक्तिभ्रमन्याय कहा जाता है उसे विरह के समय होने वाला अनुभव कहेंगे। और यदि तीसरा पक्ष लें,यानि (3)भगवद्विरह होने के पश्चात् होने वाला अनुभव तो *"गोपियाँ प्रलाप कर रही थीं और भगवान उसी समय उनके बीचोबीच प्रकट हो गए(श्री0भा-10/32/2)"* इत्यादि वाक्यों के अनुसार गोपियों को विरह हो जाने के पश्चात् भगवान से साक्षात्कार होने वाला जो अनुभव हुआ है, वैसा अनुभव होने के लिए परित्याग करना चाहिए। इस प्रकार इन तीनों ही प्रकार के विरह का अनुभव करना जिस परित्याग का प्रयोजन है, वैसे विरह का अनुभव करने के लिए परित्याग करना चाहिए- यह **विरहानुभवार्थं** शब्द से आचार्यचरणों का तात्पर्य है। यानि आपश्री यह आज्ञा कर रहे

हैं कि, ऐसे प्रकार का विरहानुभव/प्रयोजन जिस प्रकार से सिद्ध हो सके, उसके लिए किया जाने वाला परित्याग प्रशंसनीय है। **एकादशस्कन्धे भगवता 'वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्त'मित्यनेनात्यन्तं स्तूयते, अतस्तदर्थं कर्तव्यः । अत्रायमर्थः । पुष्टिमार्गीयाणां जीवानां भगवद्रूपसेवार्थं कायात् सृष्टिः । ते तु जीवाः शुद्धमिश्रभेदाद् द्विधा । तत्र मिश्राणां कदाचिदन्यासक्त्या वाहंकारेण वा मर्यादास्थापनार्थं वा शापादिना भगवद्वियोग इति पुष्टिप्रवाहमर्यादायां स्थितम् । तथा गद्येपि सहस्रपरिवत्सरमितकालाद्व्युच्चरणेन भगवद्वियोगः । स च केनचित्प्रकारेण वाऽनन्यभक्त्या वा भगवता निवार्यते । भक्तिमार्गाश्च बहुविधाः । तत्रास्मिन्मार्गे यदा निवारयितुमिच्छति तदा तस्य केनचित्प्रकारेण विरहौत्कट्यमुत्पादयति[1] । किञ्च, माया ह्यन्यत्र स्थितमन्यत्र प्रत्याययतीति 'ऋतेर्थं यत्प्रतीयेते'त्यत्र सुबोधिन्यां स्थितम् । भगवांश्च रसलीलायां योगमायामुपाश्रयतीति पञ्चाध्याय्यारम्भे स्थितम् ।**

एकादशस्कन्ध में भगवान ने *"जिसकी वाणी गद्गद हो रही है, चित्त पिघल गया है, जो निरन्तर मेरे लिए रोता है या फिर कभी हँसने लग जाता है। कभी लाज छोड़कर गाने लगता है तो कहीं नाचने लगता है। हे उद्धव! ऐसा मेरा भक्त न केवल अपने को अपितु पूरे संसार को पवित्र कर देता है(श्री0भा-11/14/24)"* इस पद्य द्वारा ऊपर बताए परित्याग की बड़ी प्रशंसा की है, अतः इस प्रकार का परित्याग करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि, भगवत्स्वरूप की सेवा करने के लिए पुष्टिमार्गीयजीवों की सृष्टि भगवान ने स्वयं अपनी काया द्वारा की है। ये पुष्टिमार्गीयजीव शुद्ध और मिश्र के भेद से दो प्रकार के होते हैं। इन दोनों में से मिश्रपुष्टिमार्गीयजीवों को तो कदाचित् उनकी आसक्ति कहीं और हो जाने के कारण, या उनके अहंकार के कारण, या चूँकि भगवान मर्यादा का स्थापन करना चाहते हैं इसलिए शाप आदि के द्वारा उनका भगवान से वियोग होता है- यह सभी बातें पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थ में बतायी गयीं हैं। इसी प्रकार अपने गद्यमन्त्र में भी हजारों साल से जीव भगवान से अलग हुआ होने के कारण उसका भगवान से वियोग होने की बात कही गयी है। जीव का यह वियोग भगवान किसी न किसी प्रकार से अथवा तो उसकी अनन्यभक्ति के द्वारा दूर करते हैं। भक्तिमार्ग भी अनेक प्रकार के हैं। उन सभी में से इस पुष्टिभक्तिमार्ग में जब भगवान जीव का वियोग दूर करने की इच्छा करते हैं, तब किसी न किसी प्रकार से जीव में उत्कटविरह उत्पन्न करते हैं। और, "ऋतेर्थं यत्प्रतीयते(श्री0भा-2/9/33)" इस श्लोक की सुबोधिनी में आचार्यचरणों ने "भगवान की माया एक स्थान पर स्थित वस्तु की दूसरे स्थान पर प्रतीति कराती है" यों कहा है, इसीलिए भगवान की माया ही जीव को उत्कटविरह के समय हर एक पदार्थ में भगवान की प्रतीति कराती है। और स्वयं भगवान भी रसलीला करते समय अपनी योगमाया पर आश्रित रहते हैं- यह बात रासपञ्चाध्यायी के आरम्भ में कही गयी है।

सा च न विश्वमायाऽपि तु भगवद्योगार्था माया । एवं सति यदा भगवानेनं जीवं युयुक्षति, तदास्य योगमायया स्वाज्ञानं विरहं चोत्पादयति, अनन्यभक्तिश्च परमा तिरोधाननाशिका । अन्तर्बहिश्च भगवन्तमनुभावयति । भगवांस्तु सर्वमन्तर्बहिर्व्याप्नुवानोपि विरुद्धधर्माश्रयत्वात् परिछिन्नः । एतन्मार्गे च भगवतो बहिः प्राकट्यमेवाभीष्टं, तदैवेश्वरवादोन्यथा शून्यवादः ।

यह योगमाया विश्वमाया नहीं है अपितु भगवान को रास में गोपिकाओं के संग जोड़ने वाली माया है। इस प्रकार से जब भगवान जीव को अपने से जोड़ने की इच्छा करते हैं, तब उस जीव के अन्तःकरण में अपने स्वरूप का अज्ञान संपादित करते हैं (यानि योगमाया के कारण उसे यह लगता है कि, भगवान मेरे अन्तःकरण में नहीं बिराज रहे हैं, और जब नहीं बिराज रहे हैं, तो वह उन्हें बाहर ढूँढने का प्रयास करता है) एवं विरह संपादित करते हैं, और तब भक्त की परम अनन्यभक्ति भगवान के तिरोधान का नाश कर देती है, यानि उसे अन्दर-बाहर सर्वत्र भगवान का अनुभव कराती है। वैसे वास्तविकता तो यह है कि, यद्यपि भगवान तो अन्तर-बहि सर्वत्र व्याप्त हैं ही तथापि वे विरुद्धधर्माश्रयी हैं इस कारण परम अनन्यभक्ति उत्पन्न होने से पहले उसे भगवान के दर्शन नहीं होते अपितु परमभक्ति उत्पन्न होने के पश्चात् ही दर्शन होते हैं। इस मार्ग में भगवान का बाहर प्रकट होना ही इस मार्ग का सिद्धान्त माना गया है, तभी तो इसे ईश्वरवाद(ब्रह्मवाद)कहा जा सकेगा, अन्यथा तो इसे शून्यवाद कहना पड़ेगा।

एवं सति युयुक्षाविषयस्य भक्तस्यानन्यभक्तिकृतो योन्तःसाक्षात्कारस्तस्य बहिष्टुमापादयन्ती माया आसक्तिभ्रमन्यायकं करोति । तादृशो यः साक्षात्कारः, सर्वात्मभावजन्यो भूमविद्यायां सर्वविधप्रत्ययविलक्षणतया सिद्धः, स एव विरहानुभवपदेन बोधितः । तदर्थं यः परित्यागः स एकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये भगवता अत्यन्तं स्तूयते । किञ्च,

---

१. **विरहोत्कण्ठामिति पाठः ।**

विरहानन्तरभावी अनुभवो बहि: साक्षात्काररूपं सम्यग्दर्शनं, तदर्थं य: परित्याग: स भगवता प्रकर्षेण, 'यथा अधनो लब्धधने विनष्टे' इति सार्धद्वाभ्यां पञ्चाध्याय्यां स्तूयते, अतस्तदर्थं कर्तव्य इत्यायाति ।

इस प्रक्रिया के अनुसार जिस जीव को भगवान से जुड़ना है उसे अनन्यभक्ति द्वारा अपने अन्तःकरण में जो भगवान के साक्षात्कार का अनुभव होता है, उस अन्तःकरण में होने वाले साक्षात्कार को माया बाहरी रूप दे देती है, यानि (1)आसक्तिभ्रमन्यायानुसार उसे अब बाहर सर्वत्र भगवान की ही प्रतीति होने लगती है। जीव को उक्त प्रकार से अपने अन्तःकरण में होने वाला भगवान का साक्षात्कार, जो कि सर्वात्मभाव से उत्पन्न होता है और जो कि भूमविद्या के अन्तर्गत समस्त ज्ञानों से अलग एक विलक्षणज्ञान के रूप से सिद्ध किया गया है, वही साक्षात्कार आचार्यचरणों ने यहाँ इस ग्रन्थ में 'विरहानुभव' पद के द्वारा बताया है। इस विरहानुभव के लिए जो परित्याग किया जाता है, उस परित्याग की भगवान ने एकादशस्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में अत्यन्त प्रशंसा की है। साथ ही साथ, (2)भगवद्विरह के पश्चात् बाह्यरूप से होने वाला साक्षात्काररूप भगवान का जो दर्शन होने वाला होता है, वह साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए जो परित्याग किया जाता है, उस परित्याग की भगवान ने व्यवस्थितरूप से *"यथाधनो लब्धधने विनष्टे(श्री0भा-10/32/20)"* इत्यादि ढाई श्लोकों द्वारा पञ्चाध्यायी में प्रशंसा की है, अतः इस हेतु से परित्याग करना चाहिए- यह अर्थ सामने आता है।

एतयोराद्यस्य प्रशंसा व्युत्पाद्यते । तथा हि, 'वदन्ति कृष्ण श्रेयांसी'त्यादिना वैदिकोक्तसाधनानां भगवदुक्तभक्तेश्च तारतम्ये पृष्टे, भगवता 'धर्ममेके यशश्चान्य' इत्यादिना भक्ते: फलोत्कर्षं, 'अकिञ्चनस्य दान्तस्ये'त्यनेन स्वरूपोत्कर्षं, 'न पारमेष्ठ्य'मित्यादिभिरनन्यभक्तोत्कर्षं, 'नि:किञ्चना' इत्यनेन स्वसुखोत्कर्षं, 'बाध्यमानोपी'ति द्वाभ्यां स्वभक्तेर्बलवत्त्वं, 'न साधयती'त्यनेन स्ववशीकर्तृत्वं, 'भक्ति: पुनाती'त्यर्धेन भक्तेरत्यन्तपावनत्वं, 'धर्म: सत्ये'त्यनेन धर्मादीनामतादृशत्वं चोक्त्वा, 'कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना । विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशय' इत्यनेन ऊर्जितां भक्तिं लक्षणै: परिचाययित्वा, ततो 'वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं, रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च । विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाती'त्यनेन विरहावस्थाव्यञ्जनपूर्वकं तादृशभक्तिमानत्यन्तं स्तूयते । अतस्तस्यां दशायां जातायां तदर्थं कर्तव्य इत्यर्थबलादायाति । तथा तत्रैव द्वितीयाध्याये कविनापि 'मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य', 'यानास्थाय नरो राज'न्नित्यादिभिर्भगवद्धर्मानुपक्रम्य, 'श्रृण्वन् सुभद्राणि रथांगपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके । गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसंग: । एवंव्रत: स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चै: । हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्य: । खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन् । सरित्समुद्रांश्च हरे: शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्य: । भक्ति: परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एव काल: । प्रपद्यमानस्य यथाश्नत: स्युस्तुष्टि: पुष्टि: क्षुदपायोनुघासं । इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोध: । भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्तत: परां शान्तिमुपैति साक्षा'दित्यन्तेनोच्यते ।

उपरोक्त दोनों प्रकार के परित्याग में से भगवान ने पहले वाले परित्याग की प्रशंसा की है, वह इस प्रकार कि, *"वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि(श्री0भा-11/14/1)"* इस श्लोक द्वारा जब उद्धवजी ने भगवान से वैदिकसाधन एवं भगवान द्वारा बतायी गयी भक्ति में अंतर क्या है- यह पूछा, तो भगवान ने *"धर्ममेके यश्चान्ये(श्री0भा-11/14/10)"* इस श्लोक द्वारा भक्ति से प्राप्त होने वाले फल की उत्कृष्टता कह कर *"अकिञ्चनस्य दान्तस्य(श्री0भा-11/14/13)"* इस श्लोक द्वारा भक्ति के स्वरूप का उत्कर्ष कहा और *"न पारमेष्ठ्यम्(श्री0भा-11/14/14)"* इत्यादि श्लोकों द्वारा अनन्यभक्तों की महिमा कह कर *"नि:किञ्चना:(श्री0भा-11/14/17)"* इत्यादि श्लोकों द्वारा भगवान ने स्वयं अपने लिए भक्ति से सुख पाना कह कर *"बाध्यमानोऽपि मद्भक्तौ(श्री0भा-11/14/18)"* इत्यादि श्लोकों द्वारा भगवान ने अपनी भक्ति की बलवत्ता कह कर *"न साधयति(श्री0भा-11/14/20)"* इस श्लोक द्वारा खुद को भी भक्ति के वशीभूत होना बताया, और *"भक्ति: पुनाति(श्री0भा-11/14/21)"* इस आधे श्लोक द्वारा भक्ति को अन्यन्त पावन करने वाली बताकर, *"धर्म: सत्यदयोपेतो(श्री0भा-11/14/22)"* इस श्लोक द्वारा धर्म, तपस्या, विद्या इत्यादि भी जीव को भक्ति की तुलना में अत्यन्त पावन करने में असमर्थ हैं, यह बता कर, *"कथं विना रोमहर्ष(श्री0भा-11/14/23)"* इस श्लोक द्वारा उर्जित हुई भक्ति का उसके लक्षणों से परिचय देकर, इसके बाद *"वाग्गद्गदा द्रवते यस्य(श्री0भा-11/14/24)"* इस श्लोक द्वारा विरहावस्था को बताते हुए ऐसे विरही भक्त की अत्यन्त स्तुति भगवान ने की है। इसलिए इन सभी वाक्यों के अर्थों मे यही तात्पर्य सामने आता है कि, जब विरह की ऐसी उत्कट अवस्था आ जाए, तब ऐसे भगवद्विरह का अनुभव करने के लिए ही परित्याग करना

चाहिए। और इसी प्रकार द्वितीयाध्याय में कवियोगेश्वर ने भी *"मन्येऽकुतश्चित(श्री0भा-11/2/33)", "यानास्थाय नरो(श्री0भा-11/2/35)"* इत्यादि श्लोकों द्वारा भगवद्धर्मों बताने का उपक्रम करते हुए *"श्रृण्वन् सुभद्राणि..... साक्षात्(श्री0भा-11/2/39-43)'* यहाँ तक के वाक्यों द्वारा भक्ति की महिमा और उसके द्वारा संसार से वैराग्य होने की बात कही है।

एतत्सुबोधिन्यां च प्रथमस्कन्धीये 'नामान्यनन्तस्ये'ति नारदवाक्ये कर्मज्ञानभक्तीनां त्रयाणां फलसाधकस्तत्त्रितयानुकल्पो य उक्तस्तत्स्वरूपमत्र कविनोच्यत इत्येवमवतार्यैते पञ्चश्लोका व्याख्याता: । तत्र प्रथमे 'आदौ गृहान्निर्गत'इति कथनेन त्यागावस्था बोधिता, भगवज्जन्मादिश्रवणं तद्गानं विचरणं लज्जाभावश्च, अनुकल्पस्वरूपत्वेन बोधित: । ततो द्वितीये 'एवं व्रत' इत्याद्युक्तैरष्टधर्मै: प्रकृत्युल्लङ्घनेनालौकिकत्वरूपं लोकबाह्यत्वं बोधितम् । तेन विरहानुसन्धानावस्थैव स्फुटीकृता । ततस्तृतीये एवं विचरणकर्मणा लोकपरित्यागेन ज्ञानभक्ती एकहेलया युगपन्निरूपिते । तत्र खादिषु समुद्रान्तेषु लौकिकप्रत्यक्षविषयेषु प्रणमनक्रियाकर्मत्वं हरिशरीरत्वेनोच्यते । तेन तेषु तथात्वज्ञानमर्यादाक्षिप्यते । अत आक्षिप्तेन 'ज्ञात्वे'त्यन्तेन ज्ञानं 'प्रणमेदनन्य' इत्यनेन साधनभक्तिर्बोध्या । ततश्चतुर्थपञ्चमाभ्यां दृष्टान्तपूर्वकं परमभक्तिभगवज्ज्ञानतदितरविरक्तीनां युगपद्भवनेन साक्षात्परमशान्तिरूपं फलमुक्तम्, तेनापि कर्मज्ञानभक्तीनां यत्परमं फलं तदनेन मार्गत्रितयानुकल्परूपेण परित्यागेन भवतीति तादृशत्यागप्रशंसैव सुबोधिन्युक्तप्रकारेण सिध्यतीति बोध्यम् ।

यही बात आचार्यचरणों ने उपर्युक्त एकादशस्कन्ध के वाक्यों की सुबोधिनी में भी प्रथमस्कन्ध के *"नामान्यनन्तस्य(श्री0भा-1/5/11)"* इस नारदवाक्य का संदर्भ उठाकर यह व्याख्या की है कि- *"उक्त प्रथमस्कन्ध के वाक्य में कर्मज्ञानभक्ति तीनों मार्गों की फलसाधकता बतायी है और उन्हीं मार्गों के अनुकल्प के रूप जो नारदजी की दिनचर्या बतायी गयी है, वही बात कवियोगेश्वर ने पाँचश्लोकों(श्री0भा-11/2/39 से 43 तक)में बतायी है"*। आचार्यचरण लिखते हैं- इन पाँचश्लोकों में से प्रथमश्लोक में *"आदौ गृहान्निर्गत"* इस कथन द्वारा कवियोगेश्वर ने भक्त की त्यागावस्था बतायी है, और साथ ही साथ उसके अनुकल्प के रूप में यानि त्यागावस्था के सहायक के रूप में भगवान के जन्म की कथा सुननी, भगवद्गुणगान करना, एक स्थान पर टिक कर न रहते हुए सर्वत्र विचरण करते रहना, भगवत्प्राप्ति के लिए लज्जा त्याग देनी इत्यादि बातें बतायी हैं। इसी के पश्चात् दूसरे श्लोक *"एवं व्रत(श्री0भा-11/2/40)"* में बताए आठ प्रकार के लक्षणों द्वारा भक्त का अपने शरीर की स्वाभाविक प्रकृति का उल्लंघन कर देना और उसका अलौकिकरूप बताया है एवं लोक से अलग रहने की बात बतायी गयी है। इन सभी लक्षणों से वहाँ कवियोगेश्वर ने भक्त की भगवद्विरह का अनुसन्धान करने वाली अवस्था ही स्पष्ट की है- ऐसा आचार्यचरणों ने लिखा है। इसके पश्चात् के तीसरे श्लोक *"हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्य:(11/2/41)"* में ऊपर कहे अनुसार विचरण करते हुए लोकपरित्याग करके उसमें ज्ञान और भक्ति एक साथ प्रकट होती है, यह निरूपित किया है। इस श्लोक के संदर्भ में आपश्री ने यह बताया कि, ऐसा भक्त आकाश आदि से लेकर समुद्र तक के प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले समस्त लौकिकविषयों को हरि-भगवान का स्वरूप समझ कर उन्हें प्रणाम करता है। उसका इस प्रकार से सभी को प्रणाम करने से ही यह बात समझ में आ जाती है कि, वह उन सभी में भगवान को देख रहा होता है। इसी तीसरे श्लोक *"हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्य:(11/2/41)"* के संग जब 'ज्ञात्वा (इन सभी को हरिस्वरूप जानकर)' क्रिया को लगाकर अर्थ करेंगे तब ये सारे श्लोक व्यवस्थित समझ में आयेंगे। इससे आपश्री ने उसमें 'ज्ञान' प्रकट होना बताया है एवं श्लोक में कही "प्रणमेदनन्य:(प्रणाम करता है)" क्रिया द्वारा उसमें साधनभक्ति होनी समझनी चाहिए। इसके पश्चात् चौथे एवं पाँचवें श्लोक में कवियोगेश्वर ने दृष्टान्त देकर उस भक्त में परमभक्ति, भगवत्सम्बन्धी ज्ञान और भगवान से अतिरिक्त समस्त पदार्थों में विरक्ति होनी ये सभी एक साथ होने के द्वारा उसे परमशान्तिरूप फल मिलना बताया है(श्री0भा-11/2/42,43); इन सभी बातों से भी यही सिद्ध होता है कि, कर्मज्ञानभक्ति इन तीनों मार्गों में प्राप्त होने वाला जो परमफल है, वह इन तीनों मार्गों में सहायकरूप परित्याग करने से ही प्राप्त होता है, इसलिए सुबोधिनी के अनुसार जब हम उपर्युक्त एकादशस्कंध के वाक्यों को समझते हैं, तब ऊपर बताए गए 2 प्रकारों में से पहले प्रकार के त्याग की ही भगवान एकादशस्कन्ध में प्रशंसा कर रहे हैं- यह बात सिद्ध होती है।

अन्येवं सत्यत्र संन्यासवेश: कुतो नोक्त इत्यत आहु: स्वीयेत्यादि । स्वीया: पुत्रदारादय: तत्कृतो यो बन्ध:, स्वस्य तेष्वासक्त्यभावेपि तेषां स्वस्मिन्याऽऽसक्तिस्तन्निवृत्त्यर्थं, अत्र अस्मिन्भक्तिमार्गीये संन्यासे, स वेश:, त्रेदण्डकौपीनधारणादिवेश: । न चान्यथा । चोवधारणे, अन्यथा तत्कृतबन्धाभावे सति, न च नैवापेक्षित:, अतो यस्य बन्धसंभावना तस्य स वेश आवश्यको, नान्यस्येत्यसार्वत्रिकत्वान्नोक्त इत्यर्थ: ।

केन्तु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, जब उक्त एकादशस्कन्ध में बताए परित्याग को ही आचार्यचरण यहाँ इंगित करना चाह रहे हैं, तो फिर वहाँ बताया गया संन्यासी का वेष धारण करना आपश्री ने यहाँ क्यों नहीं बताया ? तो आचार्यचरण इसका

स्पष्टीकरण **स्वीय** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। स्वीयजन यानि पुत्र आदि परिवारजन; उनके द्वारा किया जाने वाला जो बन्धन है, उसे आपश्री 'स्वीयबन्ध' कह रहे हैं। चलो भले ही खुद को उनके प्रति आसक्ति न भी हो, तथापि, उनकी अपने प्रति आसक्ति का निवारण करने के लिए **अत्र** यानि इस भक्तिमार्गीयसंन्यास में त्रिदण्ड, कौपीन एवं गेरुए वस्त्र आदि का वेष धारण किया जाता है। **नचान्यथा** शब्द में **'च'** को **'अपि'** के अर्थ में प्रयोग करके यों अर्थ होगा कि- यदि परिवारजनों का बन्धन आड़े न आता हो, तो फिर संन्यासवेष धारण करने की भी आवश्यकता नहीं है। इसलिए जिसको अपने परिवारजनों से बन्धन होने की संभावना लगती हो, उसके लिए ही संन्यासी का वेष आवश्यक है, अन्य दूसरों को नहीं; अतः यह नियम सभी के लिए न होने के कारण आचार्यचरणों ने संन्यासी का वेष धारण करने की आज्ञा नहीं की- यह अर्थ है।

ननु भगवदुक्तेषु प्रशंसावाक्येषु परित्यागो न प्रकटतया प्रतीयते, कविवाक्येषु च ज्ञानमिश्रभक्तेः प्रशंसा प्रतीयते । खं वायुमग्निमिति वाक्यात् । तथा सति शुद्धभक्तिमार्गीयस्य त्यागस्य प्रशंसा कथं निश्चेतुं शक्या, तत्प्रसिद्ध्यभावादित्याकांक्षायां तत्प्रसिद्ध्यर्थमाहुः कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरव इति ।

अब किसी को एक शंका यह होती है कि, ऊपर कहे गए भक्ति की प्रशंसा करने वाले भगवद्वाक्यों में परित्याग करने की बात प्रकटरूप से प्रतीत नहीं होती, साथ ही साथ कवियोगेश्वर के वाक्यों में भी ज्ञानमिश्रित भक्ति की प्रशंसा होती प्रतीत होती है, उनके *"खं वायुमग्निं(श्री0भा-11/2/41)"* इस वाक्यानुसार; तो फिर इस परिस्थिति में शुद्धभक्तिमार्गीयत्याग की प्रशंसा होनी निश्चितरूप से कैसे कही जा सकती है, क्योंकि शास्त्रों में तो यह कहीं प्रसिद्ध नहीं है !! तो आचार्यचरण शुद्धभक्तिमार्गीयत्याग कहाँ प्रसिद्ध है, यह **कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः गुरवः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

कौण्डिन्यो ह्यनन्तदोरकस्याग्नौ प्रक्षेपेणोत्पन्नादपराधाद् दारिद्र्यमापन्नः, स्वपत्न्याः शीलाया वाक्यादनन्तापराधजन्यं तदुध्वा निर्विण्णोनन्तं ध्यायन् क्व द्रक्ष्यामीत्याशया गृहाद्वनं निर्गतो, निरशनं व्रतं ब्रह्मचर्यं च कृत्वा हरिं जपन् निर्जनेरण्ये चूतवृक्षं गोप्रभृतींश्चेतनानचेतनांश्च बहून् पप्रच्छ, तैः सर्वैरपि नानन्तोस्माभिर्दृष्ट इत्युक्ते विह्वलीभूतो जीविते निराशो दीर्घमुष्णं च निश्वस्य भूतले पपात, ततः किञ्चित्कालोत्तरं संज्ञां प्राप्यानन्तेति जल्पन् तस्मिन्क्षणे सुनिर्विण्णोऽभूत । ततः कृपयाऽनन्तदेवोपि वृद्धब्राह्मणरूपेण प्रत्यक्षीभूय 'इत एही'त्युक्त्वा पातालं प्रवेश्य, कौण्डिन्यं दक्षिणे करे गृहीत्वा स्वपुरीं दर्शयामास । तत्र दिव्यसिंहासनस्थितं स्वात्मानं च स्वायुधगरुडाद्युपशोभितं दर्शयामास । ततस्तं दृष्ट्वा परया मुदा प्रसन्नः कौण्डिन्यः 'पापोहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः । त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष शरणं मे भवाच्युत । अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् । यत्तवांघ्रियुगांभोजे मन्मूर्द्धा भ्रमरायत'इत्युक्तवान् । भगवांस्तु तस्मै दारिद्र्यनाशनं धर्मं सनातनं विष्णुलोकं च वरं दत्तवानिति भविष्योत्तरे भगवता युधिष्ठिरं प्रत्युक्तम् । तेनायं परित्यागः स्त्र्यादिकृतबन्धाभावात् संन्यासवेषरहितः स्वफलसाधने साधनान्तरापेक्षारहितः प्रसन्नध्येयसाक्षात्कारफलकः अवैधः शुद्धभक्तिमार्गीयश्चेति सिध्यति । अत एव वेदस्तुतौ 'एकदा नारदो लोका'नित्यत्र सुबोधिन्यामुक्तं 'एवमेव च परिभ्रमणं कर्तव्यं यथा कौण्डिन्येन कृत'मिति ।

कौण्डिन्यऋषि की कथा यह है कि, उन्होंने अनन्तभगवान का प्रसादी धागा अग्नि में फेंक देने का अपराध किया और उनकी पत्नी शीला ने उन्हें बताया कि अनन्तभगवान का अपराध किया होने के कारण उनमें दरिद्रता आयी है। तब उन्हें अपना अपराध समझ में आया। अब वे विरक्त होकर अनन्तभगवान का ध्यान करते हुए "मैं कब उनके दर्शन कर सकूँगा" इस आशय से अपना घर छोड़कर वन में निकल गए। बिना भोजन किए व्रत और ब्रह्मचर्य का पालन करके हरिनाम का जप करते हुए निर्जन जंगल में आमवृक्ष एवं गाय जैसे अनेक चेतन-अचेतनों से भगवान का पता पूछते रहे। जब उन सभी ने "हमने अनन्त को नहीं देखा" यह कह दिया, तो विह्वल होकर जीवन से निराश होकर एवं दीर्घश्वास लेकर भूमि पर गिर पड़े। इसके पश्चात् कुछ समय के बाद वे होश में आए और "अनन्त अनन्त" बड़बड़ाते हुए उसी क्षण अत्यन्त खिन्न हो गए। इसके पश्चात् कृपा करके अनन्तदेव एक वृद्धब्राह्मण के रूप में उनके सामने प्रकट हुए और "यहाँ आओ" यह कहकर पाताल में प्रवेश करके कौण्डिन्यऋषि का हाथ पकड़कर उन्हें अपनी नगरी दिखाई। वहाँ उन्होंने एक दिव्यसिंहासन पर अपने आयुधसहित गरुड़ आदि से सुशोभित होकर बिराजे हुए अपने दर्शन भी करवाए। तब ऐसा दृश्य देखकर कौण्डिन्यऋषि ने अत्यधिक प्रसन्न होकर "मैं पापी हूँ, पापकर्म करने वाला हूँ, पापात्मा हूँ, पापसंभव हूँ। हे कमलनयन अच्युत ! मेरा उद्धार करिए। आज मेरा जन्म सफल हो गया और मेरा जीवन आज सही अर्थों में जीवन बना है। आपके चरणकमलों में मेरा मस्तक झुका रहे। तब भगवान ने उन्हें उनकी दरिद्रता दूर करने वाला धर्म बताया और सनातन विष्णुलोक(अमिट विष्णुलोक) में स्थान देने का वर दिया- यह सभी कुछ भविष्योत्तरपुराण में भगवान ने युधिष्ठिर को कहा है। इसलिए इस प्रकरण से यह सिद्ध होता है कि, यह परित्याग स्त्री-परिवार के बन्धनों

ो रहित होने के कारण संन्यासवेष के बिना ही अपने फल को साधने में अन्य साधनों की अपेक्षा न रखते हुए प्रसन्नचित्तभगवान से साक्षात्कार कराने वाला और विधि-नियम से जकड़ा न होकर शुद्धभक्तिमार्गीय है। इसी कारण *"एकदा नारदो(श्री0भा-10/87/5)"* इस स्तुति के प्रकरण की सुबोधिनी(10/84/5) में आचार्यचरणों ने *"नारदजी की ही भाँति भगवान को ढूँढने के लिए भ्रमण करना चाहिए, जैसे कि कौण्डिन्य ऋषि ने किया"* यह कहा है।

गोपिकानां तु फलप्रकरण एव भगवत्प्राप्त्यर्थं सर्वपरित्यागः पूर्वमुक्तः । ततो मदमानाभ्यां भगवत्तिरोभावे भगवद्विचयनं, ततः प्रसादार्थं गानं, ततो दैन्येन रोदनं, ततो भगवत्प्रादुर्भावः, ततो भगवत्कृता तत्त्यागप्रशंसा, ततो लीलानुभव उक्तः, तत्रापि पूर्ववदेव वेषराहित्यादिकं फलपर्यन्तं सिद्धम्, अतस्त एवात्रैतत्परित्यागप्रवर्तकत्वादुरवः, अथ. चैवं. शास्त्रप्रसिद्धत्वात्, ।, 'एवं. मदर्थोज्झितेत्यादिना. भगवता. व्रजभक्तकृतत्यागस्य. प्रशंसनाच्चैकादशस्कन्धीयप्रशंसावाक्यानामप्येतदारंभावस्थासूचकतयैतत्प्रशंसायामेव तात्पर्यम् । तत्रापि द्वादशाध्याये रामेण सार्ध'मित्यादिभिस्तत्कृतसाधनस्यैव प्रशंसनात्, उद्धवस्य तदर्थसन्देह एवाग्रिमग्रन्थावताराच्च । उचितं चैतत्, यदारम्भः प्रशस्तस्तस्य परमा काष्ठा प्रशस्तेति । अतस्तत्परैव सा प्रशंसा निश्चेयेत्यर्थः ।

फलप्रकरण में पहले गोपिकाओं का भगवत्प्राप्ति के लिए सर्वत्याग करना कहा गया। इसके पश्चात् गोपिकाओं को 'मद' और 'मान', हुआ जिसके कारण भगवान तिरोहित हुए और उन्होंने भगवान को ढूँढना आरम्भ किया, फिर उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए गोपिकाओं ने भगवद्गुणगान किया, इसके पश्चात् उनमें दैन्य प्रकट हुआ और वे रोयीं, इसके पश्चात् भगवान प्रकट हुए, फिर भगवान ने उनके त्याग की प्रशंसा की और इसके पश्चात् उन्हें समस्त भगवल्लीलाओं का अनुभव होना बताया गया है। वहाँ भी पहले की ही तरह संन्यासीवेष इत्यादि के बिना ही परित्याग फलप्राप्त करने तक सिद्ध हुआ था। अतः ये गोपिकाएँ ही इस प्रकार के परित्याग की प्रवर्तिका होने के कारण इस पुष्टिमार्ग की गुरु हैं और शास्त्रों में यह बात तो प्रसिद्ध है ही। चूँकि *"रामेण सार्धं(श्री0भा-11/12/10)"* इत्यादि श्लोकों द्वारा भी भगवान ने व्रजभक्तों के त्याग की प्रशंसा की है एवं पूर्व में कहे एकादशस्कन्ध के श्लोकों में भी जिस त्याग की प्रशंसा की गयी है, वह प्रशंसा भी इन गोपिकाओं द्वारा किए गए त्याग की आरंभिक अवस्था का ही सूचन करती है इसलिए एकादशस्कन्ध में बतायी त्यागप्रशंसा का तात्पर्य गोपिकाओं द्वारा किए त्याग की प्रशंसा करने में ही है। इसके बाद आगे जाकर द्वादशाध्याय में भी भगवान ने गोपिकाओं द्वारा किए गए साधनों की प्रशंसा की, और भगवान द्वारा इतना उपदेश करने के बाद भी चूँकि उद्धवजी को यह सन्देह हो रहा था कि वे अपने स्वधर्म का पालन करें या फिर परित्याग करके भगवान की शरण ले लें(श्री0भा-11/12/16), अतः भगवान ने उसके बाद अध्याय की समाप्ति तक त्याग की प्रशंसा की और उनके सन्देह का निवारण किया। और यह कहना उचित भी है कि भगवान ने एकादशस्कन्ध में जिस त्याग की प्रशंसा की है, वह गोपिकाओं द्वारा किए गए त्याग की ही प्रशंसा है क्योंकि जिस त्याग की आरम्भदशा की ही प्रशंसा की जा चुकी है, उसकी फलदशा की प्रशंसा तो बिना कहे ही हो गयी। अतः यह बात अब अच्छी तरह से समझ में आती है कि, एकादशस्कन्ध में भगवान ने जिस त्याग की प्रशंसा की है, वह उन्होंने गोपिकाओं द्वारा किए गए त्याग की ही प्रशंसा की है- यह निश्चित होता है।

अत्र कौण्डिन्यग्रहणं निरपेक्षभक्तानां बहुविधत्वात्तत्कृतपरित्यागार्थं बोध्यम् । एतत्प्रशंसायास्तद्वददर्शनात् विरहोत्तरभाव्यनुभवार्थमात्रत्वेनैव विवक्षितत्वाच्च ।

अब आपश्री ने यहाँ परित्याग का स्वरूप बताने के लिए जो कौण्डिन्यऋषि का नाम लिया है, वह तो इसलिए क्योंकि निरपेक्षभक्त तो कई प्रकार के होते हैं अतः ऐसे निरपेक्षभक्तों द्वारा किए गए त्याग को बताने के लिए लिया है- यह जानना चाहिए। उन सभी निरपेक्षभक्तों की प्रशंसा भी गोपिकाओं की भाँति कहीं देखी नहीं जाती अतः ऐसे भक्तों का त्याग बताने के लिए कौण्डिन्यऋषि का नाम लेकर उन सभी निरपेक्षभक्तों के विषय में बता दिया। भगवद्विरह के पश्चात् होने वाली दशा का अनुभव क्या/कैसा होता है, केवल इतनी बात बताने तक के सीमित अर्थ में ही आचार्यचरणों ने कौण्डिन्यऋषि का उदाहरण दिया है, सर्वांश में नहीं।

एवं च यो यो यादृग्भक्तिमान् त्यागं चिकीर्षति तस्य तस्य तादृग्भक्ता एवेदृगवस्थाका गुरव इत्यपि बोधितम् । भगवदुद्धवसंवादसमाप्तौ अञ्जसा सिद्धिहेतुप्रश्ने 'देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि चे'ति भक्तचरिताश्रयणस्य तथात्वेनोपदेशादिति । एतेषां गुरुत्वं च स्वचरितेनैतन्मार्गप्रवृत्तिप्रयोजकत्वाद्दत्तात्रेयगुरूणां पृथिव्यादीनामिव बोध्यमित्याशयेनाहुः साधनं च तदिति । एतेनोपदेशानपेक्षाप्यत्र बोधिता ।

इस पूरे विवेचन से यह समझना चाहिए कि, जो-जो जिस-जिस प्रकार की भक्ति के अनुसार त्याग करने की इच्छा करता है, उस उस

भक्त के लिए भक्ति की वैसी वैसी अवस्था में पहुँचे हुए भक्त ही उसके गुरु होते हैं- यह बात भी आचार्यचरणों ने यहाँ सूचित की है। इस बात का प्रमाण यह है कि, भगवान और उद्धवजी के संवाद की समाप्ति में उद्धवजी द्वारा *"सिद्धियाँ शीघ्र कैसे मिलती हैं ?(श्री0भा-11/29/1)"* यह प्रश्न पूछने पर भगवान ने *"देवासुरमनुष्येषु(श्री0भा-11/29/10)"* इस वाक्य द्वारा प्रत्युत्तर में अपने अनन्यभक्त का अनुकरण करते हुए उसके अनुसार आचरण करने की आज्ञा की है। इसीलिए आचार्यचरणों ने भी कौण्डिन्यऋषि एवं गोपिकाओं को गुरु इस कारण से कहा है क्योंकि ये भी अपने-अपने द्वारा किए गए आचरणों के द्वारा ही जीव को पुष्टिभक्तिमार्ग में प्रवृत्त कराने के प्रयोजक बनते हैं, यानि इन्हें गुरु इसलिए कहा गया क्योंकि इनके कर्म, इनके व्यवहार अन्य दूसरों के लिए इस मार्ग में प्रवृत्त होने के प्रयोजक बनते हैं अतः जिस प्रकार दत्तात्रेयजी ने पृथ्वी, वायु आकाश इत्यादि को उनके अपने-अपने कार्यानुसार उनसे प्रेरणा लेकर उन्हें गुरु मान लिया था ; ठीक उसी प्रकार कौण्डिन्य एवं गोपिकाओं को भी उनके अपने अपने कार्यानुसार उन्हें अपना गुरु समझ लेना चाहिए- इस आशय को कहने के लिए आपश्री **साधनं च तत्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि इस मार्ग में उपदेश की कोई अपेक्षा नहीं है।

अत्र विरहानन्तरभाविनां तत्कृतानां साधनानां बहुत्वात्तानि सर्वाणि कर्तव्यान्युत किञ्चिदेकमित्यपेक्षायां तत्सर्वप्रयोजकमादिभूतं यत्साधनमवश्यं विवक्षितं तदत्र कार्यतयेष्यत इत्याहु: भावो भावनयेत्यादि । भगवति परमा रतिर्भाव: । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयत' इति वाक्यात् । सोपि न स्वत: सिद्धो विवक्षित:, तस्य स्वाभाविकत्वात्, किन्तु भावनया निरन्तरचिन्तया सिद्ध: प्रचित: तादृशस्यैव साक्षात्कारफलकताया: साधनान्तरासाधकतायाश्च पूर्वोक्तोपाख्यानद्वयेपि सिद्धत्वात् । अत: स एव साधनं, नान्यदिष्यते, अन्यद्विचयनादिकं साधनत्वेन नेष्यत इत्यर्थ: ।

अब यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि विरह के पश्चात् गोपिकाओं ने तो अनेक साधन किए थे अतः वे सभी साधन करने चाहिए या फिर उनमें से कोई एक साधन ? यह अपेक्षा होने पर आचार्यचरण सभी साधनों के प्रयोजक का जो मूलभूत साधन है, वह साधन अवश्य करना चाहिए, और उस साधन के विषय में आपश्री **भावो भावनया सिद्धं** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। भगवान में परम रति/प्रेम हो जाने को भाव' कहा जाता है; जैसा कि *"रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते"* इस वाक्य में कहा गया है। और भाव भी वैसा भाव नहीं जो अपने आप मन में उमड़ रहा हो क्योंकि ऐसा भाव तो स्वाभाविक होता है, अपितु **भावनया** यानि प्रयत्न करके निरन्तर भगवच्चिन्तन करते रहने के द्वारा **सिद्धः** हुआ यानि हृदय में संचित किया गया जो भाव होता है, वही इस परित्याग में साधन बनता है, क्योंकि ऐसा भाव ही भगवान से साक्षात्काररूपी फल प्राप्त कराता है और अन्य किसी दूसरे साधनों से सिद्ध नहीं हो सकता अपितु केवल भावना के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है- यह दोनों बातें ऊपर कहे कौण्डिन्य एवं गोपिकाओं दोनों के उपाख्यानों द्वारा भी सिद्ध की गयी हैं। अतः आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- **साधनं नान्यदिष्यते** यानि यही साधन करना चाहिए, गोपिकाओं की भाँति भगवान को ढूँढने जैसे अन्य साधनों की अपेक्षा यहाँ नहीं है- यह अर्थ है।

ननु तस्यापि तत्र सत्वात् कुत: साधनत्वेन नेष्यते इत्यत आहु: विकलत्वमित्यादि । जडेष्वयोग्येषु च प्रश्नो विकलत्वम् । तथा अस्वास्थ्यं प्रकृत्या स्थित्यभाव: । एतत् द्वयं प्रकृति: विरहावस्थास्वभाव: । तत्रापि हेतु: प्राकृतं न हीति । प्रकृतिसम्बन्धि प्राकृतं, स्वस्थावस्थाप्राप्तं न दृश्यते, हि यतो हेतो:, तथा च तद्यदि स्वस्थावस्थाहेतुकं स्यात्तदा साधनत्वेनेष्येत । अतस्तदभावान्नेष्यत इत्यर्थ: ।

किन्तु किसी को एक प्रश्न यह होता है कि, गोपिकाओं ने भगवत्प्राप्ति के लिए जो साधन किए थे, उनमें से एक भगवान को ढूँढना भी तो था, फिर आचार्यचरण वैसा साधन करने के लिए क्यों मना कर रहे हैं ? तो आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण **विकलत्वम्** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। गोपिकाओं ने जिस प्रकार जड़ एवं अयोग्य लोगों से भगवान का पता पूछा था, उस अवस्था को 'विकलता' कहते हैं। और, अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अनुरूप न रहने को 'अस्वास्थ्य' कहते हैं। ये दोनों विरहावस्था की प्रकृति/स्वभाव होता है, यानि विरहावस्था में ऐसा होता ही है। इसी बात को आपश्री **प्राकृतं न हि** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। प्रकृति से सम्बन्धित वस्तु को प्राकृत कहते हैं, यानि कि स्वाभाविक। किन्तु यहाँ समझने वाली बात यह है कि, गोपिकाओं में दिखाई देने वाली विकलता और अस्वस्थता उनकी सभान अवस्था में दिखाई नहीं दी थी अपितु प्रभुवियोग के कारण उन्मत्त बन चुकी गोपिकाओं को तो स्वयं भी ये भान नहीं था कि वे क्या कर रही हैं। इसलिए गोपिकाओं ने प्रभुवियोग में जो कुछ भी किया वो यदि सामान्य अवस्था में किया होता, तब तो उनके किए को साधन के रूप में कहा भी जा सकता था, परन्तु उन्होंने जो कुछ भी किया, वो विकलता और उन्मत्त अवस्था में किया अतः उनके किए को आचार्यचरण

---

१. स्वास्थ्यहेतुकं

साधन के तौर पर करने को मना कर रहे हैं।

ननु तर्ह्येकादशस्कन्धे 'श्रृण्वन् सुभद्राणी'त्यादिश्लोकत्रयोक्तभगवज्जन्मकर्मश्रवणकीर्तनगानादयः सर्वत्र भगवच्छरीरत्वेन ज्ञानं च स्वस्थावस्थाधर्मत्वात् साधनत्वेनेष्टव्यमेतत्सजातीयधर्मत्वादित्याकांक्षायामाहुः ज्ञानमित्यादि । ज्ञानं सर्वस्य भगवच्छरीरत्वेन ज्ञानम् । गुणाश्च श्रवणकीर्तनगानविषया भगवद्गुणा अपि, तस्यैव भावनाप्रचितभावस्यैव, वर्तमानस्य तदन्तःकरणादिषु व्याप्तस्य, बाधकाः वर्तमानतानाशकाः, यथायथं शुकादिषु मथुराप्रयातभगवद्वियुक्तविशोकगोपिकासु च दृष्टाः, अतो नेष्यन्त इत्यर्थः ।

केन्तु इसमें एक शंका यह होती है कि, फिर एकादशस्कन्ध में *"श्रृण्वन् सुभद्राणि..... साक्षात्(श्री0भा-11/2/39-43)"* इत्यादि तीन श्लोकों में परित्याग करने वाले को भगवान के जन्म की कथा सुननी, उनकी लीलाओं का अवगाहन करना, श्रवणकीर्तन करना और सर्वत्र पदार्थों को भगवत्स्वरूप समझने का ज्ञान होना इत्यादि स्वस्थता देने वाले धर्म जब बता ही दिए गए हैं, तो फिर आचार्यचरणों को चाहिए कि उन्हीं धर्मों को वे यहाँ भी साधन के रूप में बताएँ ! क्योंकि अंततोगत्वा यहाँ बताए गए विप्रयोगीभक्त एवं उपर्युक्त एकादशस्कन्ध के वाक्य में बताए गए भक्त के लक्षण समान ही तो हैं !! यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण **ज्ञानं** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। यहाँ **ज्ञानं** का अर्थ है- सर्वत्र जड़चेतन पदार्थों में भगवत्स्वरूप का ज्ञान होना। **गुणाः** का अर्थ है- जिनका श्रवणकीर्तनगान करना है, वे भगवद्गुण; ये दोनों पूर्व में बताए साधन के यानि भगवद्भावना करने के द्वारा संचित किए गए भाव के, जो के अब उसके अन्तःकरण में व्याप्त है, उस भाव के बाधक होते हैं, यानि उसकी वर्तमान परिस्थिति के नाशक होते हैं। और यह बात यथायोग्यतया शुकदेवजी आदि एवं जब भगवान मथुरा पधार रहे थे तब शोकयुक्त गोपिकाओं में होनी देखी भी गयी है, इसका तात्पर्य यह है कि जब श्रीशुकदेवजी को भगवद्विरह हुआ, तब उन्हें सर्वत्र जड़चेतन पदार्थों में भगवान के ही दर्शन होने लगे और तब उनका तीव्रविप्रयोग का भाव शांत हो गया। इसी प्रकार जब भगवान मथुरा पधार रहे थे, तब उन्होंने गोपिकाओं को यह आश्वासन दिया कि, वे पुनः शीघ्र वापस पधारेंगे और इससे गोपिकाओं का विरह कुछ शांत हो गया। श्रीपुरुषोत्तमचरणों का कहना यह है कि, इस प्रकार से तीव्रविप्रयोगभाव का शांत होना उचित नहीं है क्योंकि भगवान का साक्षात प्राकट्य तो उत्कट तीव्रविप्रयोग के पश्चात् ही होता है अतः भाव शांत होने से हानि यह हुई कि भगवान का प्रकट होना बाधित हो गया। इसीलिए श्रीपुरुषोत्तमचरण आचार्यचरणों का अभिप्राय बताते हुए ये आज्ञा कर रहे हैं कि जब भगवद्विप्रयोग अत्यधिक तीव्र हो जाय, तब साक्षात् प्रकट भगवान के अतिरिक्त अन्य कहीं भी भगवान की अनुभूति होनी एवं भगवद्गुणगान द्वारा विरहभाव शांत हो जाना, ये दोनों बाधक हैं- यह अर्थ है। अतः आचार्यचरण वेप्रयोगावस्था में स्वस्थता कराने वाले 'ज्ञान' और 'गुण' ये दोनों होने स्वीकार नहीं कर रहे हैं।

ानु तादृशज्ञानं साक्षात्कारफलकम्, गुणाश्च शोकाभावफलकाः, 'विशोका अहनी निन्यु'रिति वाक्यात् । अतः वेरहानुभवस्वरूपबाधेपि को दोष इत्याकांक्षायां प्रथमतः ज्ञानभावनयोः फलतारतम्यं व्युत्पादयन्ति सत्येत्यादि ।

केन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, इस प्रकार से जड़चेतन सर्वत्र पदार्थों में भगवत्स्वरूप का ज्ञान होना तो अच्छी बात है क्योंकि ऐसा ज्ञान तो भगवान का साक्षात्कार सर्वत्र करवा रहा है; साथ ही साथ भगवद्गुणगान करने से तो भगवद्विरह का शोक दूर होता है, जैसा कि *"गोपियाँ दिन-रात अपने प्यारे श्यामसुन्दर की लीलाओं का गान करतीं और अपने शोकसन्ताप को हलका करतीं(श्री0भा-10/39/37)"* इस वाक्यानुसार भगवद्गुणगान करने से गोपिकाएँ अपना शोक दूर करतीं भी थीं, अतः यदि एक घड़ी 'ज्ञान' और 'गुणगान' से वेरहानुभव में बाधा आ भी जाती हो, तब भी क्या दोष है ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण प्रथमतया 'ज्ञान' और 'भावना' से प्राप्त होने फल में परस्पर अंतर को **सत्यलोक** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं।

ंन्यासेन विशेषितात् सहकृतात् सर्वत्र ब्रह्मस्थितिबोधकात् परोक्षज्ञानात्, **सत्यलोके** चतुर्मुखलोके स्थितिः । **वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वं' इति तैत्तिरीय) श्रुतेः । अस्यां श्रुतौ वेदान्तविषयकनिश्चितपरोक्षज्ञानवतां संन्यासिनां शुद्धसत्त्ववत्त्वेन ब्रह्ममुक्तिकाले परामृतं ाप्य मुक्तिरुक्ता । छान्दोग्ये तु 'यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती'ति मरणानन्तरमेव भावनानुरूपं ारलौकिकतात्कालिकफलं श्रावितम् । अतो यत्र पुरुषे भावना साधनं तत्र तथा तादृशमेव फलं भवेत् । चोवधारणे । था च ज्ञाने फलस्य भेदः कालस्य विलम्बश्च दोष इत्यर्थः ।**

ानात् संन्यासेन विशेषितात् का अर्थ है- संन्यास के साथ प्राप्त किए गए ज्ञान द्वारा सर्वत्र जड़चेतन पदार्थों में ब्रह्म का बोधन कराने ाले परोक्षतया भगवान के ज्ञान द्वारा **सत्यलोक** में यानि चतुर्मुखी ब्रह्मा के लोक में स्थान प्राप्त होता है, यानि संन्यासविशिष्टज्ञान द्वारा

ज्ञानी जड़चेतन समस्त पदार्थों में ब्रह्म का ही अनुभव करता है-यह अर्थ है। आगे वाली श्रुति द्वारा श्रीपुरुषोत्तमचरण ज्ञान से प्राप्त होने वाले फल के विषय में बता रहे हैं, जैसा कि *"वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था:(महा0उप/दहरविद्या/12)"* इस श्रुति में बताया गया है। इस श्रुति में यह कहा गया है कि, वेदान्त में निश्चयपूर्वक बताया गया ब्रह्म का परोक्षज्ञान प्राप्त कर चुके संन्यासियों की, चूँकि ज्ञान से उनका अन्त:करण शुद्ध हो चुका है, अत: जब ब्रह्माजी की मुक्ति होगी, तब परामृत-ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करने के पश्चात् उनकी मुक्ति होनी बतायी गयी है।आगे आने वाली श्रुति द्वारा श्रीपुरुषोत्तमचरण भावना से प्राप्त होने वाले फल के विषय में बता रहे हैं। और छान्दोग्य उपनिषद् में तो *"इस लोक में पुरुष जिस प्रकार के निश्चय करने वाला होता है, वह मृत्यु के पश्चात् वैसे ही फल को प्राप्त करता है(3/14/1)"* इस श्रुति में तो मरण होने के तुरन्त बाद ही जैसी भावना की होगी, वैसा ही पारलौकिकफल प्राप्त होने की बात कही गयी है। अत: यह सिद्ध होता है कि, **भावना साधनं यत्र तथा फलं** यानि जहाँ जिस पुरुष में जैसी भावना होती है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। **च** शब्द इस बात को निश्चित बताने के लिए प्रयुक्त किया है। फलितार्थ यह हुआ कि, भावना की तुलना में ज्ञान द्वारा प्राप्त होने वाले फल में भेद है और फलप्राप्ति में कालविलंब भी होता है- यह दो दोष ज्ञान में हैं, यानि एक तो केवल सत्यलोक की ही प्राप्ति का सीमित फल मिला और दूसरा यह कि मुक्ति भी विलम्ब से हुई, अत: उच्चविरहावस्था में ज्ञान प्रकट होना ठीक नहीं है- यह आचार्यचरणों का अभिप्राय है।

ननु 'यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथे'ति गीतावाक्यात् प्रबले ज्ञाने कर्मणां नि:शेषनाशात् न कालविलम्ब: । 'हरे: शरीर'मित्युक्ततया ज्ञानस्य भगवद्विषयत्वाच्च न फलभेद इत्याशंकायामाहु: तादृश इत्यादिसार्धम् । तादृश: प्रबलज्ञानवान् सत्यलोकादौ विद्युद्वरुणेन्द्रप्रजापतिलोकेषु तिष्ठत्येव, तत्रत्यभोगेन स्वप्रारब्धमपनयन्नातिवाहिकवैद्युतपुरुषागमनपर्यन्तं स्वप्रारब्धानुसारेण तिष्ठत्येव न संशय: । परान्तकालप्रतीक्षाऽभावेपि वैद्युतपुरुषप्रतीक्षाया आतिवाहिकाधिकरणे सिद्धत्वात् । ज्ञानप्राबल्येपि तादृशस्य विलम्बे सन्देहो नेत्यर्थ: ।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, *"जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी भाँति हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि सभी प्राकृत बन्धनों को जला डालती है(भ0गी-4/37)"* इस वाक्यानुसार प्रबलज्ञान प्राप्त हो जाने पर तो समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं अत: भगवत्प्राप्ति में कालविलम्ब नहीं होगा, यह सिद्ध होता है। साथ ही साथ *"हे राजन्! जो मनुष्य यह आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, वनस्पति, नदी, समुद्र- यह सभी कुछ भगवान का शरीर है- ऐसा जानकर इनमें से जो कोई भी सामने आ जाय, उसे भगवद्भाव से प्रणाम करता है, तो वह मेरा भक्त कहलाता है(श्री0भा-11/2/41)"* इस वाक्यानुसार जो ज्ञान प्राप्त हुआ, वह भी भगवद्विषयकज्ञान ही तो हुआ अत: ज्ञानमार्गीयसंन्यास और भक्तिमार्गीयसंन्यास के फलों में भी कहाँ भेद रहा !! ऐसी आशंका होने पर आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण **तादृश:** इस आधे श्लोक द्वारा कर रहे हैं। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- 'तादृश:' यानि प्रबलज्ञानवान को भी **सत्यलोकादौ** यानि विद्युत, वरुण, इन्द्र, प्रजापति के लोकों में रहना ही पड़ता है, और वहाँ प्राप्त होने वाले भोगों को भोगते हुए अपने प्रारब्ध को पूर्ण करते हुए आतिवाहिकवैद्युतपुरुष के आने तक अपने प्रारब्धानुसार उसे उन लोकों में रहना ही पड़ता है, ब्रह्मसूत्र के चौथे अध्याय में वर्णित है कि ज्ञानी मृत्यु के पश्चात् वरुणलोक, प्रजापतिलोक एवं विद्युतलोक इत्यादि अन्य लोकों में जाता है और वहाँ के भोगों को भोगता है। जब उसकी मुक्ति का समय आता है तब उसे ब्रह्मलोक में ले जाने के लिए एक अमानवीय पुरुष आता है जो उसे ब्रह्मलोक तक ले जाता है। इस अमानवीय पुरुष को आतिवाहिक वैद्युतपुरुष कहा जाता है जिसके आने तक की प्रतीक्षा ज्ञानी को करनी पड़ती है। तात्पर्य यह कि ज्ञानी को भी मुक्त होने के लिए दीर्घकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। देखें ब्रह्मसूत्र-4/3/4, **न संशय** यानि इस बात में कोई संशय नहीं है। भले ही उसे परान्तकाल तक यानि ब्रह्माजी के मुक्त हो जाने तक प्रतीक्षा न करनी पड़ी, तथापि वैद्युतपुरुष के आने तक तो मुक्ति के लिए प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है- यह बात ब्रह्मसूत्र के आतिवाहिक अधिकरण में सिद्ध की गयी है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, प्रबलज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद भी ऐसे ज्ञानी को फलप्राप्ति में विलम्ब होता ही है, इस बात में कोई सन्देह नहीं है।

नन्विदं भावनापक्षेपि तुल्यमित्याशंकायामाहु: बहिरित्यादि । अरणिमथनप्राबल्येन वह्निरिव भावनाप्राबल्येन बहि: प्रकट: स्वात्मा पुरुषोत्तमो यदि वह्निवद्बहिर्व्याप्य पुनरन्त:प्रविशेत्, तदैव तस्मिन्नेव काले सकलो बन्धो बाह्य आभ्यन्तरश्च नाशमेति, निवर्तते, न चान्यथा अन्यथा न निवर्तते एव । तथा च 'यदा सर्वे प्रलीयन्ते कामा येस्य हृदि स्थिता: । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नत' इति श्रुत्या तदानीमेव बन्धाभावस्य फलाध्यायद्वितीयपादारम्भे 'वाङ्मनसि दर्शना'दिति सूत्रे विचारितत्वात् अन्तर्गृहगतगोपिकासु तथैव दर्शनाच्चेति न भावनापक्षस्य ज्ञानतौल्यम् । अतो विलम्बापादकत्वात् ज्ञानं साधनत्वेन नेष्यत इत्यर्थ: । एतेन शुद्धभक्तिमार्गीयत्यागे ज्ञानमिश्रपक्षोपि निवारित: ।

किन्तु यदि कोई ये शंका करे कि, ज्ञान की भाँति भावना करने की प्रक्रिया में भी फलप्राप्ति में विलम्ब होगा, तो आचार्यचरण

इसका निराकरण **बहि:** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह कि, जैसे कि लकड़ी/अरणि का अधिक घर्षण करने पर अग्नि प्रज्जवलित हो जाती है, उसी तरह भगवद्भावना अधिक प्रबल हो जाने पर बाहर प्रकट हुए स्वात्मा पुरुषोत्तम अग्नि की भाँति बाहर व्याप्त होकर जब पुनः अन्तःकरण में प्रवेश करते हैं, तब विलम्ब न होकर उसी क्षण ही बाहरी-भीतरी समस्त बन्धनों का नाश हो जाता है, **नचान्यथा** यानि इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से समस्त बन्धनों का नाश नहीं ही होता- यह अर्थ है। उसी क्षण बन्धनों का दूर हो जाने वाली बात *"जिस क्षण मनुष्य की समस्त कामनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं, उसी क्षण इसी मनुष्य-शरीर में वह परब्रह्म का अनुभव कर लेता है(कठो-2/3/14)"* इस श्रुति के अनुसार फलाध्याय के दूसरे पाद के आरम्भ में *"वांगमनसि दर्शनात्(ब्रह्मसूत्र 4/2/1)"* इस सूत्र द्वारा भी कही गयी है एवं यही बात अन्तर्गृहगतागोपिकाओं के भी सदर्भ में बतायी गयी है कि, घर बैठे ही भगवान ने उनके अन्तःकरण में प्रवेश करके उनके समस्त बन्धनों का नाश कर दिया था अतः ये सिद्ध होता है कि, भगवद्भावना से प्राप्त होने वाले फल की तुलना ज्ञान से प्राप्त होने वाले फल से नहीं की जा सकती। अतः फलप्राप्ति में विलम्ब कराता होने के कारण 'ज्ञान' साधनरूप से आचार्यचरणों को स्वीकार्य नहीं है। इसी विश्लेषण के द्वारा शुद्धभक्तिमार्गीयत्याग और ज्ञानमिश्रितत्याग को एक मान लेने की शंका निवारित हो गयी जान लेनी चाहिए।

तर्हि गुणानां तथात्वमस्त्वित्याकांक्षायामाहु: गुणास्त्वित्यादि । तु: शङ्कानिरासे । श्रवणादिविषया गुणा: सङ्गराहित्यात्, भावनासिद्धस्य भावस्याप्राबल्ये भगवतो बहि: प्राकट्याभावेन तत्सङ्गराहित्यादुद्बुद्धे विरहे जीवनार्थं भवन्ति । हि निश्चयेन । विशोकवाक्ये तप्तजीवनवाक्ये च तथैव सिद्धत्वात् । अतो विलम्बापादकत्वेन मध्यमाधिकारे ते उपयुज्यन्ते । अतो मुख्याधिकारे तेपि साधनत्वेन नेष्यन्त इत्यर्थ: ।

तब फिर एक शंका यह होती है कि, यदि ज्ञान भगवद्भावना की तुलना में नहीं आ सकता, तब तो फिर भगवद्गुणगान को ही भगवद्भावना के तुल्य साधन मान लेना चाहिए; तो आचार्यचरण **गुणास्तु** इत्यादि शब्दों से इसका भी निराकरण कर रहे हैं। **'तु'** शब्द इस शंका का निराकरण करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, श्रवणविषयक भगवद्गुण तो भगवत्संग प्राप्त न होने के कारण, और जब भगवद्भावना के द्वारा भाव प्रबल नहीं बना होता है तब चूँकि भगवान अन्तःकरण के बाहर प्रकट नहीं होते अतः उस समय भगवत्संग के अभाव में प्रकट हुए विरह में उसके जीवन को टिकाने के लिए काम आते हैं। **हि** शब्द इस अर्थ की निश्चितता को बताने के लिए प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि यही बात *"विशोका अहनी(श्री0भा-10/39/37)"* एवं *"तप्तजीवनं(श्री0भा-10/31/9)"* इत्यादि वाक्यों में भी इसी प्रकार सिद्ध की गयी है। अतः भगवद्गुण तो जीवन टिका देते होने के कारण भगवत्प्राप्ति में विलम्ब कराते होने के कारण मध्यमाधिकारी के लिए ही उपयोगी सिद्ध होते हैं, तीव्रविप्रयोग की उच्चदशा में पहुँचे हुए जीव के लिए नहीं। अतः ऐसा मुख्याधिकार प्राप्त कर लेने के पश्चात् तो आचार्यचरण भगवद्गुणों को भी साधन के रूप में स्वीकार नहीं कर रहे हैं- यह अर्थ है।

ननु यद्येवं गानादिविषयाणां गुणानामपि बाधकत्वम्, तर्हि भाव्यमानस्य भगवतोपि विलम्बापादकत्वेन बाधकत्वं कुतो न स्यादित्यत आहु: भगवानित्यादि । स हि फलरूप:, प्राप्तश्चेत् फलमेव जातं साधनस्य, अत: फलरूपत्वात् साधनावस्थानिवर्तकत्वेपि बाधकत्वेन नेष्यत इत्यर्थ: । एतेन येषु बहि: प्राकट्योत्तरमन्त:प्रवेशस्तेषां सद्योमुक्ति:, येषु च बहि: प्राकट्यमेव, नान्त:प्रवेशस्तेषामिहैव लीलानुभव इति मुख्येष्वपि व्यवस्था सूचिता । तेन न कोपि क्वापि विरोध इति ध्येयम् ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, इस प्रकार गान करने के विषय भगवद्गुण भी यदि बाधक होते हैं, तो फिर जिनकी भावना की जा रही है वे भगवान भी तो विप्रयोग करवा कर फलदान में विलम्ब ही कर रहे हैं, तो फिर भगवान फलदान में क्यों विलम्ब करते हैं और इसी कारण भगवान को भी बाधक क्यों न मान लिया जाय ! तो आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण **भगवान्** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, भगवान फलरूप हैं, जब प्राप्त होंगे तब तो जीव को उसके साधन का फल प्राप्त हो ही गया, इसलिए यदि आचार्यचरणों ने गुणगान को साधन नहीं माना तो ठीक ही है क्योंकि भगवान तो फलरूप हैं इसलिए वे जीव की गुणगान वाली साधनावस्था को ही तो दूर कर रहे हैं ताकि वह साधनावस्था से निकलकर उससे बढ़कर फलदशा में आ जाय तात्पर्य यह है कि गुणगान तो साधनावस्था है और यदि जीव गुणगान में ही लगा रहे और उसका विप्रयोग चरमसीमा तक न पहुँचे तो वह फलदशा तक नहीं पहुँच पायेगा अतः चूँकि भगवान फलरूप हैं, फल देने वाले कहे गए हैं इसलिए भगवान यदि उसे गुणगान द्वारा प्राप्त नहीं होते और उसे विलम्ब कराते हैं, तो एक तरह से उसकी साधनावस्था ही तो हटा रहे हैं ताकि वह शीघ्र विप्रयोग का अनुभव करे और फलदशा तक पहुँचे ! अतः

भले ही प्रभु उसे गुणगान द्वारा प्राप्त नहीं होते और विलम्ब कराते हैं, तब भी उक्त दृष्टिकोण से वे उसके बाधक नहीं कहे जायेंगे-यह अर्थ है। इस विवेचन से यह बात ज्ञात होती है कि, (1)जिन जीवों के लिए भगवान बाहर प्रकट होकर पश्चात् पुनः उनके अन्तःकरण में प्रवेश करते हैं, उनकी तो तत्काल मुक्ति हो जाती है; और (2)जिन जीवों के लिए वे बाहर ही प्रकट होते हैं, पुनः उनके अन्तःकरण में प्रवेश नहीं करते, उन जीवों के लिए तो वे यहीं भूतल पर ही अपनी लीलाओं का अनुभव कराते हैं- यों मुख्यजीवों के लिए भी दो प्रकार की व्यवस्था यहाँ सूचित होती है। इस विवेचन से अब किसी से कहीं कोई भी विरोध नहीं आता, यह ध्यान रखिए।

ननु यदि भगवान् फलरूपत्वान्न बाधकः, तदा फलरूपत्वादेव यथा विजने दर्शनार्थं यतमानाय नारदाय दर्शनं दत्वा तिरोहितः सन् पुनर्दर्शनार्थं यतमानं तं प्रति 'हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसी'ति स्वास्थ्यार्थं वाक्यमुक्तवान्, तस्य स्वास्थ्यं च कृतवान्, तथा अत्र कुतो न वक्ति ? स्वास्थ्यं च कुतो न करोतीत्यत आहुः स्वास्थ्येत्यादि । स्वास्थ्यं च वाक्यं स्वास्थ्यवाक्यम्, विभाषैकवद्भावः स्वास्थ्यसहितं वाक्यं स्वास्थ्यवाक्यं तत्, भगवतः न कर्तव्यम्, अर्हे तव्यः, कर्तुं योग्यं न भवति । तत्र हेतुः, दयालुर्न विरुध्यत इति । अयमर्थः । नारदो ह्यविपक्वकषायः परं शुद्धभाव इति तस्य स्वास्थ्यार्थं तिरोहित एव वाक्यमुक्तवान्, स्वास्थ्यं च कृतवान् । प्रकृते त्वन्तर्गृहगतानामिवास्य बन्ध एव तत्कालं नाशनीयः । स बन्धो यदि प्रारब्धकृतस्तदा भगवद्विरहजतीव्रतापभगवदाविर्भावजाश्लेषसुखाभ्यामेव निवर्तनीयः, भावस्यौत्कट्यात् । यदि तादृशेपि वाक्यं ब्रूयात्, स्वास्थ्यं वा कुर्यात्, तदा सद्योमुक्तिं विरुन्ध्यात् । अतो दयालुत्वान्न विरुध्यते ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि भगवान फलरूप होने के कारण बाधक नहीं हैं, तो फिर फलरूप होने के नाते ही जिस प्रकार भगवान निर्जनवन में भगवद्दर्शन के लिए प्रयत्नशील नारदजी को दर्शन देकर एक बार तो तिरोहित हो गए, तत्पश्चात् जब नारदजी ने पुनः दर्शन के लिए प्रयत्न किया, तो भगवान ने उन्हें स्वस्थ/प्रफुल्ल करने के लिए *"नारदजी ने कहा- भगवान ने अपनी मधुर वाणी द्वारा मेरे शोक को दूर करते हुए मुझसे कहा कि अब तुम इस प्राकृतमलिन शरीर को छोड़कर मेरे पार्षद बन जाओगे(श्री0भा-1/6/24)"* यह वाक्य कहे थे एवं उन्हें स्वस्थ भी किया था, उसी प्रकार भगवान तीव्रविप्रयोगीजीव को भी स्वास्थ्यवचन क्यों नहीं कहते? उसको स्वस्थ क्यों नहीं करते? ऐसी शंका होने पर आचार्यचरण **स्वास्थ्य** इत्यादि शब्दों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। **स्वास्थ्यवाक्यं** का अर्थ है- 'स्वास्थ्य' और 'वाक्य'; किन्तु व्याकरण के नियमानुसार एकवद्भाव होकर 'स्वास्थ्यवाक्य' यों एक शब्द बना दिया गया है। **स्वास्थ्यवाक्यं** अर्थात् स्वास्थ्यसहित वाक्य को 'स्वास्थ्यवाक्य' कहेंगे; आपश्री का कथन है कि- तीव्रविप्रयोग की ऐसी उच्चदशा में पहुँचे जीव के प्रति भगवान को स्वास्थ्यपूर्णवाक्य नहीं कहने चाहिए, यानि ऐसी दशा में भगवान को उसे स्वस्थ बनाने वाले वाक्य कहना योग्य नहीं है। क्यों नहीं है, तो इसका हेतु आपश्री **दयालुर्न विरुद्ध्यते** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, नारदजी के कर्मदोष पूरी तरह से मिटे नहीं थे, परन्तु उनका भाव शुद्ध था इसलिए भगवान ने उनको स्वस्थ बनाने के लिए तिरोहितावस्था में ही वाक्य कहे एवं उन्हें स्वस्थ भी किया। किन्तु यहाँ जिस प्रकार के विप्रयोगीजीव की चर्चा चल रही है, उसका बन्धन तो अन्तर्गृहगता गोपिकाओं की भाँति तत्क्षण नाश होना चाहिए, ऐसा है। और ऐसे जीव को बन्धन यदि उसके अपने प्रारब्ध के कारण हुआ है, तब तो भगवान को उसके बन्धन को भगवद्विरह से उत्पन्न हुए तीव्रताप से आविर्भूत होने वाले भगवान के आलिंगनसुख द्वारा ही दूर करना चाहिए; क्योंकि अब उसका भाव अति उत्कट हो चला है एवं अब उसमें और अधिक विलम्ब करने की संभावना नहीं होती। यदि ऐसी दशा में भी वे उसे स्वास्थ्यपूर्ण वाक्य ही कहें, या उसे स्वस्थ कर दें, तब तो उसकी शीघ्रमुक्ति होनी रुक जायेगी; इसलिए भगवान दयालु होने के नाते उसकी सद्योमुक्ति(शीघ्रमुक्ति)के विरुद्ध कार्य नहीं करते।

अयं कर्मकर्तरिप्रयोगः । तथा च स्वास्थ्यवाक्यकरणमेव दयालुं विरुणद्धि । स्वयं तु दयालुर्न विरुध्यते । अतः परमकृपया स्वयमेव शीघ्रं बन्धनिवृत्तिं विधास्यन् तत् द्वयं न करोतीत्यतः स्वास्थ्यवाक्यं कर्तुमनर्हमित्यर्थः ।

दयालुर्न विरुद्ध्यते यह वाक्य कर्मकर्तरि का प्रयोग है। इसका अर्थ यह है कि, यदि भगवान स्वास्थ्यवाक्य कहें, तब ही दयालु होने के विरुद्ध जाने सिद्ध होंगे। किन्तु भगवान तो दयालु हैं अतः वे उसके विरुद्ध नहीं जाते। अतः परमकृपा करते हुए स्वयं ही शीघ्रता से उसके बन्धन की निवृत्ति करते हुए वे उसे 'स्वस्थ बनाना' और उसके प्रति 'वचन कहना' ये दो कार्य नहीं करते, अतः भगवान के लिए 'स्वास्थ्य करना' और 'वचन कहना' ये दो कार्य करने योग्य नहीं है- यह अर्थ है।

ननु यद्येवं तर्हि 'वाग्गद्गदे'त्यादिना भुवनपावनत्वेन यः स्वयं प्रशंसितः, तादृशस्य स्वास्थ्यादिकमपि न

करोतीत्याशंकायामाहुः दुर्लभोयमित्यादि । अयं सद्योमुक्तिसम्पादकः परित्यागः तादृशस्यापि दुःप्रापः । तत्र हेतुः । प्रेम्णा सिध्यति नान्यथेति । तथा च ते यद्यपि परमभक्ताः, तथापि सर्वज्ञत्वात् केचन पुष्टिमिश्राः, केचन गुणज्ञत्वान्मर्यादामिश्राः, न तु शुद्धाः सदा प्रेमप्लुताः स्वरूपमात्रपराः । अतस्तादृगधिकाराभावात् करोतीत्यर्थः ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि ऐसा ही है कि भगवान स्वास्थ्यवाक्य नहीं ही कहते, तो क्या "*जिसकी वाणी गद्गद् हो रही है, चित्त पिघल गया है, जो निरन्तर मेरे लिए रोता है या फिर कभी हँसने लग जाता है। कभी लाज छोड़कर गाने लगता है तो कहीं नाचने लगता है। हे उद्धव! ऐसा मेरा भक्त न केवल अपने को अपितु पूरे संसार को पवित्र कर देता है(श्री0भा-11/14/24)*" इत्यादि वाक्यों में भगवान ने जिन भक्तों के लिए भुवन को पावन करने वाले बता कर उनकी प्रशंसा की है, क्या ऐसे उच्चभक्तों को भी वे स्वास्थ्यवाक्य इत्यादि नहीं कहते ? ऐसी शंका होने पर आचार्यचरण **दुर्लभोयं परित्यागः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, यह सद्योमुक्ति संपादित करने वाला परित्याग तो ऊपर श्रीभागवतश्लोक में बताए भक्तों को भी प्राप्त होना दुर्लभ है। क्यों दुर्लभ है, तो इसका हेतु आपश्री **प्रेम्णा सिद्ध्यति नान्यथा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, ऊपर श्रीभागवतश्लोक में बताए गए जिन भक्तों की भगवान ने प्रशंसा की है, वे सर्वज्ञ(जिन्हें भगवज्ज्ञान हो चुका है)होने के नाते कुछ मिश्रपुष्टि भक्त हैं, तो कुछ भगवद्गुणों का माहात्म्य जानते होने के कारण मर्यादामिश्र हैं; किन्तु शुद्धपुष्टिजीव नहीं हैं, सदा भगवत्प्रेम में ओतप्रोत रहने वाले नहीं हैं और केवल भगवत्स्वरूप में ही निष्ठ रहने वाले भी नहीं हैं। अतः इनका अधिकार वैसा उत्तम न होने के कारण भगवान उन्हें स्वास्थ्यपूर्ण वाक्य कहकर स्वस्थता दे देते हैं, उनका विरहताप बढ़वाकर उच्चफल की ओर नहीं ले जाते।

एवमत्र भक्तिमार्गीयत्यागे गुरुद्वयस्य कथनेन फलविलम्बशैघ्र्यतात्कालिकफलकथनेन चावस्थाभेदादिसूचनादधिकारिभेदात् त्रैविध्यं निरूपितम्, स्वरूपं च सपरिकरं विचारितम्, प्रेमभेद एव तत्र तत्र तादृशाधिकारसम्पादक इति च साधितम् ॥७-१३$^{1}/_{2}$॥

इस प्रकार से यहाँ भक्तिमार्गीयत्याग में दो गुरु कहे होने के कारण और 'फलविलम्ब', 'शीघ्रफल' और 'तात्कालिकफल' कहा होने के कारण भक्तों की अवस्थाभेद आदि का सूचन करते हुए अधिकारिभेद से तीन प्रकार के भक्तों का निरूपण आपश्री ने यहाँ कहा है। श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने जीव की अधिकारिभेद से तीन कोटियाँ की हैं। एक वे जिन्हें फलप्राप्ति में विलम्ब होता है यानि जिनके लिए मुक्त होने के पश्चात् सत्यलोक में रहना एवं आतिवाहिक वैद्युतपुरुष की प्रतीक्षा करने वाली बात कही गयी थी, वे इस कोटि में आते हैं। एक वो हैं जिन्हें शीघ्र फलप्राप्ति होती है, यानि जिनके लिए ये कहा गया कि भगवद्विप्रयोग की उच्च अवस्था पर आने के पश्चात् ज्ञान एवं गुणगान भी उसके लिए बाधक हैं, वे इस कोटि में आते हैं। और एक वो हैं जिन्हें तत्काल फलप्राप्ति होती है, यानि जिनके लिए अग्नि का दृष्टान्त देकर ये कहा गया कि भगवान तत्काल उसके समस्त बन्धनों का नाश कर देते हैं, वे इस कोटि में आते हैं। उनके स्वरूप का भी सपरिकर विचार किया है, और यह भी सिद्ध किया कि, उनमें अलग-अलग प्रकार का अधिकार पैदा होने का कारण उनका अलग-अलग प्रकार से भगवान से प्रेम करना है॥7-13$^{1}/_{2}$॥

अतः परं नन्वेकादशस्कन्धीयप्रशंसायाः भक्तिपरमकाष्ठारूपेऽस्मिन् दुर्लभे परित्यागे पर्यवसन्नतायां प्रारम्भदशाकर्तव्यस्य परित्यागस्य विलम्बवत्तया ज्ञानमार्गीयत्यागतौल्येन विशेषाभावादविचारितत्वाच्चैतं विहाय विचारितो ज्ञानमार्गीय एव कर्तव्यः, किमेतद्विचारेणेत्याशंकायां भक्तिमार्गीयस्यारम्भदशायां निःप्रत्यूहत्वं वक्तुं ज्ञानमार्गीयस्य सविघ्नतामतिविलम्बवत्तां च साधयन्ति ज्ञानमार्गे इत्यादि ।

अब इसके पश्चात् एक शंका यह होती है कि, एकादशस्कन्ध में भगवान ने जिस प्रकार के त्याग की प्रशंसा की है, वह प्रशंसा भक्ति के परमकाष्ठारूप इस दुर्लभपरित्याग की ही प्रशंसा है; साथ ही साथ भक्ति की प्रारम्भदशा में किया जाने वाला परित्याग तो विलम्ब से फलप्राप्ति करवाता है अतः वह तो ज्ञानमार्गीयपरित्याग के समान ही हुआ क्योंकि ज्ञानमार्गीयपरित्याग भी विलम्ब से फलप्राप्ति करवाता है, इस दृष्टि से भक्ति की प्रारम्भदशा में किया जाने वाला परित्याग एवं ज्ञानमार्गीयपरित्याग इन दोनों प्रकार के परित्याग में कोई अंतर ही नहीं रहा, और भक्ति की प्रारम्भदशा में किए जाने वाले परित्याग के विषय में आचार्यचरणों ने कुछ विचार भी नहीं किया है, इसलिए अच्छा तो यही है कि, भक्तिमार्गीयपरित्याग को छोड़कर ज्ञानमार्गीयपरित्याग ही कर लिया जाय, व्यर्थ में भक्तिमार्गीयपरित्याग के विषय में विचार क्यों किया जाय !!! यदि ऐसी आशंका होती हो, तो आगे के श्लोक में आचार्यचरण भक्तिमार्गीय की

आरम्भदशा में भी परित्याग को निर्विघ्न संपन्न होना बता रहे हैं एवं ज्ञानमार्गीयपरित्याग को विघ्नसहित एवं उसमें विलम्ब से फलप्राप्ति होनी **ज्ञानमार्गे** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। यहाँ भक्तिमार्गीय की आरम्भदशा से श्रीपुरुषोत्तमचरणों का अभिप्राय भक्त की उच्चविरहावस्था की आरम्भदशा से है, न कि उसमें भक्ति उदय होने वाली आरम्भदशा से। भक्ति आरम्भ होने की कच्ची दशा में तो खैर परित्याग करने का निषेध ही बताया गया है, यह ध्यान रखना चाहिए।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ।।१४।।
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ।।१५।।
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ।।१६।।
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ।।१६$^{1}/_{2}$।।

तुः पूर्वोक्तशङ्कानिरासे । ज्ञानमेव मार्गो ज्ञानमार्गः । तत्र द्विविधोपि सन्न्यासो ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च यथा स्यात्तथा विचारितः । क्रियाविशेषणद्वयमेतत् । उत्तरतन्त्रे तृतीयस्य तुरीये पादे 'ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हीति' सूत्रे विविदिषोर्ज्ञानोत्पत्त्यर्थतया जातज्ञानस्य फलानुभवप्रतिबन्धनिवारकत्वेनान्तरङ्गतया च कर्तव्यत्वेन निर्णीतः । परं सिद्धिः साक्षात्काररूपा जन्मशतैः, न तु शीघ्रम्, 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ' इति गीतावाक्ये परोक्षज्ञानवतो 'वासुदेवः सर्व'मिति स्वप्रपत्तेर्बहुजन्मान्ते कथनात् ।

तु शब्द उक्त शंका का निराकरण करने के लिए प्रयुक्त किया गया समझना चाहिए। ज्ञानरूप ही जो मार्ग है, उसे ज्ञानमार्ग कहते हैं। ज्ञानमार्ग में दोनों प्रकार के संन्यास का विचार किया गया है यानि ज्ञानार्थ-संन्यास एवं उत्तरांग-संन्यास जिस प्रकार का होता है, उस प्रकार से इनका विचार किया गया है। 'ज्ञानार्थ" एवं 'उत्तरांग' ये दोनों पद क्रियाविशेषण हैं। उत्तरतन्त्र(ब्रह्मसूत्र)में तृतीय के चतुर्थपाद के *"ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे(ब्रह्मसूत्र 3/4/17)"* इस सूत्र में यह निर्णीत किया गया है कि विविदिषु को(ज्ञानप्राप्ति की इच्छा रखने वाले को)ज्ञान उत्पन्न करने के लिए संन्यास लेना चाहिए एवं जिसको ज्ञानप्राप्ति हो चुकी है, उसे फलानुभव में आने वाले प्रतिबन्धकों का निवारण करने के लिए अंतरंगरूप से संन्यास लेना चाहिए। परन्तु दोनों ही प्रकार के संन्यासों में भगवान से साक्षात्काररूप सिद्धि सैंकड़ों जन्मों के पश्चात् होती है, शीघ्र नहीं, जैसा कि *"बहूनां जन्मनामन्ते(भ0गी-7/19)"* इस गीतावाक्य में परोक्षज्ञानवान को भगवान की "सभी कुछ वासुदेव हैं एवं वे सर्वव्यापक हैं" इस प्रकारक शरणागति प्राप्त होनी अनेक जन्मों में मिलनी बतायी है।

प्रपत्तिरपरोक्षं ज्ञानम्, तस्य विलम्बेन भवने हेतुं व्युत्पादयन्ति ज्ञानं चेत्यादि । ज्ञानं गीतावाक्योक्तरीतिकसाक्षात्काररूपं साधनापेक्षम्, कर्मज्ञानभक्तिरूपं साधनं स्वोत्पत्तावपेक्षते । अत्र प्रमाणम्, यज्ञादिश्रवणात् निष्कामानामपि यज्ञकरणस्य 'अथाकामयमान' इति श्रुतौ प्रतिपादनात्, तदेतत् 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववदिति सूत्रे विचारितम्, ज्ञानं च न शमदमादिमात्रेण सम्पद्यते, किन्तु यथाश्रममाश्रमकर्मापि शमादिसहकारित्वेनापेक्षत इति सहकारित्वसूत्रे व्युत्पादितम् । अतः देशद्रव्यादिरूपसाधनवैगुण्येन विहितकर्मात्मकसहकारिशून्यैः केवलैः शमादिभिर्ज्ञानानुदयात् स विविदिषादशोक्तः संन्यासः कलौ पश्चात्तापाय अनन्तरं खेदाय ।

उपर्युक्त गीतावाक्य में 'प्रपत्ति' का अर्थ है- अपरोक्षज्ञान प्राप्त हो जाना; और ऐसा ज्ञान विलम्ब से प्राप्त होने का कारण आपश्री **ज्ञानं च** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। इससे आपश्री को यह कहना है कि, उपर्युक्त गीतावाक्य में कही रीति अनुसार भगवान से साक्षात्कार होने रूपी ज्ञान साधनों की अपेक्षा रखता है, यानि साधनों के द्वारा प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि ज्ञान उत्पन्न होने के लिए कर्ममार्ग-ज्ञानमार्ग-भक्तिमार्ग रूपी साधनों की अपेक्षा रखता है। आपश्री ने इस बात का प्रमाण दिया है **यज्ञादिश्रवणात् मतम्** इत्यादि शब्दों से; यानि निष्काम लोगों को भी *"अथाकामयमानः(छान्दो-4/4/6)"* इस श्रुति में यज्ञ करने के लिए कहा गया है, और इन सभी बातों का *"यज्ञ, दान, तप इत्यादि करने आवश्यक हैं(ब्रह्मसूत्र-3/4/26)"* इस सूत्र में विचार किया गया है। और ज्ञान मात्र शम-दम-नियम इत्यादि से सिद्ध नहीं होता अपितु संन्यासाश्रम में करने के लिए बताए गए कर्म भी शम-दम इत्यादि के सहकारी के रूप में करने पड़ते हैं। इस बात का विवेचन सहकारिसूत्र(ब्रह्मसूत्र-3/4/33) में किया गया है। चूँकि देश-द्रव्य आदि साधन इस समय शुद्ध प्राप्त नहीं होते, अतः संन्यासाश्रम के विहितकर्म आदि सहकारी कर्मों के बिना किए जाने वाले शम-दम आदि भी ज्ञानोदय नहीं करा सकते, इसलिए विविदिषादशा में किया

जाने वाला संन्यास कलिकाल में पश्चात्ताप ही कराता है, यानि कालान्तर में खेद उत्पन्न कराता है।

तर्हि विद्वद्दशोक्तः कर्तव्य इत्यत आहुः नान्यथेति । अन्यथा विद्वत्प्रकारकः कलौ तत्साधनासम्भवान्नेत्यर्थः । किञ्च, न खेदमात्रं किन्तु पाषण्डित्वं चापि भवेत् । भिक्षादिशुद्ध्यभावेनोपधर्मसंसर्गवत्त्वम्, चकारादवकीर्णित्वम्, अपिशब्दात्, 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत् स आत्महे'ति वाक्योक्तः पातः संगृह्यते । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । यस्मात् विविदिषासंन्यासस्य कलौ खेदादिजनकत्वम्, विद्वत्संन्यासस्य चासम्भवस्तस्मात् ज्ञानमार्गे वैधं संन्यासं न कुर्यात्, तत्र हेतुः, सुतरामित्यादि इति स्थितमिति । कलौ संन्यासं निषेधद्भिः शास्त्रकारैरेव निर्णीतमित्यर्थः । तेन संन्यासप्रतिप्रसवशास्त्रं क्वाचित्कत्वान्न सर्वत्रोपयुज्य इति बोधितम् ।

ऐसा ही है, तो फिर विद्वद्-दशा में बताया गया परित्याग कर लेना चाहिए- यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण **नान्यथा** शब्द से इसका निराकरण कर रहे हैं; इससे आपश्री कहते हैं- विद्वत्प्रकारक परित्याग के साधन कलिकाल में प्राप्त होने असंभव हैं अतः नहीं करना चाहिए। विद्वद्-संन्यास लेंगे, तो न केवल खेद ही होगा, साथ ही साथ पाखण्डी भी हो जायेंगे। भिक्षा आदि शुद्ध नहीं मिलेगी, जिससे कारण अधर्म से संसर्ग होगा; **च** शब्द के द्वारा धर्मच्युत भी होगा; **अपि** शब्द के द्वारा *"आरूढो नैष्ठिकं.....पातः"* इस वाक्य में बताया पतन भी होगा। इन सभी विवेचनों मे जो बात सिद्ध हुई, उसे आपश्री **तस्मात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- चूँकि विद्वत्-संन्यास लेना कलिकाल में खेद उत्पन्न कराता है, चूँकि विद्वत्-संन्यास कलिकाल में लेना असंभव होता है, इसलिए सिद्ध यही होता है कि, विधिपूर्वक लिया जाने वाला ज्ञानमार्गीयसंन्यास नहीं लेना चाहिए, और इसका कारण आपश्री **सुतरां** इत्यादि शब्दों से लेकर **इति स्थितं** तक के शब्दों द्वारा बता रहे हैं। इस वाक्य से आपश्री का कहना यह है कि, कलिकाल में संन्यास का निषेध करने वाले शास्त्रकारों ने यह बात निर्णीत की है। इससे यह बात जानने मिलती है कि, कलिकाल में संन्यास का विधान करने वाले शास्त्र तो किसी व्यक्तिविशेष पर ही लागू पड़ते हैं, सभी पर नहीं।

एवमत्र भगवदाज्ञया कर्तव्यस्य परित्यागस्य विचारणायामेतावत् सिद्धम् ।

कर्ममार्गे जैमिनिमते परित्यागस्याकर्तव्यता, मतान्तरे चातुराश्रम्यपक्षेण कर्तव्यत्वेपि कलिकालादकर्तव्यता, भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वेनोक्तत्वेपि श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं करणे संन्यासस्वरूपतद्धर्मयोर्विरोधात् संन्यासत्वेन रूपेणावैधत्यागरूपेण चाकर्तव्यता, तथैव स्नेहसाधनार्थं करणेपि प्रेमानन्तरं त्ववैधस्य परित्यागस्य स्वत एव सिद्धिर्मुख्याधिकारिणः । तत्र च नाज्ञापेक्षा, तथैव मध्यमस्यापि । परं तस्य प्रारब्धप्रतिबन्धेनेषद्विलम्बः फले । तथैव ज्ञानमिश्रस्यापि । ज्ञानमार्गे तु विविदिषादशायां विचारितोपि कलिकालजदोषसम्भावनान्न कर्तव्यः, विद्वत्सन्यासस्य तु कलिदोषेण ज्ञानासम्भवादसम्भव एव ।।१४-१६$^{1}/_{2}$।।

इस प्रकार आचार्यचरणों द्वारा भगवदाज्ञा से परित्याग करने का विचार करने की प्रक्रिया में निम्नलिखित मुद्दे सिद्ध हुए।

(1)कर्ममार्ग में जैमिनिमतानुसार परित्याग नहीं करना चाहिए (2)अन्यों के मतानुसार चातुराश्रम्यपक्ष के द्वारा परित्याग करना कर्तव्य होने पर भी कलिकाल के कारण नहीं करना चाहिए (3)भक्तिमार्ग में परित्याग करना कहा तो गया है, तथापि श्रवणकीर्तन आदि सिद्ध करने के उद्देश्य से परित्याग करते हैं, तो संन्यासस्वरूप एवं श्रवणकीर्तनस्वरूप के परस्पर धर्मों में विरोध आता होने के कारण यदि कोई अविधिपूर्वक परित्याग ही करना चाहे तो ऐसा परित्याग भी नहीं करना चाहिए (4) और, बिना विधि का परित्याग इसलिए भी नहीं करना है क्योंकि भगवान के प्रति स्नेह दृढ करने के हेतु से परित्याग करने जायेंगे, तो वास्तविक परिस्थिति तो यह है कि भगवान के प्रति प्रेम उत्पन्न होने के पश्चात् विधि बिना का परित्याग तो मुख्याधिकारियों को स्वयं करे बिना अपने आप ही सिद्ध हो जायेगा। ऐसे संन्यास में तो गुरु-आज्ञा, पत्नी-आज्ञा इत्यादि की अपेक्षा भी नहीं रहती। मध्यमाधिकारी के लिए भी यही व्यवस्था है। मुख्याधिकारी वे हैं जिनका भगवान के प्रति प्रेम परिपक्व हो चुका है और जिनके लिए अग्नि के दृष्टान्त द्वारा तत्काल समस्त बन्धनों का नाश हो जाने की बात कही गयी थी। मध्यमाधिकारी वे हैं जो विप्रयोग का अनुभव तो कर रहे हैं परन्तु अभी गुणगान की अवस्था में हैं। परन्तु मध्यमाधिकारी को उसके प्रारब्ध का प्रतिबन्ध होने के कारण फलप्राप्ति में यत्किञ्चित् विलम्ब होता है। उसी प्रकार ज्ञानमिश्रभक्तिमार्गीय को भी फलप्राप्ति में यत्किञ्चित् विलम्ब होता है। ज्ञानमार्ग में तो विविदिषा-दशा में परित्याग करने का विचार भी करेंगे, तब भी कलिकाल के कारण होने वाले दोषों की संभावना बनी रहती है अतः नहीं करना चाहिए; विद्वत्-संन्यास के लिए तो खैर ऐसा है कि, कलिकाल के दोषों के कारण वर्तमान में किसी को इतना ज्ञान प्राप्त होना संभव ही नहीं बनता अतः कलिकाल में विद्वत्-संन्यास लेना असंभव ही होता है॥14-16$^{1}/_{2}$॥

अतः परं प्रेमारम्भदशायां परित्यागोवशिष्यते, तं विचारयितुं प्रश्नमुखेनाशङ्कते भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमिति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ।।१७।।
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ।।१८।।
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ।।१९।।
ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ।।२०।।
तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ।।२१।।

भक्तेः प्रेमरूपाया यो मार्गः उपायभूतः परित्यागस्तत्रापि कलिप्रभृतिभिः कृतो दोष उत्पद्यते चेत्तदा तत्परिहारार्थं किं कार्यमित्यर्थः । तत्रोत्तरमुखेन समादधते उच्यते ।

इन सभी के पश्चात् अब प्रेम की आरम्भदशा में जो परित्याग किया जाता है, उसकी चर्चा करनी शेष रह जाती है, अतः उसका विचार करने के लिए उसके संदर्भ में प्रश्न करते हुए आचार्यचरण **भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। (यहाँ इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि इस श्लोक में जो "अत्रारम्भे न नाशः" की बात कही गयी है, उससे भ्रमित होकर इसे भक्ति की साधनावस्था नहीं समझ लेनी चाहिए जिसके लिए तो आचार्यचरण पूर्व के श्लोकों में कह ही चुके हैं कि साधनावस्था में त्याग नहीं करना चाहिए अपितु भक्ति की सिद्धदशा में त्याग करना चाहिए। तात्पर्य यह कि यहाँ "अत्रारम्भे न नाशः" वाले पदों का अर्थ भक्ति की साधनावस्था नहीं है परन्तु इससे यह कहा जा रहा है कि सिद्धदशा आने के पश्चात् जब भक्त परित्याग करता है तो उस परित्याग की आरम्भदशा में भक्त का नाश नहीं होता, यानि ये सिद्धदशा की आरम्भदशा है- यह बात ध्यान में रखकर आगे अर्थ करना चाहिए)।

भक्ति का अर्थ है- भगवान से प्रेम करना; भगवान से प्रेम करने के मार्ग का उपायरूप परित्याग करने में भी कलिकाल आदि के द्वारा किए जाने वाले दोष यदि उत्पन्न होते हों, तब उन्हें दूर करने के लिए क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आपश्री **उच्यते** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं।

अत्रेत्यादि । अत्र प्रेमभक्तावारम्भे आरम्भदशायां परित्यागे नाशः कलिप्रभृतिभिः कृतेन दोषेण तदवस्थातो हीनत्वसम्भवः स न स्यात् । तत्र हेतुः । दृष्टान्तस्याप्यभावत इति । अत्र नाशपदं सप्तम्या विपरिणतं पुनरन्वेति, तथा च अत्रारम्भे नाशेऽनुमीयमाने दृष्टान्तस्याभावात् अपिना दोषान्तराच्च, तथा हि उक्तारम्भदशायां गृहत्यागकर्ता नश्यति, तदानीं त्यागकर्तृत्वात्, अत्र यदेवं तदेवमित्यन्वयव्याप्तौ दृष्टान्ताभावः,

आपश्री आज्ञा करते हैं **अत्र** यानि प्रेमभक्ति की आरम्भदशा में परित्याग करने पर नाश नहीं होता, अर्थात् एक बार भक्ति की फलदशा पर पहुँचने के पश्चात् कलिकाल जैसे प्रबन्धकों के द्वारा उत्पन्न किए दोष द्वारा वह उस अवस्था से नीचे नहीं गिरता। इसका हेतु आपश्री **दृष्टान्तस्याप्यभावतः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। श्लोक की इस पंक्ति में 'नाश' पद को सप्तमीविभक्ति में बदलकर अर्थ करना चाहिए; और जब 'नाश' पद को सप्तमीविभक्ति में बदलकर अर्थ करके भक्ति की आरम्भदशा में नाश होने का अनुमान लगायेंगे, तो ऐसा कोई दृष्टान्त तो खैर नहीं ही मिलेगा अपितु भक्तिमार्ग के लिए ऐसा अनुचित अनुमान लगाने का दोष और गलेपतित हो जायेगा। इस बात को अन्वयव्याप्ति द्वारा समझें- यानि प्रेमभक्ति की आरम्भदशा में गृहत्याग करने वाले का नाश हो जाता है क्योंकि उसने आरम्भदशा में ही गृहत्याग कर दिया, जिस प्रकार कि_____ का नाश हो गया था। अब ध्यान से समझिए कि, ये रेखांकित पंक्ति अधूरी रह गयी क्योंकि, रिक्तस्थान भरने के लिए ऐसा कोई दृष्टान्त ही नहीं मिलता जहाँ भक्तिमार्ग की किसी भी दशा में पहले कभी किसी का भी नाश हुआ हो। इसलिए भक्ति के संदर्भ में नाश का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

व्यतिरेके तु यत्र यत्र तादृशत्यागकर्तृत्वे सति नाशाभावः, तत्र तत्र त्यागकर्तृत्वाभाव इति व्याप्तेरेव शून्यता, तादृशत्यागकर्तृत्वे सतीति विशेषणानङ्गीकारे तु तादृशव्याप्त्या गृहस्थादिष्वेवानाशसिद्ध्या तादृशत्यागकर्तृत्वस्यैवालाभ

इति दृष्टान्ताभावः । यदि तु भक्तिमार्गीयारम्भदशायां तत्त्यागकर्तृत्वात् अविपक्वकषायत्वाद्वा सङ्गदोषसंभवाद्वा श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थत्यागकर्तृवदित्यनुमातव्यम्, तदाप्यसङ्गतम्, नारदपूर्वजन्मदृष्टान्तेन आद्ययोः साधारणत्वात्, तृतीयस्य तु 'गायन्विलज्जो विचरेदसङ्ग' इति वाक्येन स्वरूपासिद्धत्वात् । पूर्वोक्तदशायां गृहत्यागकर्ता न नश्यति, पूर्वोक्तारम्भदशायां त्यागकर्तृत्वात्, पूर्वजन्मीननारदवदिति प्रत्यनुमानेन निरस्तत्वाच्च । न चेदमप्रयोजकम् । नारदपूर्वजन्मकथासन्दर्भीयवाक्यैस्तादृशां नाशस्यैवासिद्धत्वादिति । अनेनैव हेतुना नाशानुमाने तु सिद्ध एव दृष्टान्ताभाव इति सुष्ठूक्तं दृष्टान्तस्याप्यभावत इति ।

अब इसी बात को दूसरे ढंग से भी समझें। मान लो, कोई पूर्वपक्षी भक्ति में नाश हो जाने की बात को विपरीत ढंग से(व्यतिरेकव्याप्ति)अर्थ बना कर सिद्ध करना चाहे और यों कहे कि-(1)"जहाँ जहाँ भक्ति की आरम्भदशा में गृहत्याग करने वाले का नाश नहीं हुआ है, वहाँ वहाँ इस प्रकार से त्याग करने वाला ही प्राप्त नहीं होता" तो इस वाक्य में व्यतिरेकव्याप्ति ही नहीं बन पायी, यानि विचित्र अर्थ हो गया। (2)अब कोई ये कहे कि चूँकि यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति लागू नहीं हो पायी इसलिए अब इसे दूसरे प्रकार से अर्थ करके "जहाँ जहाँ नाश होना नहीं देखा गया है, वहाँ वहाँ त्याग करना भी नहीं देखा गया" यों कहना चाहे, तो ध्यान दीजिए कि यह लक्षण तो केवल गृहस्थों में घटेगा और ये कहना पड़ेगा कि, त्याग करने वालों का नहीं बल्कि घर में रहने वालों का ही नाश नहीं होता ! अब इसमें तो त्याग करने वाला कोई प्राप्त ही नहीं हुआ !!! इसलिए यह पक्ष भी संगत नहीं हो पाया (3)अब यदि पूर्वपक्षी ये कहता हो कि, भक्तिमार्ग में नाश हो जाने में तीन दृष्टान्त दिए जा सकते हैं और वे इस प्रकार कि (क) चूँकि भक्तिमार्ग की आरम्भदशा में ही त्याग कर दिया है इसलिए नाश हो जाता है (ख) अभी उसके पाप पूरी तरह पक कर मिटे नहीं हैं इसलिए नाश हो जाता है (ग) उसे संगदोष मिल जायेंगे इसलिए नाश हो जाता है ; इन तीनों कारणों से पूर्वपक्षी कहता है कि, आरम्भदशा में ही त्याग कर देने पर भक्त का नाश हो जायेगा, उदाहरण के रूप में जैसे कि पहले यह कहा गया था कि श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के हेतु से कोई परित्याग करे तो उसका नाश हो जायेगा, वैसे। तो पूर्वपक्षी का यह तर्क भी संगत नहीं बैठता क्योंकि नारदजी के पूर्वजन्म के दृष्टान्त के संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में इसे देखा जाय, तो पहले के दो कारण तो ठीक बैठ जायेंगे परन्तु तीसरा कारण ठीक नहीं बैठ पायेगा क्योंकि नारदजी ने तो "*भगवान के जन्म और लीलाओं की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं, लाज-संकोच छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिए और कहीं भी आसक्ति न रखते हुए विचरण करते रहना चाहिए(श्री0भा-11/2/39)*" इस वाक्यानुसार किसी के संगदोष से बाधित हुए बिना त्याग करके अकेले ही विचरण किया है और तथापि उनका नाश नहीं हुआ। अतः अब ये सिद्धान्त सरलता से कहा जा सकेगा कि, आरम्भदशा में गृहत्याग करने वालों का नाश नहीं होता, जिस प्रकार कि नारदजी के पूर्वजन्म में आरम्भदशा में त्याग करने पर भी नारदजी का नाश नहीं हुआ था। यहाँ हमने नारदजी का जो दृष्टान्त दिया है, वह अप्रयोजक नहीं है क्योंकि नारदजी के दृष्टान्त से ही तो यह बात ज्ञात होती है कि भक्ति में कभी भक्त का नाश नहीं होता। सारांश में यह कि, इस हेतु से भक्ति में नाश का अनुमान लगाने में कोई दृष्टान्त न मिलने वाली बात सिद्ध ही है अतः आचार्यचरणों ने इसके लिए ठीक ही **दृष्टान्तस्याप्यभावतः** यों कहा।

केचित्, अयं त्यागो हि भगवद्धर्मः ।'धर्मान्भागवतान् ब्रूते'ति निमेः प्रश्ने कविना'ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये । अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्' इति लक्षयित्वा 'कायेन वाचे'त्यादिभिः कथ्यमानेषु 'गायन् विलज्जो विचरेदसङ्ग' इत्यनेनासङ्गविचरणरूपस्य त्यागस्यापि बोधनात् । भगवद्धर्मस्यारम्भेपि न ध्वंस इत्यपि भगवतैवोक्तं 'न ह्युद्धोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपी'ति । तथा चातोपि न नाश इत्यर्थः । न चैवं सति श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कृते त्यागे कथं ध्वंस इति शंक्यम् । तस्यां दशायामज्ञानात्तत्करणेन उपक्रमत्वाभावात् । ज्ञात्वारम्भ उपक्रम' इति कोशेन ज्ञात्वारम्भस्यैवोपक्रमत्वादिति ।

और, यह परित्याग भगवद्धर्म है, क्योंकि जब राजा निमि ने "*आप कृपा करके भागवतधर्मों का उपदेश करिए(श्री0भा-11/2/31)*" यह प्रश्न किया, तब कवियोगेश्वर ने "*भगवान ने भोले-भाले अज्ञानी पुरुषों को भी सुगमता से साक्षात् अपनी प्राप्ति के लिए जो उपाय स्वयं अपने श्रीमुख से बताए हैं, उन्हें ही भागवतधर्म समझो(श्री0भा-11/2/34)* " यह लक्षित करते हुए "*कायेन वाचा(श्री0भा-11/2/36)*" इत्यादि वाक्यों में कहे गए वाक्यों से "*भगवान के जन्म और लीलाओं की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं, लाज-संकोच छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिए और कहीं भी आसक्ति न रखते हुए विचरण करते रहना चाहिए(श्री0भा-11/2/39)*" इस वाक्य द्वारा किसी का संग न करते हुए विचरण करते रहने रूप त्याग की ही बात बतायी है। और भगवद्धर्मों का आरम्भ कर लेने के पश्चात् कभी उनका ध्वंस नहीं होता- यह बात भी भगवान ने ही "*हे उद्धव! यही*

मेरा भागवतधर्म है, इसको एक बार आरम्भ कर देने के पश्चात् फिर किसी भी प्रकार के विघ्न-बाधा से इसमें रत्ती भर भी अंतर नहीं आता(श्री0भा-11/29/20)" इस वाक्य द्वारा कही है। इस कारण भी यह सिद्ध होता है कि प्रेमारम्भ की दशा में भी नाश नहीं होता। अब ये शंका मत करिए कि, जब ये कह दिया कि ध्वंस नहीं होता तो फिर आचार्यचरण ये क्यों कहा कि श्रवणकीर्तन आदि को सिद्ध करने के हेतु से परित्याग करेंगे, तो भक्त का ध्वंस हो जायेगा!!..... नहीं, ऐसी शंका करनी उचित नहीं है, क्योंकि, श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के उद्देश्य से किया जाने वाला परित्याग तो अज्ञान से(श्रवणकीर्तन आदि के स्वरूप को न समझते हुए)किया जाने वाला परित्याग होता है अतः उस समय तो भक्ति का उपक्रम(शुरुआत)ही कहाँ सिद्ध हुआ !! जबकि ऊपर कहा भागवतवाक्य तो यह कहता है कि, **उपक्रम/आरम्भ करने के पश्चात्** ध्वंस नहीं होता अतः आवश्यक है कि, कम से कम उपक्रम तो व्यवस्थितरूप से हो ! क्योंकि कोशप्रमाण के अनुसार भी *"जानकर, समझकर आरम्भ करने को 'उपक्रम/आरम्भ' कहते हैं"* यह बात कही गयी है।

ननु मास्तु नाशस्तथापि देहरक्षणार्थं भिक्षादेरावश्यकत्वात् फलविलम्बसम्पादको बाधः केन वार्येतेत्यत आहुः स्वास्थ्येत्यादि । त्यागिनः स्वास्थ्यस्य हेतुर्हि विगर्ह्याभिन्नेषु चतुर्षु वर्णेषु भिक्षा तस्यास्त्यागात् । 'चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोप्यशुष्यन् । रुद्धा गुहाः किमजितोवति नोपपन्नान् कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्' इत्युक्तरीत्या त्यागात् ।

अब किसी को एक शंका यह होती है कि, चलो, भले ही आरम्भदशा में नाश न होता हो, तथापि, अपने देह आदि का निर्वाह करने के लिए संन्यासी को भिक्षा आदि माँगनी तो आवश्यक होती ही है, अतः यदि उसका ध्यान भिक्षा आदि कार्यों में बँटा रहा तो उसके फल में विलम्ब करने वाला बाध कैसे हटेगा !! यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण **स्वास्थ्यहेतोः परित्यागात्** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि, त्यागी ने तो स्वस्थता दिलाने वाली भिक्षावृत्ति का भी त्याग कर दिया होता है अर्थात् चारों वर्णों के घरों से जहाँ से भिक्षा माँगनी शास्त्र में वर्जित नहीं है, ऐसे घरों से भिक्षा माँगने की वृत्ति का भी त्याग कर दिया होता है, क्योंकि ऐसों ने तो *"पहनने को क्या रास्तों में चिथड़े नहीं हैं। भूख लगने पर क्या वृक्षों में फल नहीं लगे हैं। जल के लिए क्या नदियाँ सूख गयीं हैं। रहने के लिए क्या गुफाएँ बंद हो गयी हैं। अरे! सब कुछ छोड़ो, क्या भगवान अपने शरणागतों की रक्षा नहीं करते!(श्री0भा- 2/2/5)"* इस वाक्य में कही रीति अनुसार त्याग किया होता है।

यद्वा, अत्र स्वास्थ्यहेतुपदं परित्यागविशेषणम्, परित्यागादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थः स्वरूपावस्थित इति यावत् । तस्य भावः स्वास्थ्यम्, तद्धेतुर्यः परित्यागस्तं प्राप्य जीवन्मुक्त एव जात इति । अस्यैतादृशस्य बाधः केन सम्भवेत् न केनापीत्यर्थः ।

अथवा, **स्वास्थ्यहेतोः परित्यागात्** का दूसरे प्रकार से करें; इसमें 'स्वास्थ्यहेतु' पद को 'परित्याग' का विशेषण मान लें और 'परित्यागात्' शब्द में ल्यब्लोपे पंचमी मान लें। यों पंचमीविभक्ति करने से अर्थ हुआ- अपने आप में रहने को 'स्वस्थ' कहते हैं, यानि अपने स्वरूप में अवस्थित रहना। अपने स्वरूप में अवस्थित रहने के भाव को 'स्वास्थ्य' कहते हैं; यानि अपने स्वरूप का भान करने के हेतु से जो परित्याग किया जाता है, उससे वह जीवन्मुक्त ही हो जाता है। तात्पर्य यह कि ऐसे जीवन्मुक्त भक्त को बाधा कौन कर सकता है, कोई भी नहीं- यह अर्थ है।

नन्वेवमविद्याकामादीनां बाधकत्वाभावेपि कालादिभिर्बाधः केन वार्येतेत्याकांक्षायां कैमुतिकन्यायेनाबाधमुपपादयन्ति हरिरित्यादि । हरिः स्मर्तुः सर्वाघदुःखहर्ता सोपि अत्रास्मिन् परित्यागे बाधां कर्तुं न शक्नोति । अस्य भगवद्धर्मस्य स्वयमेवोक्तत्वात्, 'वक्ता कर्ता विना नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवी'ति वाक्येन स्वयमेवावनाच्च । तथा सति अपरे कालादयः कुतो हेतोः कर्तुं शक्नुयुः । ते हि भगवदधीना इति न तत्कृतोपि बाधसम्भव इत्यर्थः ।

किन्तु एक शंका यह होती है कि, इस प्रकार 'अविद्या' और 'काम' इत्यादि भले ही बाधक न होते हों, तथापि काल आदि के द्वारा बाधा होनी कौन टाल सकता है ! ऐसी आकांक्षा होने पर आचार्यचरण कैमुतिकन्याय द्वारा काल से भी बाधा न होनी **हरिः** इत्यादि शब्दों द्वारा बता रहे हैं। आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि- **हरिः** यानि स्मरण करने वाले के समस्त पापों को दूर कर देने वाले हरि भी **अत्र** यानि इस परित्याग में बाधा खड़ी नहीं कर सकते। यह भगवद्धर्म स्वयं भगवान ने ही *"उद्धवजी ने कहा- पृथ्वी पर या ब्रह्माजी की उस सभा में भी, जहाँ सम्पूर्ण वेद मूर्तिमान होकर विराजमान रहते हैं, आपके अतिरिक्त ऐसा कोई भी, जो आपके इस भागवतधर्म का प्रवचन, प्रवर्तन अथवा संरक्षण कर सके(श्री0भा-11/17/5)"* इस वाक्य द्वारा कहा है। जब हरि ही बाधा नहीं कर सकते, तो फिर अन्य काल इत्यादि किस कारण बाधा कर पायेंगे। काल इत्यादि तो भगवान के अधीन होते हैं अतः काल द्वारा

भी बाधा होनी सम्भव नहीं है- यह अर्थ है।

अत्र तर्कमाहुः अन्यथेत्यादि । अत्र पुपुषुरिति अत्यन्तापह्नवे लिङ्युक्तव्य इति वार्तिकाल्लिट् । तथा च स्वधर्मोत्पादको रक्षकश्च भगवानेव यदि बाधां कुर्यात्, तदा मातरो जनयित्र्यः बालान् स्वोत्पन्नान् यत्स्तन्यैः पुष्णन्ति, तन्न पुपुषुः, ततश्च तत्कृतं पोषणमत्यन्तापह्नुतमेव स्यात्, तथा च भगवत्कृतो बाधस्तर्कादपि बाधित इत्यर्थः ।

इस बात को सिद्ध करने के लिए आचार्यचरण **अन्यथा** इत्यादि शब्दों से तर्क दे रहे हैं। "जब किसी बात का सर्वथा निषेध कर देना हो, तब लिट् लकार का प्रयोग करना चाहिए"- इस वार्तिक के अनुसार 'पुपुषु' में लिट् लकार का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, जीव में अपने धर्मों को उत्पन्न करने वाले एवं भक्त के रक्षक भगवान ही यदि भक्त को बाधा करते होते, तब तो जन्म देने वाली माताएँ भी अपने बालकों को स्तनपान कराके उनका पोषण न करती होतीं, यानि उनके द्वारा पोषण किया जाना संसार में सर्वत्र निषिद्ध हो गया होता, परन्तु यह असंभव बात है और ठीक इसी प्रकार भगवान द्वारा अपने भक्त के लिए बाधा खड़ी की जानी भी असंभव बात है। इससे आपश्री यह बताना चाह रहे कि माताओं वाले इस तर्क द्वारा भगवान के द्वारा बाधा खड़ी किए जाने वाली बात भी निरस्त हो जाती है- यह अर्थ है।

ननु भवत्वेवं, तथापि मोहनार्थं नियुक्ता या माया सा तु स्वकार्यं मोहं कुर्यादेव, 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छती'ति वाक्ये भगवत्प्रियतमस्य ज्ञानिनोपि तत्कृतमोहस्योक्तत्वादित्यत आहुः ज्ञानिनामित्यादि । 'ज्ञानिनामपी'ति वाक्यं ज्ञानिनामपि वाक्यं उत्तरपदलोपी समासः । तथा चानेन मार्कण्डेयवाक्येन ज्ञानिनामेव मायाकृतो मोह उक्तो, न तु भक्तानां, अतः सा भक्तं न मोहयिष्यति । गीतायां 'दैवी ह्येषे'ति वाक्ये भगवता तस्याः प्रपत्तितरणीयत्वकथनात्, उक्तविधभक्तस्य च प्रपन्नत्वे सन्देहाभावात्, अतो दूरापास्तं मोहनमित्यर्थः ।

चलो ठीक है, भगवान उसे बाधा नहीं करते, परन्तु जीव को मोहित/भ्रमित करने के उद्देश्य से ही नियुक्त की गयी भगवान की माया तो मोह/भ्रम कराने वाला अपना कार्य तो करती ही है, जैसा कि *"ज्ञानिनामपि चेतांसि(दुर्गासप्तशती-1)"* इस वाक्य में तो माया द्वारा भगवान के प्रियतम ज्ञानियों के भी मोहित/भ्रमित होने की बात कही गयी है, अतः आचार्यचरण इस शंका का स्पष्टीकरण **ज्ञानिनाम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ मूलश्लोक में कहे **'ज्ञानिनामपि वाक्येन'** में उत्तरपदलोपीसमास समझनी चाहिए, यानि मूलश्लोक का अर्थ यह होगा कि- दुर्गासप्तशतीग्रन्थ में कहे "ज्ञानिनामपि" इस वाक्य के द्वारा केवल ज्ञानीजन ही माया से मोहित/भ्रमित होते हैं, भक्त नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि, उपर्युक्त दुर्गासप्तशती के "ज्ञानिनामपि" इस मार्कण्डेयऋषि के वाक्य के अनुसार केवल ज्ञानीजनों को ही मोह होना कहा गया है, भक्तों को नहीं, अतः माया भक्तों को मोहित/भ्रमित नहीं कर पाती- यह अर्थ सामने आता है। और क्योंकि भगवद्गीता में भी *"दैवी ह्येषा(7-14)"* इस वाक्य में यह बात कही गयी है कि भगवान के शरणागत भक्त माया को तर जाते हैं; और फलदशा पर पहुँच चुके ऐसे भक्त तो भगवान के शरणागत होते ही हैं अतः फिर उनके मोहित/भ्रमित करने की बात तो दूर रही- यह अर्थ है।

न चेति कारणाभावे ज्ञानिनामिति पदस्य कथं वाक्यबोधकत्वमिति शंक्यम्, प्रक्षिप्ताध्यायेषु 'यावद्वत्सके'ति श्लोके'सर्वं विष्णुमयं गिर'इत्याचार्यैः श्रीधरेण च सर्वं विष्णुमयमिति पदद्वयस्येति कारणाभावेपि 'सर्वं विष्णुमयं जग'दिति वाक्यप्रतीकताया अङ्गीकारेणात्रापि तथोक्तौ दोषाभावादिति । चाचामतेप्येवम् । किञ्च, अयं भक्तः आत्मप्रदः आत्मानं भगवते प्रकर्षेण सर्वसाहित्येन समर्पितवान्, न तु स्वार्थमात्मानमपि स्थापितवान् । तथा प्रियश्चायं भगवतः, 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' इति वाक्यात् । माया तु भगवतस्तद्भक्तेभ्यश्च जिह्रेति, 'विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेमुया । विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धिय' इति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् । उक्तभक्तस्य तु न दुर्धीत्वम्, भगवति बद्धसौहृदत्वात् । नाप्यन्यत्रासक्तिः । अतः किमर्थं मोहयिष्यति । तथा चोक्तैर्हेतुभिः सापि न भक्तं मोहयितुं शक्तेत्यर्थः ।

अब कोई ये सन्देह न करे कि मैंने बिना किसी कारण मूलश्लोक के **'ज्ञानिनामपि'** पद को उक्त दुर्गासप्तशती का वाक्य बताने वाला कैसे कह दिया! ऐसी शंका मत करिए क्योंकि प्रक्षिप्ताध्याय में कहे *"यावद्वत्सक(श्री0भा-10/13/19)"* इस श्लोक की सुबोधिनी में उक्त श्लोक में आए 'सर्वं विष्णुमयं' और 'गिरः' इन दोनों पदों को हमारे आचार्यचरणों ने एवं श्रीधरस्वामी ने भी बिना किसी कारण "सर्वं विष्णुमयं जगत्" इन पदों का उद्धरण माना है, इसलिए यदि मैंने भी इसी पद्धति के अनुसार यहाँ भी ऐसा अर्थ कर दिया हो, तो इसमें कोई दोष नहीं है। चाचाजी के मत में भी ऐसा ही है। और, ऐसा भक्त तो **'आत्मप्रद'** होता है, यानि उसने अपनी आत्मा भगवान को प्रकर्षतया अपने सभी के सहित समर्पित की होती है, उसने अपनी आत्मा से भी कोई स्वार्थ नहीं रखा होता है, तथा वह भगवान का

'प्रिय' होता है, जैसा कि भगवान ने *"यो मद्भक्तः स मे प्रियः(श्री0भा-12/14-16)"* इस वाक्य में कहा भी है। जबकि माया तो भगवान और उनके भक्तों के सामने आने में लजाती है, जैसा कि *"ब्रह्माजी ने नारद से कहा- यह माया तो भक्तों के सामने ठहरती ही नहीं, दूर से ही भाग जाती है। परन्तु संसार के अज्ञानी जन उसी माया से मोहित होकर 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है' इस प्रकार से बकवाद करते रहते हैं(श्री0भा-2/5/13)"* इस द्वितीयस्कन्धवाक्य में कहा भी गया है। इस ग्रन्थ में जिस प्रकार के भक्त की चर्चा है, वह तो दुष्टबुद्धि वाला नहीं है, क्योंकि उसने अपने हृदय को भगवान से बाँध रखा होता है। उसकी भगवान के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र आसक्ति भी नहीं होती अतः आचार्यचरण कहते हैं कि, फिर माया अनावश्यक ऐसे भगवद्भक्तों को क्यों मोहित/भ्रमित करेगी ! इन सभी विवेचनों का सारांश यह हुआ कि, ऊपर कहे समस्त हेतुओं के कारण माया भी भक्त को मोहित/भ्रमित नहीं कर सकती।

एवमेतेन विचारणेनास्यामारम्भदशायामपि भक्तिमार्गीये त्यागे न पश्चात्तापादिदोषसम्भावनेति सिद्धम् । तद्वदन्त उपसंहरन्ति तस्मादित्यादि । यस्मादन्ये त्यागप्रकाराः सदोषाः असम्भविनश्च, मुख्यस्त्वाज्ञां नापेक्षते । तादृशभावपृष्ठलग्नत्वेन स्वाभाविकत्वात् । अतोऽयमेवाज्ञाविषयो भवितुमर्हति, तस्मात् उक्तप्रकारेण भगवतोद्धवं प्रत्याज्ञप्तेन प्रकारेण भक्तिमार्गीयः परित्यागो विधीयताम्, भक्तैः कर्तव्यः । अन्यथा उक्ताधिकाराभावेपि त्यागकरणे अधिकारसद्भावेपि तदकरणे च स्वार्थात् स्वस्य यः अर्थः प्रयोजनं विरहानुभवो भगवत्प्रसादश्च तस्माद् भ्रश्यते, च्युतो भवतीत्यर्थः ।

इस प्रकार से इन समस्त विचारणाओं से यह सिद्ध होता है कि, भक्तिमार्गीयत्याग की आरम्भदशा में भी पश्चात्ताप होने जैसे दोष की संभावना नहीं होती। इस बात को कहते हुए आपश्री **तस्मात्** इत्यादि शब्दों से इसका उपसंहार कर रहे हैं। इससे आपश्री को यह कहना है कि, चूँकि अन्य दूसरे त्याग के प्रकारों में दोष हैं, वे करने सम्भव भी नहीं हैं, और जहाँ तक मुख्यत्याग की बात है, तो मुख्यत्याग में तो आज्ञा की अपेक्षा ही नहीं रहती, क्योंकि उस समय का भाव ही इतना उच्चकोटि का होता है कि उस भाव के संग-संग भक्त अपने आप ही स्वाभाविकरूप से सभी का त्याग कर देता है, उस दशा में पूछने-बताने की आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः केवल आरम्भदशा वाले परित्याग में आज्ञा लेने की आवश्यकता होती है, इसलिए **तस्मात्** उक्तप्रकारेण यानि भगवान ने एकादशस्कन्ध में उद्धवजी को जिस प्रकार का त्याग करने की आज्ञा दी थी, उस प्रकार से भक्तों को भक्तिमार्गीयपरित्याग करना चाहिए। **अन्यथा** यानि (1)यदि खुद में जब ऊपर एकादशस्कन्ध में बताया अधिकार उत्पन्न न हुआ हो और परित्याग करने जायेंगे तो, और (2)अधिकार उत्पन्न हो गया और अधिकार उत्पन्न हो जाने के बाद भी यदि परित्याग नहीं करेंगे तो भी, **स्वार्थात्** यानि खुद का जो प्रयोजन है उससे यानि विरहानुभव और भगवत्प्रसन्नता प्राप्त करने से **भ्रश्यते** चूक जायेंगे।

अत्र स्वस्य निश्चयमाहुः इति मे निश्चिता मतिरिति । एवंप्रकारिका निश्चयवती मम बुद्धिरित्यर्थः । श्रीमदुद्धवकर्तृकश्च परित्याग एवंरूपस्तृतीयस्कन्धे चतुर्थाध्याये 'इहागतोहं विरहातुरात्मे'ति 'सोहं तद्दर्शनाह्लादवियोगार्तियुतः प्रभो'रित्येताभ्यां बोधितः । तृतीयस्य चतुर्थे पादे 'बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्चे'त्यधिकरणे विचारितश्च । तत्र हि प्रचुरभगवद्भावमात्रवतः साक्षात्स्वरूपभोगवतो वा गृहत्यागः कर्तव्यो न वेति संशये फलस्य सिद्धत्वान्नाद्यस्य कर्तव्यः । 'मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मता' इति वाक्यात् गृहाणां बन्धकत्वाभावेन द्वितीयस्यापि न कर्तव्य इति प्राप्ते आह 'बहि'रित्यादि । उक्तपूर्वपक्षनिरासाय तुशब्दः । भावमात्रे साक्षाद्भगवत्सम्बन्धे चेत्युभयथापि बहिः गृहाद्बहिर्गमनम् गृहत्याग इति यावत् । स आवश्यकः । तत्र प्रमाणमाह 'स्मृतेराचाराच्चे'ति । 'त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु । मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृक् विचरस्व गा'मित्यादि स्मृतिर्भगवद्भाववतस्तत्सङ्गविशिष्टस्यापि बहिर्गमनमाह । तदाचारोपि तथैव श्रूयते, अतस्तथेति निष्कर्ष उक्तः । अयं च त्यागो नाश्रमधर्मरूपः, तस्य पूर्वं 'उर्ध्वरेतःसु च शब्दे ही'त्यत्र विचारितत्वात् ।

इस बात में अपना निश्चय कहते हुए आपश्री **इति मे निश्चिता मतिः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री आज्ञा कर रहे हैं कि- इस प्रकार की मेरी निश्चयात्मक बुद्धि है, जिसके द्वारा मैंने भक्तिमार्गीयपरित्याग का स्वरूप कहा है- यह अर्थ है। उक्तप्रकारक परित्याग जो कि श्रीउद्धवजी किया है, उसके विषय में तृतीयस्कन्ध के चतुर्थाध्याय में *"मैत्रेयजी ने विदुरजी से कहा- प्रभु के चरणों की वन्दना और परिक्रमा करके मैं यहाँ आया हूँ। भगवान के विरह से मेरा चित्त अत्यन्त व्याकुल हो रहा है(श्री0भा-3/4/20)"* एवं *"हे विदुरजी! पहले तो आपके दर्शन से मुझे अति आनन्द हुआ था परन्तु अब मेरे हृदय की विरहव्यथा अत्यन्त पीड़ा दे रही है(श्री0भा- 3/4/21)"* इन दोनों वाक्यों में बताया गया है। इसके अतिरिक्त उसी परित्याग के स्वरूप का ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय के चतुर्थपाद में भी *"बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च(ब्रह्मसूत्र 3/4/43)"* इस अधिकरण द्वारा विचार किया गया है। इस अधिकरण में इस सूत्र से पहले के सूत्रों में यह संशय उपस्थित किया गया कि (1)प्रचुरभगवद्भाववान को और (2)साक्षात्स्वरूप का भोग करने वाले को; इन दोनों

में से किसको गृहत्याग करना चाहिए और किसको नहीं करना चाहिए?- और तब उलझन यह पैदा हुई कि चूँकि पहले वाले को फलसिद्ध हो चुका है, यानि प्रचुरभगवद्भाव प्राप्त हो चुका है, अतः अब उसे गृहत्याग करने की आवश्यकता न रही। इसके पश्चात् दूसरे के लिए भी चूँकि *'जिन लोगों के सारे कर्म भगवदर्पणबुद्धि से होते हैं और जिनका सारा समय मेरी कथावार्ताओं में ही बीतता है, वे यदि घर में भी रहें, तो भी घर उनके बन्धन का कारण नहीं होता(श्री0भा- 4/30/19)*" इस वाक्यानुसार उसे घरपरिवार इत्यादि बन्धन प्रभावित नहीं कर सकते अतः उसे भी गृहत्याग करने की आवश्यकता नहीं रह गयी !! जब दोनों को ही गृहत्याग की आवश्यकता सिद्ध नहीं हुई, तो फिर आगे इसी सूत्र में आगे 'बहि' इत्यादि शब्दों से व्यासजी ने इसका समाधान किया कि, स्मृतिप्रमाण के अनुसार एवं पूर्व के शिष्टों के आचरण को देखने पर यही बात सिद्ध होती है कि, गृहत्याग करना चाहिए। पहले जो पूर्वपक्ष किया गया, उसका निराकरण करने के लिए सूत्र में **तु** शब्द का प्रयोग है। इसमें यह बात बतायी गयी कि, भगवद्भाववान को एवं साक्षात्भगवत्सम्बन्ध प्राप्त करने वाले को; दोनों को ही बहिर्गमन यानि गृहत्याग करना चाहिए। गृहत्याग करना तो आवश्यक है। और इसका प्रमाण उन्होंने *"स्मृतेराचाराच्च(ब्रह्मसूत्र 3/4/43)"* इत्यादि शब्दों से दिया है। जहाँ तक स्मृतिप्रमाण की बात है तो, "*भगवान ने उद्धवजी से कहा- अब तुम अपने बन्धु-बान्धवों एवं स्वजनों का स्नेह-सम्बन्ध छोड़ दो और और अनन्यप्रेम से मुझमें मन लगाकर समदृष्टि से पृथ्वी पर स्वच्छन्द विचरण करो(श्री0भा-11/7/6)*" इत्यादि स्मृतिवाक्यों में भगवद्भाववान एवं भगवान का विशिष्टरूप से संग करने वाले उद्धवजी तक के लिए भगवान ने गृहत्याग करने की आज्ञा दी है। और उद्धवजी ने भगवान की आज्ञानुसार ही आचरण किया, यह बात भी वहीं पर उल्लिखित है। अतः दोनों प्रकार के भक्तों को गृहत्याग करना आवश्यक होता है- ऐसा निष्कर्ष निकाला गया है। और यह त्याग संन्यासाश्रम वाला त्याग नहीं है, क्योंकि संन्यासाश्रम वाले त्याग के विषय में तो उक्त ब्रह्मसूत्र के पहले आने वाले अध्याय में ही *"उद्ध्वरितःसु च शब्दे(ब्र0सू-3/4/17)"* इस सूत्र द्वारा पहले ही त्याग का विचार किया जा चुका है।

न चैवमस्यास्मिन्सूत्र उक्तत्वे विचारितत्वेनेति कुतो नोक्तमिति शङ्क्यम् । प्रकारस्यानुल्लेखेन तथात्वाभावात् । शुकसंवर्तादिकर्तृकस्य ज्ञानमार्गीयस्यावैधसन्यासस्यापि तथात्वाच्चेति ।।१७-२१।।

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि, जब उक्त ब्रह्मसूत्र में संन्यासाश्रमधर्म वाले परित्याग की चर्चा हो चुकी थी, तो आपश्री ने वही बात इस ग्रन्थ में भी क्यों नहीं दोहरा दी !! इसलिए नहीं दोहरायी क्योंकि आचार्यचरणों को यहाँ विधिपूर्वक किए जाने वाले परित्याग की चर्चा नहीं करनी है, बल्कि भक्तिमार्गीयपरित्याग की चर्चा करनी है। और शुक, संवर्त आदि के द्वारा किया गया परित्याग भी भले ही बिना विधि के किया गया परित्याग था परन्तु ज्ञानमार्गीय था, इस कारण भी उस परित्याग की चर्चा आपश्री ने यहाँ नहीं की ॥17-21॥

एवं त्यागप्रकारं तत्कर्तव्यताप्रकारं च निरूप्योपसंहरन्ति इति कृष्णप्रसादेनेति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ।।२२।।

एवं सर्वे प्राञ्च आहुः । मम त्वन्यत् प्रतिभाति, उपक्रमे परित्यागो विचार्यत इति कथनात्, उक्तश्लोके च परित्यागो विधीयतामिति कथनाच्च तत्रैवोपसंहारप्रत्यभिज्ञानात्,

इस प्रकार से त्याग का प्रकार एवं उसे करने के प्रकार का निरूपण करके अब आचार्यचरण **इति कृष्णप्रसादेन** इत्यादि शब्दों से इस ग्रन्थ का उपसंहार कर रहे हैं।

पूर्व के सभी टीकाकारों ने ऐसा कहा है कि, आचार्यचरणों ने ग्रन्थ के आरम्भ में परित्यागस्वरूप बताने का उपक्रम किया और अब इस अंतिमश्लोक में परित्यागस्वरूप बताने का उपसंहार कर रहे हैं, किन्तु मैं ऐसा नहीं मानता क्योंकि मुझे लगता है कि, इसका उपसंहार तो इसके पूर्व के "परित्यागो विधीयताम्" इत्यादि शब्दों द्वारा 21वें श्लोक में ही हो चुका है। ऐसा मैं इसलिए मान रहा हूँ क्योंकि उपक्रम करते समय यानि प्रथमश्लोक में आचार्यचरणों ने "परित्यागस्वरूप का विचार कर रहा हूँ(1)" यों कहा है, और 21वें श्लोक में आपश्री ने "मैं ऐसा परित्याग लेने का विधान करता हूँ" यों कहा है, अतः उपसंहार तो इसी 21वें श्लोक के वाक्य से ही हो गया समझा जाना चाहिए।

इति कृष्णप्रसादेनेति श्लोकस्तु तत्रैव विशेषान्तरस्य बोधनाय । तथा हि । आचार्याणां पुरःस्फूर्तिकविचारेण देहदेशपरित्यागविषयकभगवदाज्ञाद्व्याकरणाभिमानजनितखेदे सति यदा लोकपरित्यागविषयिणी तृतीयाज्ञा जाता, तदा तद्वाक्यार्थविचारेऽनेन प्रकारेण कृते भगवान् विशेषतः प्रसन्नो भूत्वा तस्य संन्यासरूपतामाचार्याणां मनसि स्फोरितवान्,

तदेतदस्मिन् श्लोके बोधयन्ति इति कृष्णप्रसादेनेति ।

इसमें समझने वाली बात यह है कि इस 22वें श्लोक में तो आपश्री **इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन** इत्यादि शब्दों द्वारा उसी परित्याग के बारे में कुछ और विशेष बात बता रहे हैं। और वो यह कि, चूँकि आचार्यचरणों को आगे कुछ और भी कार्य करना शेष था इसलिए आपश्री ने भगवान की देहदेशपरित्याग करने की दो आज्ञाएँ अभिमानपूर्वक नहीं मानी थीं और जिसके कारण उन्हें खेद हुआ था। खेद होने के पश्चात् जब उन्हें लोकपरित्याग करने की तीसरी आज्ञा हुई, तब आचार्यचरणों ने तीसरी आज्ञा के वाक्यों के अर्थ का विचार करके आज्ञानुसार आचरण किया तो भगवान उन पर विशेषरूप से प्रसन्न हुए और यह बात आचार्यचरणों के मन में स्फुरित करवायी कि उन वाक्यों का अर्थ संन्यास लेना है- भगवान की उसी प्रसन्नता को आचार्यचरण इस श्लोक में **इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन** इत्यादि शब्दों द्वारा बोध करा रहे हैं, इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्रीपुरुषोत्तमचरणों ने अपनी टीका के आरम्भ में ही यह बात लिखी थी कि यहाँ पश्चात्ताप का अर्थ यह है कि- आचार्यचरणों ने जब दो भगवदाज्ञाओं का पालन नहीं किया तो उन्हें मन में पश्चात्ताप हुआ और आपश्री ने मन में यह विचार किया कि दो आज्ञाओं का पालन न करने पर भी यदि भगवान ने मुझे लोकत्याग करने की तीसरी आज्ञा दी है तो इसका अर्थ यह है कि भगवान मुझ पर प्रसन्न ही हैं अन्यथा वे मुझे तीसरी आज्ञा क्यों करते ! उसी बात को श्रीपुरुषोत्तमजी यहाँ बताना चाह रहे हैं कि, इस अंतिमश्लोक में आचार्यचरण भगवान की उसी प्रसन्नता के विषय में इंगित करना चाह रहे हैं और तदनुसार आपश्री ने लोकपरित्याग की तीसरी आज्ञा का पालन किया- यह अर्थ है।

इति एवं पूर्वोक्तप्रकारेण परित्यागे विचारिते सति यः कृष्णप्रसादः पूर्वस्मादतिरिक्तः तेन कृत्वा वल्लभेन भगवत्प्रियेण मया भक्तौ भक्तिमार्गे संन्यासवरणं उद्धववत् संन्यासाङ्गीकरणं विनिश्चितं विशेषतो निश्चितम् । अन्यथा एवमाज्ञाऽभावे तत्करणे पतितो भवेत् । भक्तिमार्गीयधर्माणां संन्यासधर्माणां चेतरेतरविरुद्धत्वात् भक्तिमार्गतश्च्युतो भवेदित्यर्थः ।

इति.....विनिश्चितम् इत्यादि शब्दों से आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि- इस ग्रन्थ में कहे परित्याग का विचार करने पर जो कृष्णप्रसाद(कृष्ण की प्रसन्नता) मुझे प्राप्त हुआ है, वह पहले की प्रसन्नता से भी अधिक प्राप्त हुआ है, जिसके द्वारा मुझ वल्लभ ने इस भक्तिमार्ग में उद्धवजी की भाँति संन्यास का वरण कर लेना अब विशेषरूप से निश्चित कर लिया है। **अन्यथा.....पतितो भवेत्** इत्यादि शब्दों से आपश्री यह कह रहे हैं कि- यदि मैंने संन्यास लेने की तीसरी भगवदाज्ञा न मानी, तो मैं पतित हो जाउँगा; यानि यदि मुझे भगवदाज्ञा न हुई होती और मैं संन्यास लेता तब तो चूँकि भक्तिमार्गीयधर्म एवं संन्यासधर्म एकदूसरे से विरुद्ध होते हैं अतः संन्यास लेने पर मैं भक्तिमार्ग से च्युत हो जाता, परन्तु जब भगवान ने ही आज्ञा कर दी है, तो अब मैंने संन्यास लेने का निश्चय कर लिया है।

विशेषनिश्चयस्तु, 'आहिताग्नेस्तु संन्यासो वैराग्यादुत्तरायुषि । यावज्जीवश्रुतेस्तत्र न विरोधः कथञ्चन । यजमानोऽग्निवचनाज्जरामर्याग्निहोमता । आत्मयागविधानाच्च द्रव्ययागविनिन्दनात् । श्रेयानित्यादिवचनादपुनर्भाववाक्यतः । न्यासो विधेयस्तत्रादौ प्रातर्हुत्वा यथाविधि । भार्यानुज्ञा तु नापेक्ष्या देवादारादिवाक्यतः । त्वं ब्रह्मेति च नापेक्ष्य पुत्राणां लौकिकत्वतः । आगूपचयनं कृत्वा जीवश्राद्धविधानतः । आभ्युदैवप्रकारेण श्राद्धान्यष्ट समाचरेत् । वर्गत्रयं प्रसिद्धं हि तत आत्मत्रयं मतम् । देहेन्द्रियप्राणदेवाः पञ्चमे देवता मताः । शिरःपाण्याद्यङ्गदेवा यन्तुदेवास्त्वगादिकाः । गोलाधिष्ठानदेवाश्च चक्षुराद्यास्ततः परम् । त्रिधाहङ्कृतिदेवाश्च रुद्रः संकर्षणः शिवः । सप्तमे गुणदेवास्तु ब्रह्माद्या अष्टमे मताः । ततो दण्डत्रयं शिक्यं पवित्रं जलभाजनम् । पात्रं चेति समादाय तथा कार्पटिकाकृति'मित्यादिषु श्लोकेषु वर्तते । सर्वो ग्रन्थ उत्सन्नः, पूर्णो न लभ्यत इत्यत एते श्लोका न विव्रियन्ते । अतस्तदुक्तप्रकारस्तत्तच्छाखीयसंन्यासपद्धतिभ्योवगन्तव्यः । भगवता संन्यासस्य स्फोरणादेवाचार्यैस्त्रिदण्डसंन्यास एव कृतः । भार्यादिभिराज्ञायाः अदाने स्वपर्णशालाज्वालनं प्रदर्श्य तैर्निर्गच्छत, शीघ्रं निर्गच्छतेत्युक्ते करककौपीने गृहीत्वा निर्गताः । ततोऽग्निरपि शान्तः । ततो यथाविधि[१] संन्यासं गृहीत्वा अरेलग्रामात् काश्यामागताः । मासमात्रं चानशनं कृतम्, दिनाष्टकं च मौनव्रतम्, तेन पूर्वाज्ञाद्वयस्थदेशदेहत्यागौ पाक्षिकदोषपरिहारेण कृतौ । तत आषाढशुक्लद्वितीयायां सिद्धिं गता इति प्राचां वाक्यादवगम्यते ।

अब मूलश्लोक में प्रयुक्त **विनिश्चितम्** शब्द से कहा आपश्री का संन्यास लेने की प्रक्रिया में विशेष निश्चय क्या है, यह समझें। संन्यास लेने का एक विशेष प्रकार होता है, जो *"आहिताग्नेस्तु संन्यासो ..... तथा कार्पटिकाकृतिम्"* इत्यादि श्लोकों में

---

१. नारायणेन्द्रतीर्थत इत्यधिकं श्रीवल्लभलालत उपलब्धे नूतनपुस्तके ।

कहा गया है। ये श्लोक जिस ग्रन्थ के हैं, वह ग्रन्थ मुझे पूर्णतया प्राप्त नहीं हुआ है इसलिए मैं इन श्लोकों का विवरण नहीं कर रहा हूँ। इसलिए इन श्लोकों में कहा गया प्रकार उन-उन शाखाओं में कही गयी संन्यासपद्धतियों द्वारा जान लेना चाहिए। चूँकि आचार्यचरणों को संन्यास लेने की स्फुरणा भगवान ने करायी इसलिए आपश्री ने तो त्रिदण्डसंन्यास ही लिया। आचार्यचरणों को जब पत्नी आदि से संन्यासग्रहण की आज्ञा न मिली, तो आपश्री ने उन्हें अपनी पर्णकुटि को जलती हुई दिखाई और उनके मुख से "शीघ्र वहाँ से निकलिए, शीघ्र वहाँ से निकलिए" यह कहलवा कर करक-कौपीन ग्रहण करके वहाँ से बाहर पधार गए। आपश्री के बाहर पधारते ही फिर अग्नि भी शान्त हो गयी। इसके पश्चात् आपश्री यथाविधि संन्यासग्रहण करके अड़ेलग्राम से काशी में पधारे। वहाँ आपश्री ने एक मास तक अनशन किया, आठ दिवस तक मौन धारण किया, यानि ऐसा करके आपश्री ने भगवान की पहले की देहदेशपरित्याग वाली दो आज्ञाओं का एक प्रकार से पालन ही कर लिया और पूर्व में उन आज्ञाओं का पालन न करने के कारण जो बचा-खुचा दोष था, उसका भी परिहार कर दिया। इसके पश्चात् आषाढशुक्ल द्वितीया के दिन आपश्री ने आसुरव्यामोहलीला की- यह प्राचीनों के वाक्यों से पता चलता है।

कर्मोपसंहृतिगतश्रुतिसूत्रगं यद्यद्बोधितं भगवता निजभृत्यमुख्ये ।
यच्चेतरत्तदनुसृत्य च वाक्यजातं संन्यासनिर्णयमयं व्यवृणोत्तदीयः ।।१।।
इति श्रीपीताम्बरात्मजश्रीपुरुषोत्तमविरचितं विवरणं सम्पूर्णम् ।।

समस्त कर्मों का त्याग कर देने वाला जिस प्रकार का संन्यास श्रुति और ब्रह्मसूत्रों ने बताया था, और जो संन्यास भगवान ने अपने मुख्यसेवक उद्धवजी को बताया था,

इसके अतिरिक्त अन्यमार्गों में भी जिस प्रकार का संन्यास बताया गया है, उन सभी प्रकारों को ध्यान में रखते हुए मैंने इस संन्यासनिर्णयग्रन्थ का विवरण किया है॥1॥

यह श्रीपीताम्बरात्मज श्रीपुरुषोत्तमविरचित विवरण सम्पूर्ण हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतः ।

विचारितपरित्यागाः पश्चात्तापनिवृत्तये ।
प्रसीदन्तु सदा मह्यमङ्गीकृतपितृत्वकाः ।।१।।

श्रीवल्लभकृत

पश्चात्तापनिवृत्ति के लिए जिन्होंने परित्याग का विचार किया है,
ऐसे मेरे पितृचरण मुझ पर सदा प्रसन्न रहें ॥1॥

पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ।।१।।

भक्तानां स्वहिताज्ञानेपि भगवांस्तेषां हितमेव सम्पादयतीति वस्तुस्थितिः । अतः साधनदशायां भक्तेन चिकीर्षितेपि परित्यागे तस्य पतनमाशङ्क्य तत्र विघातं करोति । ततो भक्तस्य तत्स्वरूपाज्ञानात् पश्चात् सेवानवसरे भावनादशायां तापो भवति, मया चिकीर्षितेपि महाफले परित्यागे भगवान् विघातं करोति, अतो मयि न कृपेति मम फलमुखाधिकाराभावात् सर्वमेव व्यर्थमित्येवंरूपः । तन्निवृत्त्यर्थं परित्यागः केन कर्तव्यः, कदा कर्तव्यः, किं वा तस्य स्वरूपमित्येवं विचार्यते, स्वमनस्येव युक्तिभिः परिशील्यते,

भक्तों को अपने हित का ज्ञान नहीं होता, तथापि भगवान उनका हित ही करते हैं- यह वस्तुस्थिति है। अतः जब भक्ति की साधनावस्था में ही भक्त परित्याग करने की इच्छा करता है, तब उसका पतन होने की आशंका से भगवान उसके परित्याग का विघात कर देते हैं। अब भक्त तो भगवान के उक्त स्वरूप से अनभिज्ञ होता है, अतः बाद में सेवा के अनवसर काल में भगवद्भावना करते समय उसे ताप होता है कि, "मैंने इतना मनोरथ किया, परन्तु, मेरे महाफलरूप परित्याग में भगवान ही विधात कर रहे हैं, इसलिए ऐसा लगता है कि मुझ पर भगवत्कृपा नहीं है अतः मेरा फलोन्मुख होने का भी अधिकार नहीं है और अब तो सब कुछ व्यर्थ ही है"। भक्त को ऐसा पश्चात्ताप न करना पड़े तदर्थ (1)परित्याग किसको करना चाहिए(यानि इसका कर्ता कौन है), (2)कब करना चाहिए(यानि कौन से काल में करना चाहिए?)और (3)उसका स्वरूप क्या है(परित्याग का स्वरूप क्या है?)- इन तीनों मुद्दों पर आचार्यचरण इस ग्रन्थ में विचार कर रहे हैं; इसका तात्पर्य यह है कि आचार्यचरण अपने मन में ही इन तीनों मुद्दों के विषय में युक्तियों द्वारा विचार कर रहे हैं।

तत्स्वरूपं पश्चात्तप्ताय बोध्यते, न तु कर्तव्यत्वेनोपदिश्यते । साधनदशायां निषेधस्य फलदशायां च स्वकृत्यसाध्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः । भक्तिमार्गीयेण फलानुभवकाले कृतो देहेन्द्रियादिषु स्वीयत्वत्यागोधिकारिभेदेन पूर्वसिद्धतत्त्यागो वा परित्याग इति कर्तृकालस्वरूपाणां त्रयाणामुत्तरं भविष्यति, तज्ज्ञाने मम साधनदशापन्नत्वाद्भगवांस्तद्विघातं कृपयैव करोतीति स्वस्मिन् कृपाज्ञानेन पश्चात्तापनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः ।

यहाँ समझने वाली बात यह है कि, आचार्यचरण विचार करके परित्याग का स्वरूप ऐसे पश्चात्ताप करने वाले भक्त को केवल बता ही रहे हैं, किन्तु परित्याग अवश्य करना ही है- इस प्रकार का उपदेश नहीं कर रहे हैं। आपश्री ने कर्तव्यरूप से परित्याग करना नहीं बताया, क्योंकि भक्ति की साधनदशा में तो आपश्री ने परित्याग करने का निषेध ही कर दिया है एवं फलदशा में तो परित्याग अपने आप ही हो जाता है, वो अवस्था प्रयत्न करके स्वयं परित्याग करने वाली अवस्था नहीं होती है- यह आपश्री ने आगे बताया है, आचार्यचरणों का तात्पर्य यह है कि, भक्ति की साधनावस्था में तो खैर परित्याग

नहीं ही करना चाहिए परन्तु फलदशा में पहुँच जाने पर भी परित्याग स्वयं प्रयत्न करके नहीं किया जाता अपितु वो अवस्था ही ऐसी होती है कि भक्त स्वाभाविकरूप से अपने आप ही परित्याग कर देता है। इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि, एतन्मार्ग का सिद्धान्त यह है कि, स्वयं प्रयत्न करके परित्याग करने के लिए प्रवृत्त नहीं होना चाहिए क्योंकि यदि स्वयं प्रयत्न करके परित्याग कर रहे हैं तो ऐसा परित्याग कृत्रिम होता है और उससे पुष्टिभक्तिमार्ग का उच्च एवं वास्तविक फल प्राप्त नहीं होता। मूल बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि, भक्ति की फलदशा आने पर परित्याग किया नहीं जाता अपितु अपने आप हो जाता है। यानि आचार्यचरण जब आगे यह बतायेंगे कि- **भक्तिमार्गीय** द्वारा उसके **फलानुभवकाल** में अपनी **देहेन्द्रियों के प्रति स्वीयत्व का त्याग** करने को परित्याग कहते हैं अथवा पूर्वकाल में जिनका त्याग करने की बात वह पहले ही मन में सोच चुका था और अब फलदशा आने पर जब वह उनका त्याग कर देता है, उसे परित्याग कहते हैं- तब ऊपर कहे परित्याग का (1)कर्ता (2)काल और (3) स्वरूप इन तीनों का उत्तर भी मिल जायेगा। यों जब उसे परित्याग के वास्तविकस्वरूप का ज्ञान होगा, तब वह "अभी मैं भक्ति की साधनदशा में हूँ, इसलिए भगवान मेरे परित्याग को सफल नहीं होने दे रहे हैं" यों सोचकर उसे खुद पर भगवत्कृपा होनी जानकर उसका पश्चात्ताप दूर होगा- यह भाव है।

युक्तिभिः स्वमार्गीयनिर्धारार्थं सामान्यतः सर्वनिर्णयमाहुः स इति । फलरूपभक्त्यनुभावार्थं च मार्गद्वये विशेषतः प्रोक्त इत्यर्थः । यद्यपि कर्ममार्गेप्याश्रमधर्मत्वेनोक्तः, तथापि यावज्जीववाक्यस्यापि विद्यमानत्वात् विशेषतो नोक्त इत्यर्थः ।।१।।

इसके लिए आचार्यचरण युक्तियों द्वारा स्वमार्गीयपरित्याग का निर्धारण करने के लिए सामान्यतया समस्त मार्गों में बताए परित्याग का निर्णय **स** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। फलरूपा भक्ति का अनुभव करने के लिए परित्याग भक्ति' एवं 'ज्ञान' इन दोनों मार्गों में विशेषरूपतया कहा गया है- यह **विशेषतः प्रोक्तः** का अर्थ है। यद्यपि परित्याग करना तो कर्ममार्ग में भी चतुर्थाश्रम के धर्म के रूप में कहा गया है, तथापि, "यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहुयात्(जीवनपर्यंत अग्निहोत्र करते रहें)" यह वाक्य भी कहा गया है, अतः कर्ममार्ग में विशेषरूप से परित्याग करना नहीं बताया गया है, क्योंकि परित्याग का अर्थ तो समस्त कर्मों का त्याग करना होता है अतः यदि जीवनपर्यंत अग्निहोत्र करने को भी कहा गया है, तो सिद्ध होता है कि कर्ममार्ग में परित्याग करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता यह अर्थ है॥1॥

कर्तव्यताबोधकवाक्येन पाक्षिककर्तव्यत्वमाशङ्क्य तदपि निराकुर्वन्ति कर्मेति ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ।।२।।

यावज्जीववाक्येन प्रत्यवायश्रवणात् पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इति न्यायेन न कर्तव्य इति भावः । वाक्यद्वयस्य रागारागभेदेन व्यवस्थायामपि कलौ तु 'अग्निहोत्रं गवालम्भ'मित्यादिवाक्यैः प्रत्यक्षत एव निषेधाद्देशादीनां दुष्टत्वाच्च न कर्तव्य एवेत्याहुः सुतरामिति । स्वस्य भक्तिमार्गविचारकत्वात्तन्मार्गीयकर्तव्यतामेव विचारे हेतुत्वेनाहुः अत इति ।

अब कर्ममार्ग में भी परित्याग का निर्देश करने वाले वाक्य तो प्राप्त होते ही हैं अतः यदि कोई ये कहे कि, संपूर्णतया न सही परन्तु आंशिकरूप से तो परित्याग करना ही चाहिए', तो आचार्यचरण उस पक्ष का भी निराकरण **कर्म** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

आपश्री का इससे अभिप्राय यह है कि, कर्ममार्ग में चूँकि "यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहुयात्(जीवनपर्यंत अग्निहोत्र करते रहें)" यह वाक्य प्राप्त होता है अतः परित्याग करेंगे, तो उपर्युक्त वाक्यानुसार अग्निहोत्र इत्यादि नियमितरूप से करना संभव नहीं बन सकेगा और तब न करने का दोष भी गलेपतित होगा, सो आंशिकदोष भी रहने दिया जाना नहीं चाहिए इस वाक्यानुसार अग्निहोत्र तो करना ही पड़ेगा ताकि दोष न आ पड़ें; जिसके कारण संपूर्णकर्मों का परित्याग करना संभव नहीं बन पायेगा, इसलिए आपश्री कर्ममार्ग में परित्याग न करना कह रहे हैं। वैसे तो कर्ममार्ग में *"यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहुयात्(जीवनपर्यंत अग्निहोत्र करते रहें)"* यह भी कहा गया है एवं चतुर्थाश्रम के रूप में संन्यास/परित्याग करने के लिए भी कहा गया है, इसलिए यद्यपि इन दोनों वाक्यों के लिए व्यवस्था यह है कि, जिसको अभी संसार के प्रति राग है, उसे तो 'यावज्जीवं' वाली श्रुति के अनुसार चलना चाहिए और जिसका संसार के प्रति राग छूट चुका है, उसे परित्याग के

मार्ग पर चलना चाहिए, तथापि *"अग्निहोत्रं, गवालम्भनं"* इस वाक्यानुसार कलिकाल में तो परित्याग का प्रत्यक्षतया निषेध किया ही गया है एवं देश-काल-द्रव्य इत्यादि धर्म के साधन भी कलिकाल में दुष्ट हो गये हैं, अतः कलिकाल में तो कर्ममार्गीयपरित्याग करना ही नहीं चाहिए- यह बात आपश्री **सुतरां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अब चूँकि स्वयं आचार्यचरण भक्तिमार्ग के विचारक हैं और ज्ञानमार्ग एवं कर्ममार्ग में परित्याग करना होता नहीं, अब शेष बची भक्तिमार्ग की बात तो, भक्तिमार्ग में परित्याग कब और किस प्रकार से करना बताया गया है, यही मुद्दा विचार करने में मुख्य हेतु है, जिसे आपश्री **अतः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

तत्रापि साधनदशायां निषेधमाहुः श्रवणादीति ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ।।३।।
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ।।४।।
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ।।५।।
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ।।६।।

एतेषां साधनरूपाणां प्रकर्षेण गेहीयानामनुकूलत्वेपि कदाचित् स्वासक्तिसम्पादनेन प्रतिबन्धकानामसंसर्गेण सिद्ध्यर्थं कर्तव्य इति चेत् ? स परित्यागोस्माभिर्नेष्यते, इष्टफलासाधकत्वादित्यर्थः । प्रतिकूले तु त्याग उचित एवेति भावः । तद्विशदयन्ति सहायेति । श्रवणे सहायभूतो यस्तादृशानां सङ्गस्तत्साध्यत्वात् श्रवणादीनामिति शेषः । एकाकिनस्तदसम्भवात् ग्रन्थावलोकनादिना स्वत एव शक्तितात्पर्यनिर्धारसम्भवे दोषान्तरमाहुः साधनानामिति । पुस्तकादीनामित्यर्थः । तावत्स्थापनेपि परित्यागो न सिद्ध इति भावः । अत एव 'ग्रन्थान् नैवाभ्यसेत् बहून्'निति वाक्यम् । यत्किञ्चिद्ग्रन्थाभ्यासस्तु पुस्तकं विनापि भवतीति बहूनित्युक्तम् । एवं स्वरूपासाधकं दोषद्वयमुक्तमित्यनयोः समुच्चयेनैकरूपत्वबोधनार्थं चकारः ।

यद्यपि आचार्यचरण भक्तिमार्गीयपरित्याग करने का उपदेश कर तो रहे हैं, तथापि, भक्ति की साधनदशा में परित्याग करने का निषेध आपश्री **श्रवणादि** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि, यदि घरपरिवारजन अनुकूल हों तो भले ही साधनरूप श्रवणकीर्तन ठीक ढंग से घर में ही रहकर निभ सकते हों, तथापि, यदि कोई ये सोचता हो कि विशेषरूप से नहीं निभ सकेंगे क्योंकि "घर-परिवारजनों की न सही परन्तु कहीं मेरी ही आसक्ति घरपरिवारजनों के प्रति हो सकती है अतः परिवारजनों के प्रतिबन्धों के संसर्ग से दूर रहकर श्रवणकीर्तन करने चाहिए"- यदि कोई ऐसा सोचकर परित्याग करना चाहे, तो आपश्री ऐसा परित्याग करना स्वीकार नहीं करते क्योंकि उक्त दृष्टिकोण से किया जाने वाला परित्याग इष्टफल को सिद्ध नहीं करता- यह अर्थ है। हाँ, यदि घर-परिवार प्रतिकूल होते हों, तब तो उनका त्याग करना ही उचित है। इसी बात को विस्तार से समझाने के लिए आपश्री **सहाय** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री को यह कहना है कि, श्रवणकीर्तन में जो सहायभूत होते हैं, उन्हीं लोगों के संग से श्रवणकीर्तन निभ सकते हैं, एकान्त में रहने वालों को ऐसों का संग मिलना संभव नहीं होता, इसलिए ग्रन्थों का खुद ही अवलोकन करके और प्रभुसम्बन्धी वाक्यों की शक्ति एवं उनके तात्पर्य का निर्धारण खुद ही करना होगा, अतः उस प्रक्रिया के अन्तर्गत आने वाले दोष को आपश्री **साधनानां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **साधनानां** का अर्थ है- पुस्तक, ग्रन्थ इत्यादि साधन; तात्पर्य यह हुआ कि ये साधन यदि उसने अपने पास रख लिए तो परित्याग कहाँ सिद्ध हुआ !! इसी कारण संन्यासी के लिए "बहुत अधिक ग्रन्थों का अभ्यास नहीं करना चाहिए" ऐसा वाक्य उपलब्ध होता है। ग्रन्थों का थोड़ा-बहुत अभ्यास तो पुस्तकों के बिना भी हो सकता है अतः उपर्युक्त वाक्य में "बहुत अधिक ग्रन्थों का अभ्यास नहीं करना चाहिए" यों कहा गया। इस प्रकार से 'सहाय' एवं 'साधन' ये दो प्रकार के दोष जिनके कारण परित्याग का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता, ऐसे दो दोष आचार्यचरणों ने कहे और इन दोनों की एकरूपता बताने के लिए आपश्री

ने **च** शब्द का प्रयोग किया है, अर्थात् कहने को दो दोष हैं परन्तु इनसे कार्य एक ही हो रहा है यानि इन दोनों के कारण परित्याग का स्वरूप ही नहीं बनता- यह अर्थ 'च' शब्द से ज्ञात होता है।

फलासाधकं दोषद्वयमाहुः अभिमानादिति । भूयोभ्यासेन प्रतिभोत्पत्तौ पुस्तकादिरूपसाधनत्यागेपि अन्तःकरणाशुद्ध्या अहं ज्ञानीत्यभिमानो भवेत् । ततो मुख्यफलासिद्धिः । तीर्थादिभिरन्तःकरणशुद्धावभिमानाभावे दोषान्तरमाहुः नियोगादिति । नियोगो विधिस्तस्माद्धेतोरित्यर्थः । मुख्यफलस्य विध्यस्पृष्टत्वाद्विहितत्वेन कृतेन त्यागेन न तत्सिद्धिरिति भावः । एवं फलासाधकं दोषद्वयमुक्तमिति चकारः ।

अब फलसिद्धि में बाधक बनने वाले दो दोष आपश्री **अभिमानात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, चूँकि पहले बारंबार ग्रन्थ आदि का अभ्यास किया ही हुआ होता है और तब जाकर परित्याग किया होता है अतः प्रतिभा तो उसमें होती ही है इसलिए चलो ग्रन्थों का इतना अभ्यास है कि पुस्तकरूप साधन उसे न भी रखने पड़ें, तथापि, अन्तःकरण में शेष बची रह गयी अशुद्धि के कारण उसे "मैं ज्ञानी हूँ" ऐसा अभिमान पनप जायेगा, जिसके कारण एतन्मार्गीयपरित्याग का मुख्यफल प्राप्त नहीं हो सकेगा। चलो, एक घड़ी तीर्थयात्रा इत्यादि करने के द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो भी जाये एवं अभिमान न भी उत्पन्न होता हो, तथापि, जो अन्य दोष लागू होगा, उसे आपश्री **नियोगात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। 'नियोग' का अर्थ होता है- विधि। आपश्री आज्ञा करते हैं- कर्ममार्गीयपरित्याग विधि-नियम के अन्तर्गत किया जाता है और हम पुष्टिमार्गीयों को जिस मुख्यफल की कामना होती है, वह तो विधि-नियमों से अछूता है और कर्ममार्गीयपरित्याग विधि-नियमों के अनुसार किया गया होता है अतः इससे मुख्यफल सिद्ध नहीं हो सकता- यह भाव है। अभिमान' एवं 'नियोग' इन दोनों ही दोषों के कारण फल सिद्ध नहीं होता, इसलिए आपश्री ने इन दोनों को **च** शब्द का प्रयोग करके कहा है।

मुख्यदोषमाहुः तद्धर्मैरिति । तस्य भगवतो भजनकर्मणो धर्मैस्तनुवित्तजसेवारूपैर्विरोधात् । त्यागे सति तादृशसेवाऽसम्भवादित्यर्थः । तथा च फलरूपाया मानस्याः पूर्वोक्तदोषैरसिद्धिः । तनुवित्तजायाश्च त्याग इत्युभयभ्रंश इति भावः । नन्वेवं सति सेवाश्रवणादिसाधकस्थापनेन भार्यादेरनुकूलत्वेपि स्वासक्तिसम्पादनरूपपाक्षिकदोषसद्भावेन बाधकत्वात् पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इति न्यायेन त्यागः कर्तव्य इत्याशङ्क्य निषेधन्ति गृहादेरिति । भार्यादेरित्यर्थः । साधनार्थमिति । अन्यत्रानासक्त्या सेवाश्रवणादिसम्पादनार्थमित्यर्थः । तादृशैरिति । रागिभिः स्वस्मिन्नासक्तिसम्पादकैरित्यर्थः । नान्यथेति । अतिविरक्तैरित्यर्थः । तादृशैरुच्छृङ्खलैः सेवाश्रवणादिकमपि न सिध्येदिति भावः ।

इसके पश्चात् आचार्यचरण इस भक्तिमार्ग की साधनावस्था में किए जाने वाले परित्याग में रहे मुख्यदोषों को **तद्धर्मैः** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य है- भगवान का भजन करने रूप धर्म यानि कि तनुजावित्तजा सेवारूपी धर्मों से भक्तिमार्गीयपरित्याग विरुद्ध होता है; क्योंकि त्याग कर देने पर तनुजावित्तजासेवा करनी असम्भव हो जायेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि, तब फलरूपा मानसीसेवा तो खैर ऊपर बताए गए दोषों के कारण सिद्ध ही नहीं हो सकेगी, साथ ही साथ परित्याग करने पर तनुवित्तजा सेवा का भी त्याग कर दिया अतः दोनों ही ओर से वंचित रह गए, न मानसी सिद्ध हो पायी और न ही तनुवित्तजा। अब यदि कोई ऐसी शंका करे कि, भले ही पत्नी-परिवारजन भगवत्सेवा, श्रवणादि में साधक होने के कारण अनुकूल होते भी हों, तथापि अपनी खुद की आसक्ति भी तो उनकी ओर हो सकती है अतः इनके साथ रहने में आंशिकरूप से तो दोष है ही, जो बाधक है अतः यत्किञ्चित् दोष भी क्यों रहने दिया जाय, सो इनका त्याग कर ही देना चाहिए- यदि कोई ऐसा सोचे तो आपश्री इसका निषेध **गृहादि** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। **गृहादि** का अर्थ है- पत्नी आदि; **साधनार्थं** का अर्थ है- अन्यत्र आसक्ति न रखते हुए सेवाश्रवण आदि साधन करने के लिए ; यानि यदि इस उद्देश्य से कोई परित्याग करना चाहे, तो **तादृशैः** अपने प्रति प्रेम उत्पन्न कराने वाले अर्थात् हमारी आसक्ति उनके प्रति कराने वाले लोगों से संपर्क होगा; **नान्यथा** यानि जो अतिविरक्त हैं, उनसे उसका संपर्क नहीं होगा। कुलमिलाकर आपश्री के कहने का तात्पर्य यह है कि, यदि सेवाश्रवण हा सपिक भादे साधन केरन के उद्देश्य स भा पोरत्याग कीरग, तबै भा **तादृशैः** याानं एस उच्छृंखल लोगां स होना/होता है, जिनके कारण सेवाश्रवण इत्यादि भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

ननु ते कीदृशा अपि भवन्तु, स्वस्य किं दूषणमित्यत आहुः स्वयं चेति । ते विषयाक्रान्तास्तत्सङ्गात् स्वयं च तदीयैर्विषयै रूपादिभिराक्रान्तो लुब्धः सन् पाखण्डी वेदविरुद्धविषयभोगकर्ता भवेदित्यर्थः । ननु दृढचित्तः कथमेवं भवेदित्यत आहुः कालत इति । कलिकालस्यादार्ढ्यसम्पादकत्वादिति भावः । साधनदशायां कालस्य प्रबलत्वान्निश्चितमेव स्यादिति पक्षान्तरनिरासकस्तुशब्दः । भार्यादिसहभावे विषयाक्रमणेपि पाखण्डित्वं तु न भवेदिति भावः ।

किन्तु प्रश्न यह होता है कि, वे चाहे जैसे भी क्यों न हो, हमारा क्या बिगाड़ कर सकते हैं ? तो आचार्यचरण **स्वयं च** इत्यादि शब्दों से इसे स्पष्ट कर रहे हैं। इसके द्वारा आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, वे स्वयं तो विषयाक्रान्त होते ही हैं, परन्तु, उनके संग के कारण स्वयं जीव भी उन विषयों से, रूप-लावण्य आदि से लुब्ध होकर पाखण्डी यानि कि वेदविरुद्ध विषयभोगकर्ता बन जायेगा। किन्तु यदि किसी का चित्त दृढ़ हो, तो वह कैसे लुब्ध हो सकता है ? यदि ऐसी दूसरी शंका हो तो, आचार्यचरण **कालतः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह कि, कलिकाल चित्त की दृढ़ता होने ही नहीं देता। और भक्ति की साधनदशा में तो काल प्रबल होता ही है अतः वह निश्चित ही पाखण्डी बनेगा- यों कहने के लिए पूर्वपक्षी की दूसरी शंका का निराकरण करने के लिए आपश्री ने **तु** शब्द का प्रयोग किया है। इससे आपश्री को मूल बात यह बतानी है कि, यदि वह परित्याग न करता और पत्नीपरिवारजनों के संग रहते हुए भले ही उस पर विषयों का आक्रमण भी होता रहता, तथापि गृहस्थी में रहना चूँकि शास्त्रसम्मत है अतः कम से कम वह पाखण्डी तो न बनता !! परित्याग करने के बाद यदि विषयभोग में पड़ जाता, तब तो अवश्य पाखण्डी सिद्ध होता।

ननु निषिद्धविषयाक्रमणे भवतु नाम वेदमार्गविरोधः, स्वमार्गीयफलस्य तु विध्यस्पृष्टत्वात् तत्र किं बाधकमित्याशङ्ख्य स्वमार्गविरोधमप्याहुः विषयेति । स्वकीयैरनिषिद्धैर्विषयैरन्तःकरणमेवाक्रान्तं भवति । तदपि देहेन्द्रियप्राणानामनाक्रान्तत्वात् तैः सेवाश्रवणादिकरणे निवर्तेत । तदा नित्यभगवदावेशो भवेत् । परकीयैर्निषिद्धैस्तु दुर्लभत्वेन निरन्तरभावनया दृढैर्दुरदृष्टजनकैः प्रातिलोम्येन देहपर्यन्तमाक्रान्तं भवति । तथा च देहपदेनेन्द्रियप्राणान्तःकरणानामाक्रमणं कैमुत्येन सूचितम् । तादृशानां सर्वस्यापि सङ्घातस्य विषयाक्रान्तत्वेन सेवाद्यसम्भवात् तैर्विषं यान्तीति व्युत्पत्त्या विषयैर्मृत्युरूपं दुःखमेव भवेत्, न तु दुःखहर्तुरावेशेनामृतरूपभगवदानन्द इति भावः ।

अब एक प्रश्न यह होता है कि, चलो निषिद्धविषयों का आक्रमण होने पर वेदमार्ग से विरोध होता हो परन्तु अपने मार्ग का फल तो वेद के विधि-नियमों से अछूता है, अतः भले ही वेदमार्ग से विरोध होता भी हो, तो भी इसमें क्या बाधक है ? यदि कोई ऐसा कहे, तो आचार्यचरण **विषयाक्रान्तदेहानां** इत्यादि शब्दों से यह बता रहे हैं कि, विषयों में आसक्ति हो जानी तो अपने मार्ग के भी विरुद्ध है। इसका तात्पर्य यह है कि, अनिषिद्ध स्वकीयविषयों(यानि पत्नी-पुत्र आदि के संग रहने से) के द्वारा केवल अन्तःकरण ही विषयों से आक्रान्त होता है; और चलो एक घड़ी अन्तःकरण विषयों से आक्रान्त हो भी जाय परन्तु कम से कम देह-इन्द्रियाँ आदि तो विषयों से आक्रान्त नहीं होती थीं क्योंकि घर में रहते हुए भगवत्सेवा, श्रवण आदि करने के द्वारा देह-इन्द्रियाँ पुनः शुद्ध भी बन जाती हैं और तब नित्य भगवदावेश बना रह सकता है। किन्तु जो निषिद्ध परकीयविषय होते हैं, सर्वप्रथम तो वे प्राप्त होने ही दुर्लभ होते हैं अतः उनको प्राप्त करने के लिए निरन्तर मन में उनका चिन्तन चलता रहने से होता यह है कि, दृढ़ बन चुके एवं पाप उत्पन्न करने वाले विषयों के द्वारा पूरी प्रक्रिया ही उल्टी हो जाती है यानि पहले तो अन्तःकरण और फिर उसके साथ-साथ देह तक विषयों से आक्रान्त हो जाती है। इसलिए **देह** पद के द्वारा इन्द्रिय-प्राण-अन्तःकरण इन सभी पर भी आक्रमण होना कैमुतिकन्याय द्वारा आचार्यचरणों ने सूचित किया है। ऐसों का समस्त संघात विषयाक्रान्त होने के कारण सेवा-सत्संग असम्भव हो जाते हैं और उन विषयों के कारण चूँकि 'विषय विष की ओर ले जाते हैं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषयों से मृत्युरूप दुःख ही भोगना पड़ेगा; दुःखहर्ता भगवान का आवेश होने के द्वारा अमृतरूप भगवदानन्द का अनुभव नहीं होगा- यह भाव है।

सर्वदेति । एवमपि गुणगानादिना तत्काले कदाचिद्भगवदावेशो भवेदपि, न तु सर्वदा । तादृशस्तु कादाचित्कत्वेनागन्तुकत्वादसमर्थ इति भावः । उपसंहरन्ति अतोत्रेति । अतो भगवदनावेशादेव हेतोरत्र मार्गे साधनभक्तिसिद्ध्यर्थं

परित्यागो न भगवदानन्दप्रापकः, किन्तु मृत्युरूपदुःखप्रापक इत्यर्थः ॥३-६॥

न तु सर्वदा शब्द से आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, इसी प्रकार भगवद्गुणगान द्वारा कुछ क्षण के लिए कदाचित् भगवदावेश होता भी है, किन्तु सर्वदा नहीं टिकता। ऐसे में कदाचित् भगवदावेश आया भी, तो वह टिके रहने में समर्थ नहीं होगा- यह भाव है। अब आचार्यचरण भक्ति की साधनावस्था में किये जाने वाले परित्याग का निषेध करने के विषय का उपसंहार **अतोऽत्र** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। **अतः** से आपश्री का तात्पर्य यह है कि- उक्त परित्याग करने से भगवदावेश नहीं होता, इसी कारण इस मार्ग में साधनभक्ति सिद्ध करने के लिये यानि श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के हेतु से किया गया परित्याग भगवदानन्द नहीं प्राप्त करा सकता, किंतु मृत्युरूप दुःख ही दिलायेगा- यह अर्थ है ॥3-6॥

द्वितीयदलानुभवाय फलानुभवकाले त्यागाभ्यनुज्ञामाहुः विरहेति ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ॥७॥
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ॥८॥
विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ॥९॥
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ॥१०॥
तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ॥११॥
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ॥१२॥
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ॥१३॥
दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ॥१३$^{1}/_{2}$॥

पूर्वसंयोगव्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः । सुप्तप्रबुद्धन्यायेन । तदनन्तरं जातस्तु संयोगो विरहाभिन्न एव, तदर्थं परितस्त्यागो देहेन्द्रियादीनामप्यननुसन्धानरूपः । प्रकर्षेण गुरूपदेशभार्याभ्यनुज्ञादिव्यतिरेकेणैव फलसाधकत्वेन शस्यते ।

द्वितीयदल यानि विप्रयोग का अनुभव करने के लिये जब फलानुभव होने की दशा आ जाय, तब उस समय त्याग की आज्ञा देने के लिये आचार्यचरण **विरहानुभवार्थम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

तु शब्द सुप्तप्रबुद्धन्यायानुसार ये बताता है कि, अब यहाँ से पूर्व के संयोग की चर्चा समाप्त होती है एवं विप्रयोग की चर्चा आरम्भ होती है। सुप्तप्रबुद्धन्याय का तात्पर्य होता है, सोने एवं जागने की अवस्था। व्यक्ति जब सोया होता है तब जाग्रत अवस्था की समस्त क्रियाएँ बंद हो जाती है और जब जाग्रत अवस्था में होता है तब सोते समय वाली निष्क्रिय अवस्था नहीं रहती। ठीक इसी प्रकार श्रीवल्लभचरणों का कहना है कि, **तु** शब्द द्वारा अब यहाँ से विप्रयोग की चर्चा आरम्भ होती है और संयोगचर्चा समाप्त हो चुकी है- यह अर्थ है। यहाँ संयोग की चर्चा समाप्त तो हो गयी परन्तु यह अवश्य है कि इस विरह के पश्चात् प्राप्त होने वाला संयोग तो विरह से अभिन्न ही है यानि इस परित्याग(विरहानुभव के लिए किए गए परित्याग) के पश्चात् जो भगवान से संयोग होगा, वह विरहावस्था से अलग नहीं ही है, इसका फलितार्थ यह है कि, पूर्व के संयोग में जीव के भाव में कुछ कमियाँ थीं, जिन्हें दूर करने के उद्देश्य से ही भगवान उसे विरह का अनुभव कराते हैं। अब विरहावस्था में उसे निरन्तर प्रभु का चिंतन बना रहता है, उसका भाव दृढ़ हो जाता है और यह दृढ़भाव विरह दूर हो जाने के पश्चात् आने वाली संयोगदशा में भी बना रहता है, उसमें कोई न्यूनता नहीं आती, इसलिए श्रीवल्लभचरण विरहावस्था के बाद

ग्राह्य होने वाले संयोग को विरह से अभिन्न बता रहे हैं अर्थात् विरह के समान ही बता रहे हैं। ऐसे विरह का अनुभव करने के लिए सभी वस्तुओं/पदार्थों/व्यक्तियों का चहुँओर से त्याग कर देने का अर्थ है- अपनी देहेन्द्रियों का भी अनुसन्धान न रहना। इस परित्याग को सर्वोपरि समझते हुए, गुरूपदेश, पत्नी की आज्ञा इत्यादि के बिना ही यह परित्याग फल सिद्ध करा देता है अतः आचार्यचरण इसको प्रशंसनीय कह रहे हैं।

तर्हि वेषोपि तथा न स्यादित्यतस्तत्प्रयोजनमाहुः स्वीयेति । बहिस्तथावेषाभावे स्वीयानां भार्यादीनामन्तःकरणबन्धो वासनारूप एतस्मिंस्तिष्ठेदेव, वेषे तु कृते अयमस्मदुपयोगानर्ह इति ज्ञानेन स्वीयानां वासना एतस्मान्निवर्तेतेति तदर्थं स त्रिदण्डिवेषोत्र मार्गे शस्यते इति पूर्वेणान्वयः । न चान्यथेति । फलार्थं चकारात् साधनसिद्ध्यर्थं च नेत्यर्थः ।

अब कोई यदि ये कहे कि, इस पुष्टिमार्गीयपरित्याग का जब कर्ममार्गीयपरित्याग से कोई लेना-देना ही नहीं है एवं गुरु-आज्ञा, पत्नी-आज्ञा इत्यादि की भी कोई आवश्यकता नहीं है, तो फिर इसमें गेरुए वेष की भी कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए, तो आचार्यचरण पुष्टिमार्गीयसंन्यासी को गेरुए वस्त्र धारण करने का प्रयोजन क्या है, यह **स्वीय** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, बाहरी तौर पर यदि वह संन्यासी का वेष धारण न करे, तो पत्नी आदि निजजनों को उससे अन्तःकरण का बन्धन रहता ही है, यानि उसके प्रति चाहना रहती ही है, किन्तु जब वो संन्यासी का वेष धारण कर लेता है, तब तो "अब ये हमारे काम का नहीं रहा" ऐसा सोचकर उसके प्रति उनकी चाहना नष्ट हो जाती है, इसी एक कारण से त्रिदण्डी संन्यासी का वेष इस मार्ग में उचित माना जाता है। **न चान्यथा** अर्थात् पुष्टिमार्गीयपरित्याग में गेरुआ वेष न फलप्राप्ति के उद्देश्य से धारण किया जाता है और न ही परित्याग के साधन के रूप में होता है अपितु केवल स्वीयजनों को अपने से दूर रखने के लिए धारण किया जाता है - यह अर्थ है।

ननु गुरूपदेशाभावे 'यस्त्विच्छया कृतः पुम्भि'रिति वाक्याद्धर्माभासत्वेनाधर्मवत्त्वमेतस्य स्यादित्यत आहुः कौण्डिन्य इति । कुण्डिने भवा कौण्डिनी, आद्यमहिषी । तत्प्रधानत्वात् तस्या एव सर्वत्राविष्टत्वात् सर्वा एव महिष्यः कौण्डिन्यः । तथा च कौण्डिन्यो गोपिकाश्चेति वाचिककायिकतिरोधानद्वयजनितद्विविधविरहानुभवविशिष्टं गुरुद्वयमित्यर्थः । तथा च तयोर्नियामकत्वान्न स्वेच्छाकृतिरूपो दोषः ।

एक प्रश्न यह होता है कि, संन्यास लेने में यदि किसी गुरु का उपदेश या उनकी आज्ञा न ली हो, तो *"मनुष्य अपने आश्रम के विपरीत स्वेच्छा से जिसे धर्म मान लेता है, वह धर्म का आभास मात्र है, वह धर्म नहीं है(श्री0भा-7/15/14)"* इस वाक्यानुसार वह परित्याग केवल धर्म का आभास मात्र कहलायेगा अतः बिना गुरु के परित्याग करना उसके लिए अधर्म होगा !! यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण **कौण्डिन्य** इत्यादि शब्दों से इस मार्ग में परित्याग के गुरु कौन हैं, यह बता रहे हैं। जो कुण्डिनपुर में उत्पन्न हुई, वो 'कौण्डिनी' कहलाती हैं(भगवान की पटरानी रुक्मिणीजी कुण्डिनपुर की रहने वालीं थीं), यानि कि "आद्य महिषी" अर्थात् "रुक्मिणीजी"। और, चूँकि कौण्डिनी-रुक्मिणीजी प्रधान हैं और रुक्मिणीजी ही कुण्डिनपुर की अन्य सभी महिषियों में आविष्ट भी हैं, अतः उन सभी महिषियों को आचार्यचरणों ने "कौण्डिनी" कहा है। इसका तात्पर्य यह हुआ है कि, (1)कौण्डिनी(द्वारका की सोलह हजार रानियाँ)एवं (2)गोपिकाएँ, ये दोनों क्रमशः भगवान के वाचिकतिरोधान एवं कायिकतिरोधान से उत्पन्न हुए दो प्रकार के विशिष्टविरह का अनुभव करने वाली दो गुरु हैं- यह अर्थ है(वाचिकतिरोधान को समझने के लिए श्रीभागवत दशमस्कन्ध, 60वाँ अध्याय देखें, जहाँ भगवान ने हास-परिहास करने के लिए रुक्मिणीजी से ऐसे वचन कहे मानों वे उनसे दूर जाने की बात कर रहे हों, तिरोधान होने की बात कर रहे हों। इस प्रसंग को अच्छी तरह पढ़े बिना यहाँ कही पंक्तियाँ समझ में नहीं आयेंगी, यह ध्यान रखना चाहिए)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, इस पुष्टिमार्गीयपरित्याग में ये दोनों नियामिका(नियन्त्रण करने वाली)हैं, अतः यहाँ बिना किसी की आज्ञा के मनमाने ढंग से परित्याग करने का दोष लागू नहीं पड़ता।

ननु तत्कृतोपदेशासम्भवात् कथं गुरुत्वमत आहुः साधनं चेति । तत् एतद्द्वये निरन्तरभावनया सिद्धं स्थायिभावरतिरूपं क्रमेण तिरोधानद्वये वचनैः स्वरूपेणोत्कटं सत् साधनम् । चकारात् फलमपि तत्र सिद्धो विरहानुभव एव । तथा च

साक्षादुपदेशाभावेपि साधनफलबोधकत्वात् गुरुत्वमिति भावः । नन्वेवं साधनसाध्यत्वे 'नायमात्मे'ति वाक्यविरोध इत्यत आहुः भाव इति । भावनया चर्वणया सिद्धं स्थायिभावरतिरूपं विरहानुभवस्य साधनं वरणादन्यत्प्रवचनादिरूपं नेष्यते, किन्त्विदं सर्वं वरणान्तःपात्येवेति न पूर्वोक्तवाक्यविरोधः ।

किन्तु तब प्रश्न यह होता है कि, इन्होंने इस संदर्भ में कभी कोई उपदेश तो दिया ही नहीं है, फिर ये किस दृष्टिकोण से गुरु कही जा सकेंगी ? तो आचार्यचरण **साधनं च** इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कह रहे हैं। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, इन दोनों गुरुओं की निरन्तर भावना करते रहनी चाहिए; यानि इन दोनों गुरुओं के प्रति भगवान ने क्रमशः अपने वचन एवं अपने स्वरूप का तिरोधान करके उनमें अपने प्रति जिस रतिरूप स्थायीभाव को उत्कटरूप से बढ़ाया था, वही रतिरूप स्थायीभाव यहाँ कहे जा रहे परित्याग में साधन है, अर्थात् ऐसा स्थायीभाव रखने से यह परित्याग परिपूर्ण बनेगा- यह अर्थ है। **च** शब्द से सूचित होता है कि, इस परित्याग का फल भी वही प्राप्त होगा जो उन्हें प्राप्त हुआ था। इसका अर्थ यह हुआ कि, भले ही इन्होंने साक्षात् उपदेश नहीं किया, तथापि, उक्त दृष्टिकोण से उन्होंने पुष्टिमार्गीयों को इस मार्ग के साधन एवं फल का भी बोध कराया है अतः वे गुरु कही जा सकती हैं। किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि इनके द्वारा बताए गए साधनों के द्वारा यह परित्याग सिद्ध होता है, तो फिर *"नायमात्मा(कठो-1/2/23)"* इस श्रुतिवाक्य से विरोध आ जायेगा, जो यह कह रही है कि भगवत्प्राप्ति में कोई भी साधन काम नहीं आता अपितु केवल भगवद्वरण ही एकमात्र साधन है !! तो आपश्री इसका समाधान **भाव** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, निरन्तर भावना करने के द्वारा सिद्ध हुआ रतिरूप स्थायीभाव विरहानुभव होने में साधन होता है और यह साधन भगवद्वरण ही समझना चाहिए, इसे भगवद्वरण से अलग प्रवचन आदि रूप साधन नहीं समझना चाहिए, अर्थात् उक्त प्रकार से जीव निरन्तर भावना भी भगवान द्वारा वरण किए जाने के कारण ही कर सकता है अतः उसे वरण के अन्तर्गत ही समझना चाहिए, इसलिए पूर्व में जो कहा कि- इनके द्वारा बताए गए साधनों के द्वारा यह परित्याग सिद्ध होता है, तो इस वाक्य से कोई विरोध नहीं आता।

ननु विरहे विकलत्वास्वास्थ्याभ्यां दुःखानुमानात् कथं फलत्वम् ? आनन्दस्यैव फलत्वादित्यत आहुः विकलत्वमिति । एतद्द्वयमन्तःस्थितस्य विरहात्मकस्यानन्दरूपस्य भगवत एव प्रकृतिः स्वभावो धर्म इति यावत् । न त्वानन्दतिरोभावेन दुःखरूपायाः प्रकृतेर्धर्म इत्यर्थः । तादृशे दुःखधर्मत्वं नोचितमिति हिशब्दः ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, इस पुष्टिमार्गीयविरह की प्रक्रिया में भक्त को विकलता और अस्वस्थता अनुभूत होती है अतः ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इनसे उसे दुःख होता है, तो फिर दुःखी होने के द्वारा फलप्राप्ति होनी किस प्रकार से संभव है, क्योंकि फलप्राप्ति तो उसी को कहा जायेगा, जहाँ आनन्द प्राप्त होता हो ! तो आपश्री **विकलत्वं** इत्यादि शब्दों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, इस पुष्टिमार्गीयपरित्याग की प्रक्रिया में भक्त को विकलता होनी और अस्वस्थता अनुभूत होनी ये दोनों उसके अन्तःकरण में बिराजे हुए विरहात्मक आनन्दरूपभगवान की ही प्रकृति है, यानि उनका स्वभाव है, उनका धर्म है। इसे आनन्द का तिरोभाव हो जाने पर होने वाले दुःखरूप प्रकृति/लौकिकधर्म नहीं समझना चाहिए- यह अर्थ है। इसी कारण आपश्री ने इसे समझाने के लिए निश्चयात्मक **हि** शब्द का प्रयोग किया है, कि इस प्रकार की विकलता और अस्वस्थता को निश्चितरूप से लौकिक नहीं ही समझना चाहिए।

एवं सर्वदा द्वितीयदलानुभवे पूर्वदलाननुभवात् पूर्णरसानुभवो न भवेदतः पूर्वदलानुभवमाहुः ज्ञानमिति । ज्ञानं 'तद्दृष्ट्वा भगवान् कृष्ण प्रियायाः प्रेमबन्धन'मित्यत्रोक्तं प्रेमबन्धनदर्शनम्, गुणा ऐश्वर्यादयश्च क्रमेण तस्यैवं वर्तमानस्य गुरुद्वयस्य बाधकाः, पूर्वानुभवं बाधित्वा पुनः संयोगरसानुभावका इत्यर्थः ।

इस प्रकार से यदि सर्वदा द्वितीयदल का ही अनुभव होता रहे, यानि विप्रयोग का ही अनुभव होता रहे और संयोग का अनुभव हो ही नहीं, तो फिर जीव को रस का पूर्णरूप से अनुभव नहीं हो पायेगा अतः उसे पूर्वदल(संयोग) का अनुभव हो तदर्थ आचार्यचरण **ज्ञानं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **ज्ञानं** का अर्थ है- जब भगवान ने हास-परिहास करने के लिए रुक्मिणीजी को वाचिकतिरोधान होने वाले वाक्य कहे और उन वाक्यों को सुनकर रुक्मिणीजी को भगवान के दूर चले जाने के भय का इतना आघात लगा कि वे बेहोश होकर गिर पड़ीं, तब

भगवान ने *"तद्दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धनं(श्री0भा-10/60/25)"* इस वाक्यानुसार रुक्मिणीजी का अपने प्रति प्रेमबन्धन को देखा और उन्हें समझाया कि यह सभी कुछ तो हास-परिहास था, अतः दुःखी होने की आवश्यकता नहीं है- तो इस प्रकार से रुक्मिणीजी को भगवान के अपने ही निकट होने का जो 'ज्ञान' हुआ, वह **ज्ञान** ; साथ ही साथ **गुणाः** यानि भगवान के ऐश्वर्य-वीर्य आदि गुण- ये दोनों क्रमशः भगवान के विप्रयोग का अनुभव करने वाली दोनों गुरुओं के बाधक बन गए, यानि पहले जो वे विप्रयोग का अनुभव कर रहीं थी उसके बाधक बन गए और अब वे पुनः भगवान से संयोग का अनुभव करने लगीं- यह अर्थ है।

अत्र प्रकारमाहुः सत्येति । ज्ञानात् तत्पूर्वोक्तात् सत्यस्याक्षरब्रह्मणः श्रीवत्सस्य लक्ष्म्याश्च लोके विशाले स्थाने वक्षसि स्थितिः 'आश्लिष्य बाहुना राज'न्नित्यत्रोक्ता भवति । नन्वेवं प्रकारं ज्ञानं तु पूर्वमप्यासीदतः कथं पूर्वं तेरोभावसम्पादनमत आहुः संन्यासेनेति । सम्यक् न्यासेन विरहे देहेन्द्रियाद्यननुसन्धानेन विशेषितं प्रेमबन्धनज्ञानं ज्ञातमित्यर्थः । नित्यज्ञानवत्त्वेपि रसमार्गस्थस्य भगवतो रसमर्यादयैव ज्ञानोद्बोध इति सिद्धान्तात् ।

अब आगे टीकाकार यह बता रहे हैं कि, इन्हें संयोग प्राप्त होने का प्रकार क्या था। इसे वे सत्यलोक में उन्हें स्थान मिलने द्वारा बतायेंगे। श्रीवल्लभचरणों ने 'सत्यलोक' का अर्थ भगवान का वक्षस्थल किया है, यह ध्यान रखना चाहिए। अब इन्हें संयोग किस ढंग से प्राप्त हुआ- उसका प्रकार आचार्यचरण **सत्यलोक** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **ज्ञानात्** यानि पूर्व में कहे ज्ञान से (ऊपर ज्ञान का जो अर्थ किया गया था, उस ज्ञान से) **सत्यलोक** यानि कि अक्षरब्रह्म, श्रीविष्णु अथवा तो श्रीलक्ष्मी के विशाल लोक में स्थिति प्राप्त होती है यानि कि भगवान के वक्षस्थल में स्थिति प्राप्त होती है, जैसा कि *"भगवान ने जब देखा कि रुक्मिणीजी अति व्यथित हो गयीं हैं तो उन्होंने उनके अश्रु पोंछकर उन्हें वक्षस्थल से लगा लिया(श्री0भा-10/60/27)"* इस श्लोक में बताया गया है कि, रुक्मिणीजी को भगवान के वक्षस्थल पर स्थान मिला। केन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, भगवान को रुक्मिणीजी के प्रति प्रेम है, इस बात का ज्ञान तो रुक्मिणीजी को पहले भी था, फिर उन्हें ऐसा क्यों लगा कि भगवान तिरोहित हो जायेंगे ! तो इसका स्पष्टीकरण आचार्यचरण **संन्यासेन** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। यहाँ 'संन्यास' का अर्थ है- सम्यक् न्यास द्वारा(भलीभाँति त्याग करने के द्वारा)विरह होने पर उन्हें अपनी देह-इन्द्रिय आदि का अनुसन्धान न रहा, और जब वे विकल हुईं, उन्हें पीड़ा हुई, तब उन्हें भगवान से विशेषरूप से अपने प्रेमबन्धन का ज्ञान हुआ- यह अर्थ है। यानि भले ही रुक्मिणीजी को पहले भी ये ज्ञान था कि भगवान उनसे प्रेम करते हैं, तथापि भगवान ने इसलिए उन्हें विरह देकर, विकल बना कर विशेषरूप मे अपने प्रेम को जताया क्योंकि रसमार्गीय-भगवान की रस प्रकट करने की यही मर्यादा है और इसी प्रकार वे भक्त को अपने प्रति प्रेम का ज्ञानोद्बोधन कराते हैं- यह सिद्धान्त है।

अन्वेतादृशज्ञानस्य सत्यलोकस्थितिरूपस्य फलस्य चाद्यमहिष्यामेवोक्तत्वात् कथं सर्वासां गुरुत्वमित्यत आहुः भावनेति । पूर्वोक्तं भावसाधकभावनारूपं साधनं तथा आद्यमहिषीसदृशं यत्र भक्तेषु भवेत् फलं चकारात् तत्साधनं भावश्च तथा पूर्वसदृशं विरहानुभवरूपं यत्र भक्तेषु भवेत् तादृशा भक्ताः महिषीरूपाः सत्यलोके आदिपदेन 'तामुत्थाप्य चतुर्भुज' इत्यत्रोक्तोत्थापनकेशसमूहनवक्त्रमार्जनादिना भुजादिषु च तिष्ठन्त्येव, तावत्सिद्धौ तावदपि युक्तमेवेत्येवकारः । अत्रै'वाथान्यासामपी'त्यतिदेशादत्र संशयो न कार्य इत्याहुः न संशय इति ।

केन्तु इसमें एक शंका यह होती है कि, उपरोक्त प्रकार के ज्ञान द्वारा सत्यलोक(वक्षस्थल)में स्थान पाने का फल तो केवल आद्यमहिषी यानि कि रुक्मिणीजी को ही प्राप्त हुआ है, फिर आचार्यचरण उनके साथ-साथ अन्य दूसरी महिषियों को भी गुरु क्यों कह रहे हैं ? तो आचार्यचरण **भावना** इत्यादि शब्दों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इससे आपश्री को यह कहना है कि, पूर्व में आद्यमहिषी-रुक्मिणीजी में बताए गए भाव को सिद्ध करने के लिए जो भावनारूप साधन बताया गया, वैसी भावना जिस भक्त में होगी, उस भावना द्वारा उसे भी वही फल प्राप्त होगा जो रुक्मिणीजी को प्राप्त हुआ; **च** शब्द से सूचित होता है कि, उस फल को प्राप्त करने में साधन जो कि भाव है, यानि कि विरहानुभव का भाव भी उनको सिद्ध होगा- ऐसे अन्य महिषियों को भी सत्यलोक में स्थान मिला, और स्थान ही नहीं अपितु **आदि** पद से ज्ञात होता है कि, *"तामुत्थाप्य चतुर्भुजः(श्री0भा-10/60/26)"* इस श्लोक में बताए

नुसार भगवान द्वारा श्रीरुक्मिणीजी के केश को बाँधना, अश्रु पोंछना, उनका आलंगन करना इत्यादि जो फल क्मिणी को मिला था, वैसा ही फल अन्य महिषियों को भी मिला। यानि जिसने उपर्युक्त प्रकार से भावना की ौर जिसे ऐसा भाव सिद्ध हो गया, उसे रुक्मिणीजी जैसा फल मिलना तो उचित ही है- यह बात बताने के ागश्री **तिष्ठन्त्येव**(तिष्ठन्ति + एव) में एवकार का प्रयोग किया है। और वहीं दशमस्कन्ध के 60वें अध्याय में ही *भगवान रुक्मिणीजी की ही भाँति अपनी दूसरी पत्नियों के संग भी हास-परिहास किया करते थे(श्री0भा-*
'0/60/59)" यह बात भी कही गयी है अतः ये बात सिद्ध होती है कि, रुक्मिणीजी के संग-संग भगवान ने पनी दूसरी महिषियों को भी अपने विरह का अनुभव करवाया है अतः रुक्मिणीजी के संग-संग वे भी गुरु कहीं ा सकेंगी, इसलिए दूसरी महिषियों के भी गुरु होने में संशय नहीं रखना चाहिए- यह बात आचार्यचरणों ने **न ंशयः** इत्यादि शब्दों से कही है।

नु पूर्वमपि संयोगस्य विद्यमानत्वात् कथं विरहानन्तरं जातस्यैव फलत्वमत आहुः बहिरिति । स्वस्य भक्तस्यात्मा गवान् वाचिकतिरोधानलीलया बहिः प्रकटो भक्तस्वरूपाद्बहिर्भूतो भिन्नश्चेत् सन् पुनर्भक्तस्वरूपे प्रविशेत्, त्यलोकादौ तत्स्थापनेन तत्प्रत्यङ्गेषु संयुज्य स्थितो भवेत्, तदैव सकलो देहेन्द्रियादिषु वासनारूप आध्यात्मिकोपि न्धो नाशमेति, नान्यथा तिरोभावातिरिक्तप्रकारेण न भवतीत्यर्थः । विरहेतितापेन देहेन्द्रियाननुसन्धाने सर्वांशेन द्वासनानिवृत्तिः, तदनन्तरं संयोगेप्याध्यात्मिकाविद्याया निवृत्तत्वाद्देहेन्द्रियादिकमात्मा च भगवदीयत्वेनैव प्रियो भवति, गवानपि भगवत्त्वेनैवेति मुख्यो निरोधो सिद्धो भवतीति पूर्वसंयोगेप्याध्यात्मिकबन्धस्य विद्यमानत्वान्न तस्य फलत्वम्, केन्त्वस्यैव निरोधस्यैव फलत्वादिति भावः ।

केन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, इन महिषियों को भगवान का संयोग तो पहले भी प्राप्त था, फिर विरह के श्चात् होने वाले संयोग को ही आचार्यचरण परमफल क्यों बता रहे हैं ! तो आपश्री इसका स्पष्टीकरण **बहिः** त्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इन शब्दों से आचार्यचरण यह बताना चाह रहे हैं कि, अपने भक्त के आत्मारूप गवान पहले तो वाचिकतिरोधानलीला करने के द्वारा **बहिः प्रकटः** अर्थात् भक्तस्वरूप से बाहर यानि उससे भिन्न ोकर जब पुनः भक्तस्वरूप में प्रविष्ट होते हैं, यानि सत्यलोक(वृक्षस्थल)आदि में महिषियों को स्थापित करके, उनके संग-प्रत्यंगों में योजित होते हैं, तब ही उनके समस्त देह-इन्द्रिय आदि में वासनारूप आध्यात्मिक बन्धन भी नष्ट ोता है(देह-इन्द्रियों को अपनी मानना आध्यात्मिक बन्धन कहलाता है); **नान्यथा** अर्थात् जब तक भगवान उक्त प्रकार से तिरोहित न हों, तब तक अन्य किसी भी प्रकार से उनके समस्त बन्धनों का नाश नहीं होता- यह अर्थ ै। यानि अपने मार्ग का सिद्धान्त यह है कि, विरह में अति ताप होने के द्वारा जब देह-इन्द्रियों का अनुसन्धान नहीं रहता, तब सर्वांश में देह-इन्द्रियों में रहने वाली वासनाओं की निवृत्ति होती है; और विरह के पश्चात् होने वाले संयोग में भी आध्यात्मिक अविद्या दूर हो चुकी होने के कारण फिर देह-इन्द्रिय आदि एवं अपनी आत्मा भी भगवान की बन जाने के कारण ही प्रिय लगती है, भगवान भी भगवान होने के कारण ही उसे प्रिय लगते हैं, अन्य किसी कामनापूर्ति के हेतु से नहीं। इस संपूर्ण प्रक्रिया द्वारा मुख्यनिरोध सिद्ध होता है; इस कारण विरह से पहले वाले संयोग में चूँकि आध्यात्मिक बन्धन विद्यमान था अतः उस संयोग को फलरूप नहीं कहा जा सकता था, किन्तु विरह का अनुभव कर लेने के पश्चात् आध्यात्मिक बन्धन दूर हो जाने के बाद होने वाले निरोध को ही मुख्यफल कहा जायेगा- यह भाव है।

त्र दृष्टान्तः वह्निवदिति । यथा वह्निर्मथनेन काष्ठाद्बहिर्भूतः सन् पुनः काष्ठे यदा प्रविशति तदा काष्ठांशं निवर्तयति थेत्यर्थः । एवं वाचिकतिरोभावे वचसोत्कटेन भावेन विरहानुभवः, ज्ञानेन संयोगानुभवः पुनरेवमिति पौर्वापर्येण ्लद्वयानुभव एव, नान्यावस्थेति प्रथमगुरौ साधनं फलं चाभिहितम् ।

इस पूरी प्रक्रिया को समझाने के लिए आचार्यचरणों ने **वह्निवत्** इत्यादि शब्दों से दृष्टान्त दिया है। आपश्री इससे यह बताना चाह रहे हैं कि, जिस प्रकार काष्ठ का घर्षण करने के द्वारा अग्नि काष्ठ में से बाहर प्रकट होकर जब पुनः काष्ठ में प्रवेश करती है, तब काष्ठ के अंश को दूर कर देती है और उसे अग्निरूप कर देती है, उस प्रकार से; यानि वाचिकतिरोभाव की प्रक्रिया करके भगवान ने अपनी वाणी के द्वारा आद्यमहिषी-रुक्मिणीजी में उत्कटभाव उत्पन्न

करा के उन्हें विरह का अनुभव करवाया; तत्पश्चात् भगवान उनसे प्रेम करते ही हैं, यह ज्ञान करवा कर उन्हें संयोगानुभव करवाया और इसी प्रकार विरह-संयोग की प्रक्रिया चलती रही; इस प्रकार एक के बाद एक उन्हें संयोग-विप्रयोग दोनों दलों का ही अनुभव हुआ, इसके अतिरिक्त उनकी अन्य कोई अवस्था नहीं हुई अर्थात् एक बार विरहानुभव हो जाने के पश्चात् रुक्मिणीजी रमात्मक संयोग-विप्रयोग वाली फलावस्था में ही बनी रहीं, उससे न्यून होकर पुनः साधनावस्था में नहीं गयीं। इस प्रकार से प्रथमगुरु आद्यमहिषी-रुक्मिणीजी ने जो साधन किए एवं उन्हें जो फलप्राप्ति हुई, उसके विषय में आचार्यचरणों ने बताया।

द्वितीयगुरौ कायिकतिरोभावे स्वरूपेणोत्कटेन भावेन विरहानुभवः, गुणैः संयोगानुभवः, संयोगेपि न विरहबाधः, विरहेपि न संयोगबाध इति सार्वदिकशबलितरसानुभवः, इति ।

अब द्वितीयगुरु गोपिकाओं के प्रति जब भगवान ने कायिकतिरोभाव किया तब भगवत्स्वरूप के तिरोहित हो जाने के कारण उनमें उत्कटभाव बढ़ा और उसके कारण उन्हें विरहानुभव हुआ, इसके पश्चात् जब विरहावस्था में उन्होंने भगवद्गुणगान किया, तब भगवद्गुनगान के माध्यम से उन्हें भगवान से संयोग का अनुभव हुआ, अतः इस प्रकार संयोगदशा में भी विरह बाधित नहीं हुआ एवं विरहदशा में भी संयोग बाधित नहीं हुआ, यों गोपिकाओं को सर्वदा संयोग-विप्रयोग के मिलेजुले रस का अनुभव होता रहा।

ततोपि विशिष्टं साधनं फलं चेत्यभिप्रेत्य पुनः पूर्वदलानुभवे साधनं दलस्वरूपं चाहुः गुणास्त्विति । पूर्वं गुरौ ज्ञानं सर्वांशेन विरहं बाधित्वा संयोगानुभावकमुक्तम्, न तथा गुणा अत्रेति तुशब्दः । किन्त्वेकांशेन विरहं बाधित्वा संयोगानुभावका इति । सङ्गराहित्याद्देहेन्द्रियादिभिर्यः सङ्गस्तद्राहित्यात्तत्तिरोभावाद्धेतोः स्वयमेव देहेन्द्रियादिरूपा भूत्वा फलानुभवाय जीवनसम्पादनार्थं साधनरूपा भवन्ति । न तु सर्वथा विरहबाधिका इत्यर्थः । विरहेणात्युपमर्दिना देहेन्द्रियादितिरोभावे भगवद्गुणा एव तद्रूपा भूत्वा तत्र स्थिता इति चतुर्थाध्याये निरूपितम् । अत एव पञ्चमाध्यायेपि गुणरूपा एव ता इति निरूपितम् । तथा च सङ्गमेपि विरहे इवात्युत्कटदिदृक्षासत्त्वेन न सर्वथा विरहबाधः । अत एव सङ्गमेपि 'दिदृक्षितदृशोभ्यगम'न्निति वाक्यम् । विरहेप्यान्तरमणान्न सर्वथा संयोगबाधः । अत एव 'वर्णयन्त्योभिरेमिरे', 'रेमिरेहस्सु तच्चिताः'। 'विशोका अहनी निन्यु'रित्यादिवाक्यनि । एवं शबलितरसानुभवः सर्वदा, न त्वेकतरबाधः । अत्र कदाचिद्दिदृक्षापूर्तिप्रलापादिभावा अपि जायन्ते । उद्धवोपदेशानन्तरभावे तु सर्वदैव तथेति तस्यात्यन्तिकत्वम् ।

किन्तु रुक्मिणी आदि महिषियों से भी विशिष्टसाधन गोपिकाओं ने किए थे एवं विशिष्टफलप्राप्ति भी गोपिकाओं को हुई- यह कहने के लिए आचार्यचरण फिर से पूर्वदल(संयोग) का अनुभव करने में गोपिकाओं ने क्या साधन किए एवं उस संयोग का स्वरूप क्या था, यह **गुणास्तु** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। गोपिकाओं मे पहले जिन आद्यमहिषी-गुरु रुक्मिणीजी की बात बतायी थी, उनके लिए तो भगवान को मुझसे प्रेम है इस प्रकारक ज्ञान को सर्वांश में विरह का बाधन करके उसे संयोग का अनुभव करवाने वाला ज्ञान बताया था; किन्तु गोपिकाओं के लिए कहे **गुणाः** के विषय में ऐसा नहीं है, यह **तु** शब्द से ज्ञात होता है, यानि ऊपर बताए ज्ञान से तो रुक्मिणी आदि महिषियों का विरह सर्वांश में दूर हो गया था, परन्तु इस भगवद्गुणगान द्वारा विरह सर्वांश में दूर नहीं होता अपितु कुछ अंश में रहता ही है, यह कहना चाह रहे हैं। यानि गुणगान संयोग का अनुभव तो कराता है परन्तु साथ ही साथ विप्रयोग का अनुसंधान भी बनाए रखता है। इसके द्वारा श्रीवल्लभचरणों को क्या सिद्ध करना है, यह आगे बता रहे हैं। किन्तु गुण(भगवद्गुणगान)तो किसी एक अंश में ही विरह को दूर करके गोपिकाओं को भगवत्संयोग का अनुभव कराने वाले बने। **संगराहित्यात्** यानि देह-इन्द्रियों द्वारा उन्हें जो भगवान का संग प्राप्त करना था, वह प्राप्त न होने के कारण एवं देह-इन्द्रियों में से भगवत्स्वरूप का तिरोधान हो जाने के कारण वे भगवद्गुण स्वयं ही उन गोपिकाओं के देह-इन्द्रियरूप बन कर उन्हें फल का अनुभव कराने के उद्देश्य से उनका जीवन टिकाने के लिए खुद ही उनके लिए साधनरूप बने। गुणों ने गोपिकाओं के विरह को सर्वथा दूर नहीं किया- यह अर्थ है। अति उपमर्दी भगवद्विरह के कारण जब गोपिकाओं को देह-इन्द्रियों का अनुसन्धान न रहा, तब भगवद्गुण ही उनकी देह-इन्द्रिय बनकर उनमें रहे और उनका जीवन टिकाया- यह रासपंचाध्यायी के चौथे अध्याय में कहा गया है। और इसी कारण पंचमाध्याय में गोपिकाओं को भगवद्गुणरूपा ही बताया गया है।

इस प्रकार भगवद्गुणगान के माध्यम से भगवान से संगम होने की अवस्था में भी उनमें विरहदशा के जैसी ही भगवान के दर्शन की उत्कट अभिलाषा बनी रही थी अतः उनका विरह सर्वथा दूर नहीं हुआ था। अतएव संगम में भी "भगवान का वेणुनाद सुनकर गोपिकाएँ अपने घरों से बाहर निकल आयीं। उन्हें तो न जाने कब से भगवान का विप्रयोग हो रहा था और उनकी आँखें श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिए तरस रही थीं। तब गोपिकाओं ने अपने नेत्ररूपी भँवरों से श्रीकृष्ण के मुखारविन्दरूपी मकरन्द का पान किया(श्री0भा-10/15/42)" इस प्रकार के वाक्य प्राप्त होते हैं। और विरहदशा में भी चूँकि भगवान गोपिकाओं के हृदय में अन्तररमण करते रहते हैं अतः संयोग भी सर्वथा बाधित नहीं हुआ। अतएव गोपिकाओं के विषय में "वर्णयन्त्यः(श्री0भा-10/21/6)", "रेमिरेहस्सु तच्चित्ताः(श्री0भा-10/35/26)", "विशोका अहनी निन्युः(श्री0भा-10/39/37)" इत्यादि वाक्य प्राप्त होते हैं। इस प्रकार से गोपिकाओं को संयोग-विप्रयोग का मिलाजुला अनुभव सर्वदा होता रहा, किसी एक में भी बाधा नहीं आयी। यद्यपि उपर्युक्त प्रसंगों तक तो गोपिकाओं को संयोग-विप्रयोग का मिलाजुला ही अनुभव होता रहा और कभी ऐसा भी समय आया कि उनमें अपने प्रभु को देखने की उत्कट इच्छा से प्रलाप करने जैसे भाव भी उत्पन्न हुए ; परन्तु उद्धवजी द्वारा उपदेश दिए जाने के पश्चात् तो वे सर्वदा पूर्णविप्रयोग में ही रहीं थीं, इसलिए यह बात समझ में आती है कि उद्धवजी के आगमन से पूर्व का जो विप्रयोग था, यह विप्रयोग अत्यन्तविप्रयोग यानि कि परिपक्वदशा वाला विप्रयोग नहीं था, जिस प्रकार के परिपक्व विप्रयोग की यहाँ आवश्यकता बतायी जा रही है। यह विप्रयोगभाव वही है जिसके लिए आगे चलकर आचार्यचरण कहेंगे कि ऐसे विप्रयोगभाव में तो स्वयं भगवान भी बाधा नहीं पहुँचाते।

ननु विरहभावस्य प्रबलत्वाद्गुणैर्बाधासम्भवेपि भगवान् स्वसङ्गेन तद्भावबाधकः स्यादित्याशङ्क्याहुः भगवानिति । भगवानुभयफलरूप इति स्वरूपतो नैकतरबाधक इष्यते, किन्तु वाक्यं स्वास्थ्यजनकं विरहभावनिवर्तकं 'मया परोक्षं भजता तिरोहित'मित्यादिरूपं वदति । तादृशं वाक्यं तु एताभिर्न कर्तव्यं न मन्तव्यं, 'स्वागतं व' इत्यादिवाक्यवत् । एतासां स्वरूपमात्रनिष्ठत्वाद्वाक्यैः पूर्वभावोपमर्दो न भवतीत्यर्थः ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, चूँकि विरहभाव तो प्रबल होता है अतः भगवद्गुण विरहभाव को दूर न भी कर पाएँ, तथापि, यदि भगवान स्वयं ही प्रकट होकर अपना संग देकर गोपिकाओं के भाव में बाधक बन जाएँ तो ? ऐसी शंका होने पर आचार्यचरण इसका समाधान **भगवान्** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि भगवान उभयतया फलरूप हैं यानि उनका स्वरूप संयोग-विप्रयोग दोनों प्रकार का है, दोनों प्रकार से फलदान करते हैं और दोनों प्रकार के भावों से ही उनका स्वरूप पूर्ण माना जाता है अतः भगवान अपने किसी भी एक स्वरूप में बाधक नहीं करते; किन्तु स्वास्थ्यजनकवाक्य यानि विरहभाव का निवर्तन करने वाले वाक्य उन्हें कहते हैं, जैसे कि उन्होंने "मया परोक्षं भजता(श्री0भा-10/32/21)" इस वाक्य द्वारा गोपिकाओं को कहे थे। किन्तु भगवान के वाक्य गोपिकाओं ने नहीं माने थे, जैसा कि उन्होंने "स्वागतं(श्री0भा-10/29/18)" के प्रसंगानुसार भगवान के कहे को भी अस्वीकार कर दिया था चूँकि गोपिकाएँ तो केवल भगवान के स्वरूप में ही निष्ठ थीं अतः भगवान के उपरोक्त वाक्यों से उनका भगवान के प्रति भाव नहीं दबा।

ननु दलयोरुभयोर्विरुद्धत्वादेकदैवोभयदलरूपो भगवान्मर्यादया विरुध्यत इत्यत आहुः दयालुरिति । भगवानेतासु दयालुरतो दयया शबलितपूर्णरसदित्सया मर्यादामप्यतिक्रम्य लीलां करोति । अतो न विरुध्यते, विरोधविषयो न भवतीत्यर्थः । ननु विरहभावात् पूर्वम'प्यात्मारामोप्यरीरम'दिति प्रकारकभावस्य जातत्वात्तदैव देहेन्द्रियादितिरोभावरूपः परित्यागः कुतो न सम्पन्न इत्यत आहुः दुर्लभ इति । अयं पूर्वोक्तः परित्यागो दुर्लभः, दुःखेन वियोगात्मकेन लभो लाभो यस्य तादृशः । तत्र हेतुः । प्रेम्णा भावनासिद्धेन रत्याख्येन सिध्यति, नान्यथा, प्रकारान्तरेण न सिध्यति तादृशप्रेमौत्कट्यं तु विरहात्मकदुःखे एव भवति । अतो दुर्लभत्वान्न वियोगात् पूर्वं तत्सिद्धिरित्यर्थः ।।७-१३$^{१}/_{२}$।।

किन्तु एक शंका यह होती है कि, संयोग-विप्रयोग दोनों दल एक दूसरे से विरुद्ध स्वभाव वाले हैं अतः दोनों दलरूपभगवान यदि एक ही समय में अनुभव में आएँ तो भगवान मर्यादा से विरुद्ध कार्य कर रहे हैं ! तो आचार्यचरण इस शंका का निराकरण **दयालुः** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। इससे आपश्री को यह बताना है कि भगवान इन गोपिकाओं के प्रति दयालु हैं अतः उन पर दया करके संयोग-विप्रयोग के मिलेजुले रस का दान करने की इच्छा से मर्यादा का भी उल्लंघन करके इस प्रकार से लीला करते हैं। अतः भगवान दोनों रसों का एक साथ

अनुभव कराने पर भी विरुद्धकार्य नहीं करते- यह अर्थ है। अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, गोपिकाओं को विरहभाव का अनुभव कराने से पहले ही जब भगवान ने *"आत्मारामोप्यरीरमत्(श्री0भा-10/29/42)"* इस वाक्यानुसार गोपिकाओं के संग रमण किया था, तब ही गोपिकाओं को देह-इन्द्रिय का तिरोभावरूप परित्याग संपन्न क्यों नहीं करवाया, यानि लघुराम के समय ही उन्हें अपनी देह-इन्द्रियों का अनुसन्धान न रहने वाला परित्याग क्यों सिद्ध नहीं करवाया ? तो आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण **दुर्लभः** इत्यादि शब्दों मे कर रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, ऐसा परित्याग सिद्ध हो पाना बड़ा दुर्लभ है, अर्थात् भगवद्वियोगात्मक दुःख होने पर ही प्राप्त हो सकता है, ऐसा है। दुर्लभ होने का कारण यह कि, **प्रेम्णा** यानि भगवद्भावना करने के द्वारा सिद्ध होने वाली भगवान के प्रति रति उत्पन्न होने से ही सिद्ध हो सकता है **नान्यथा** अर्थात् इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि भगवान के प्रति उत्कटप्रेम तो विरहात्मकदुःख होने पर ही होता है। अतः ऐसा दुर्लभ होने के कारण भगवान से वियोग हुए बिना ऐसा परित्याग सिद्ध नहीं हो सकता- यह अर्थ है॥ 1-13$^{1}/_{2}$॥

ज्ञानमार्गीयं निरूपयन्ति ज्ञानमार्गे त्विति ।।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ।।१४।।
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ।।१५।।
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ।।१६।।
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितिः ।।१६$^{1}/_{2}$।।

भक्तिमार्गीयोस्माभिर्विचारितः, ज्ञानमार्गीयस्तु प्रमाणगम्यत्वात् तैर्विचारित एव । अस्माभिस्त्वनूद्यते, परप्रीतिविभेदज्ञापनाय तुशब्दः । विविदिषाविद्वद्भेदेन द्विविधोपि प्रमाणैर्विचारितः । साधनमपि विचारितमित्याहुः ज्ञानार्थमिति । भक्तिमार्गीयेण त्यागेन विरहानुभवार्थं साधनत्वेन भावः पूर्वमुक्तः । ज्ञानमार्गीयेण 'यदहरेव विरजे'दिति प्रकारेण त्यागेन आत्मापरोक्षरूपज्ञानार्थं साधनत्वेन उत्तरं मुख्यमङ्गं श्रवणं, तदपि विचारित'मात्मा वारे द्रष्टव्य' इति वाक्यादित्यर्थः । पूर्वस्मादेतस्य वैलक्षण्यमाहुः सिद्धिरिति । परमत्र जन्मशतैरनेकजन्मभिः सिद्धिर्भवति, तत्र तु न विलम्बः, 'बहूनां जन्मनामन्ते' इति वाक्यादिति भावः ।

अब अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण ज्ञानमार्गीयपरित्याग का निरूपण **ज्ञानमार्गे तु** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

इससे आपश्री को यह कहना है कि- हमने तो भक्तिमार्गीयपरित्याग के विषय में विचार किया है और चूँकि ज्ञानमार्गीयपरित्याग तो प्रमाणों द्वारा जाना जाता है अतः ज्ञानमार्गियों ने तो उसका विचार किया ही है। हमने तो यहाँ केवल उसका सारांश बता दिया है, और हमारी उसमें कोई विशेष प्रीति भी नहीं है- यह बताने के लिए आपश्री ने **तु** शब्द का प्रयोग किया है। आपश्री का तात्पर्य यह कि 'विविदिषा' एवं 'विद्वत्' के भेद से दोनों प्रकार के संन्यास के प्रमाणवाक्यों द्वारा ज्ञानमार्ग में विचार किया गया है। इनके साधन का भी विचार किया गया है, जिसे आपश्री **ज्ञानार्थं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। भक्तिमार्गीय के लिए त्याग द्वारा विरहानुभव करने के लिए साधन के रूप में 'भाव' को आचार्यचरण पूर्व में बता चुके हैं। अब ज्ञानमार्गीय के लिए यानि "जिस क्षण वैराग्य हो जाय, उसी दिन परित्याग कर देना चाहिए" इस प्रकार के त्याग के अनुसार अपनी आत्मा से साक्षात्कार करने के लिए साधन के रूप में **"उत्तरांग"** यानि "मुख्य अंग" श्रवण को बताया गया है; और श्रवण के बारे में भी *"आत्मा वा रे द्रष्टव्यः(छान्दो-2/4/5)"* इस वाक्य द्वारा संपूर्ण विचार किया जा चुका है। ज्ञानमार्गीयपरित्याग की तुलना में भक्तिमार्गीयत्याग की विलक्षणता बताने के लिए आपश्री **सिद्धिः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री आज्ञा करते हैं- किन्तु ज्ञानमार्गीयपरित्याग में अनेक सैंकड़ों जन्मों के बाद सिद्धि प्राप्त होती है, परन्तु, यहाँ भक्तिमार्गीयपरित्याग में विलम्ब नहीं होता, जैसा कि *"बहुत जन्मों के पश्चात् अन्त में ज्ञानीपुरुष मेरी शरण आता है। ऐसा महात्मा मिलना तो बड़ा दुर्लभ है(भ0गी- 7/19)"* इस वाक्य द्वारा कहा भी गया है कि, ज्ञानमार्ग में विलम्ब से फलप्राप्त होता है- यह भाव है।

नन्वायुर्भागप्रकारेण कृते कर्ममार्गीयेपि संन्यासे तुरीयाश्रमे ज्ञानमेवाभिहितम् । अतो विशेषाभावात् कर्ममार्गीयोपि कुतो न कर्तव्य इत्याशङ्क्य मार्गद्वयीयज्ञानयोर्भेदार्थं कर्ममार्गीयज्ञानस्वरूपमाहुः ज्ञानं चेति । ज्ञानमार्गे पञ्चाग्निप्रकारेणाधिकारिदेहस्य सिद्धत्वाज्ज्ञानमस्मिञ्जन्मनि साधनानपेक्षम्, श्रवणरूपं तु साधनं फलनान्तरीयकत्वात् फलाङ्गमेव, अत एवोत्तराङ्गमित्युक्तम् ।

अब यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, कर्ममार्ग में जो 'आयु के चार भाग करके चौथे भाग में संन्यास लेना चाहिए' इस प्रकारक विधान प्राप्त होता है, वह अंततोगत्वा ज्ञानप्राप्त करने के लिए ही तो है अतः इस दृष्टिकोण से कर्ममार्ग एवं ज्ञानमार्ग में कोई विशेष अंतर सिद्ध नहीं हुआ, इसलिए क्यों न कर्ममार्गीयसंन्यास ही ले लिया जाय !! यदि ऐसी शंका होती हो, **तो आचार्यचरण दोनों मार्गों में जिस प्रकार का ज्ञान बताया गया है, उन दोनों प्रकार के ज्ञान का भेद बताने के लिए कर्ममार्गीयज्ञान का स्वरूप 'ज्ञानं च' इत्यादि शब्दों से कह रहे** हैं। आगे बढ़ने से पहले श्रीवल्लभचरणों का इस संदर्भ का पक्ष समझना आवश्यक है। श्रीवल्लभचरणों ने पश्चात्ताप होने की बात केवल कर्ममार्गीयपरित्याग करने में कही है। श्रीवल्लभचरणों का पक्ष यह है कि, यदि कर्ममार्ग में ज्ञान सिद्ध करने के उद्देश्य से परित्याग करेंगे, तो फलसिद्धि नहीं होगी और पश्चात्ताप हाथ लगना है। श्रीवल्लभचरणों के अनुसार ज्ञानमार्गियों को परित्याग करने पर पश्चात्ताप नहीं होता। जहाँ तक ज्ञानमार्ग की बात है तो, चूँकि ज्ञानमार्ग में पञ्चाग्निप्रकार से मोक्ष की अधिकारी देह की प्राप्ति होती है, देखें छान्दोग्योपनिषद्-पाँचवां अध्याय-चतुर्थ से लेकर नवम खण्ड तक, जहाँ बताया गया है कि पाँच प्रकार की अग्नियाँ कौन-कौन सी हैं और उनसे जीव की उत्पत्ति किस प्रकार से होती है, इसलिए ज्ञान इस जन्म में साधनों की अपेक्षा नहीं रखता; यानि ज्ञानमार्ग में जीव को मुक्ति प्राप्त करने के लिए साधन नहीं करने पड़ते। किन्तु इसमें यदि कोई ये प्रश्न करे कि, ज्ञानमार्ग में श्रवणरूप साधन तो करने ही पड़ते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि चूँकि ज्ञानमार्ग में श्रवणरूप साधन को फलरूप ही माना गया है अतः ज्ञानमार्ग में श्रवण साधन न होकर फल का अंगभूत ही है। ज्ञानमार्ग में चार महावाक्य उपलब्ध होते हैं- तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह, प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि। इनके अतिरिक्त अन्य भी जितने भी आत्मा का स्वरूप समझने के लिए वाक्य उपलब्ध होते हैं, उन सभी का निरन्तर श्रवण करने से आत्मा के स्वरूप का ही तो ज्ञान होता है, जो कि ज्ञानमार्ग का अंतिमफल है और ज्ञानी का लक्ष्य भी यही है और इन्हीं वाक्यों का श्रवण करने से उसे आत्मतत्व का अनुभव भी होता है, अतः ज्ञानमार्ग में इस प्रकारक श्रवण को साधन न मानकर फलरूप ही माना गया है- यह अर्थ है। इसलिए आचार्यचरणों ने ज्ञानमार्गीयश्रवण को **उत्तरांग**/मुख्य शब्द से कहा है।

कर्ममार्गीयं तु ज्ञानमस्मिन्नपि जन्मनि साधनापेक्षम्, गार्हस्थ्ये यज्ञादयः कर्तव्या इति श्रवणाद्धेतोर्मतं सम्मतमित्यर्थः । वस्त्वर्थे, पूर्वज्ञानव्यवच्छेदाय । अतः साधनाधीनत्वात् साधनानां कलौ देशादिदोषेणासिद्धत्वाच्चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञानानुदयान्मया वृथैव परित्यागः कृत इत्याकारकपश्चात्तापाय स कर्ममार्गीयः संन्यासो भवेत् । नान्यथेति । ज्ञानभक्तिप्रकारकस्तु साधनानपेक्षत्वात्तथा न भवेदित्यर्थः । न केवलं पश्चात्तापमात्रं किन्तु दोषसम्बन्धोपि भवेदित्याहुः पाषण्डित्वमिति । चित्तचाञ्चल्याद्धेदविरुद्धकार्यकर्तृत्वमपि भवेत् । कदाचिद्दोषाभावेपि पाक्षिकदोषसम्भावनाया विद्यमानत्वात् फलसिद्ध्यभावाच्च न कर्तव्य इति चकारः । पूर्वोक्तपश्चात्तापसमुच्चयार्थमपिशब्दः । तस्माद्धेतोर्ज्ञाने साधनापेक्षज्ञानसिद्ध्यर्थं न संन्यसेत्, संन्यासं न कुर्यादित्यर्थः ।

केन्तु कर्ममार्गान्तरीय ज्ञान तो इस जन्म में भी साधनों की अपेक्षा रखता है, यानि साधन करने के द्वारा ही प्राप्त होता है, इसी कारण कर्ममार्ग में गृहस्थाश्रम में यज्ञ आदि करने चाहिए यह सुना गया है, जिसके कारण आपश्री कर्ममार्गीयज्ञान के लिए **यज्ञादिश्रवणान्मतम्** यों कह रहे हैं। **ज्ञानं च** के अन्तर्गत आया **च** शब्द यहाँ **तु** के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, यानि इससे यह ज्ञात होता है कि यहाँ कहे गए 'ज्ञान' शब्द से आचार्यचरणों का तात्पर्य कर्ममार्गीय यज्ञसम्बन्धी ज्ञान है, ज्ञानमार्गीय वाला ज्ञान नहीं। अतः चूँकि कर्ममार्गीयसंन्यास साधनों के अधीन होता है और साधन तो कलिकाल में देश-काल-द्रव्य इत्यादि के दोषों के कारण सिद्ध नहीं हो पाते और इस कारण चित्तशुद्धि नहीं हो पाती, और जब उसे इन सभी बातों का ज्ञान होता है, तब "मैंने व्यर्थ ही परित्याग किया" इस प्रकार का पश्चात्ताप कर्ममार्गीयसंन्यास में होता है। **नान्यथा** का अर्थ है- ज्ञानमार्ग एवं

भक्तिमार्ग में ऐसा पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता क्योंकि इन दोनों में साधनों की अपेक्षा नहीं रहती- यह अर्थ है। आपश्री आज्ञा करते हैं- कर्ममार्गीयसंन्यास में न केवल पश्चात्ताप ही करना पड़ता है, परन्तु दोषसम्बन्ध भी होता है, जिसे आपश्री **पाषण्डित्वं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **पाषण्डित्वं** का अर्थ है- वह चित्त की चंचलता के कारण वेदविरुद्ध कार्य भी कर बैठता है, कदाचित् दोष न रहें, तथापि, आंशिकदोष की तो सम्भावना रहती ही है और फलसिद्धि भी नहीं होती अतः कर्ममार्गीयपरित्याग नहीं करना चाहिए- यह आचार्यचरणों के **च** शब्द द्वारा समझना चाहिए। **अपि** शब्द से यह ज्ञात होता है कि, वह पाखण्डी तो बनेगा ही, साथ ही साथ पूर्व में कहा पश्चात्ताप **भी** उसको होगा। इसलिए साधनापेक्षज्ञान सिद्ध करने के लिए(जिस ज्ञान को सिद्ध करने के लिए साधनों की आवश्यकता पड़ती हो, ऐसे ज्ञान को सिद्ध करने के लिए)कर्ममार्गीयसंन्यास नहीं लेना चाहिए- यह अर्थ है।

ननु कालदोषा इव कर्मापि प्रमाणसिद्धमतः कालेन कथं कर्मबाध इत्यत आहुः सुतरामिति । कलिदोषाणां सुतरां कर्मापेक्षयापि प्रबलत्वात् । काले कर्मविधाने कर्मणः कालाधीनत्वात् कालस्य कर्मापेक्षया प्रबलत्वम् । 'रश्म्यनुसारी'त्यारभ्य 'योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैत' इति सूत्रेण कर्मणि कालबाधस्य व्यवस्थापित्वादिति स्थितिरित्युक्तम् ।।१४-१६$^{1}/_{2}$।।

अब प्रश्न यह होता है कि, जिस प्रकार कालदोष प्रसिद्ध है, उसी प्रकार कर्म भी प्रमाणसिद्ध है, तो फिर ऐसे प्रबलकर्म को काल किस प्रकार से बाधा उत्पन्न कर सकता है ? तो आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण **सुतरां** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इससे आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, कलिकाल के दोषों का प्रभाव तो कर्मों से भी अधिक प्रबल है अतः वे कर्मों में बाधक होते हैं। क्योंकि काल में कर्म करने का विधान किया गया है अतः इस दृष्टि से कर्म काल के अधीन होते हैं, इसलिए काल कर्मों की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है। और *"रश्म्यनुसारी(ब्रह्मसूत्र-4/2/18)"* से आरंभ करके *"योगिनः प्रति च(ब्रह्मसूत्र-4/2/21)"* इस सूत्र के द्वारा कर्मों में काल की बाधा होनी बता दी गयी है, अतः उस दृष्टिकोण से आपश्री ने **कलिदोषाणां प्रबलत्वात् इति स्थितिः** यों कहा है॥ 14-16$^{1}/_{2}$॥

ननु तत्र तु ज्ञान एव कालानपेक्षोक्ता । अतः कर्मणीव भक्तावपि कालबाधः प्राप्त इत्याशङ्क्य तत्समाधानमाहुः भक्तिमार्गेपीति ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ।।१७।।
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ।।१८।।
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ।।१९।।
ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ।।२०।।
तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ।।२१।।

किं कार्यं, भक्तिमार्गेणैव स्थेयं, तं मार्गं परित्यज्य ज्ञानमार्गो वा आश्रयणीय इत्याशङ्कायां समाधानमुच्यते । व्यासस्य ज्ञानावतारत्वेन ज्ञानरूपत्वात्तन्मार्गसमाधानं व्यासैरुक्तम् । अस्माकमास्यत्वेन भक्तिरूपत्वाद्भक्तिमार्गसमाधानमस्माभिरुच्यते इत्यर्थः । तत्र ज्ञानमार्गे फलदशायामेव बाधाभाव उक्तः । अत्र तु साधनदशायां फलदशायां च तथेति ततोपि वैशिष्ट्यबोधनार्थं पूर्वं साधनदशायां बाधाभावमाहुः अत्रेति। आरम्भे साधनदशायामित्यर्थः ।

किन्तु ऊपर कहे सूत्र में यह बताया गया है कि, केवल ज्ञानी को ही काल बन्धन नहीं कर सकता, अतः कर्ममार्ग की भाँति भक्तिमार्ग में भी कालकृत बाधा अवश्य आयेगी !! यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण उसका समाधान **भक्तिमार्गेपि** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं।

पहली पंक्ति **भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यं** का अर्थ है- यदि भक्तिमार्ग में भी दोष होने की सम्भावना लगती हो, तो क्या करें ? भक्तिमार्गानुसार ही रहें या फिर भक्तिमार्ग का परित्याग करके ज्ञानमार्ग का ही आश्रय ले लें !! इस शंका

का आचार्यचरण समाधान कर रहे हैं। आपश्री **उच्यते** शब्द से यह कहना चाह रहे हैं कि, व्यासजी चूँकि भगवान के ज्ञानावतार थे अतः ज्ञानरूप होने के कारण उन्होंने ज्ञानमार्गीय समाधान बताया है। जबकि हम तो भगवान के मुखारविन्दस्वरूप होने के कारण भक्तिरूप हैं, अतः हम भक्तिमार्गीय समाधान कह रहे हैं- यह अर्थ है। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, ज्ञानमार्ग में तो यह बताया गया है कि, फलदशा में पहुँच जाने के बाद ही ज्ञानी को किसी भी प्रकार की बाधा नहीं होती। किन्तु यहाँ भक्तिमार्ग में तो साधनादशा और फलदशा दोनों ही अवस्थाओं में भक्त को किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती- इस प्रकार से ज्ञानमार्ग से भी अधिक भक्तिमार्ग की विशिष्टता बताने के लिए आपश्री सबसे पहले **अत्र** इत्यादि शब्दों से भक्ति की साधनदशा में भी बाधा किस प्रकार से नहीं होती, यह बता रहे हैं। **आरम्भे** शब्द से आपश्री का तात्पर्य है- भक्ति की साधनदशा में।

बाधो हि स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेति । तत्र प्रथमं स्वरूपतस्तदभावमाहुः न नाशः स्यादिति । भगवतः सर्वतः प्रबलस्य रक्षकत्वान्न भवत्येवेति स्यादिति विधिरुक्तः । फलतस्तदभावमाहुः दृष्टान्तस्येति । कालदृष्टो यः अन्तः फलं तस्याभावात् । स्वदृष्टमेव हि फलं कालेन नाश्यते, इदं तु फलं कालातीतम्, अतः कथं फलनाशद्वारा श्रवणादिसाधननाशः कालेन कर्तुं शक्येतेत्यर्थः । साधनतस्तदभावमाहुः स्वास्थ्येति । कालकृतनाशस्य विवक्षितत्वात् स्वं कालस्तत्स्थत्वं श्रवणादीनां नाश इति यावत् । सर्वमेव नष्टं सत् कालस्थं भवति । तादृशनाशस्य हेतुर्विषयादिः । विषयोपाधिकमेव श्रवणादिकं नाशप्रतियोगि भवति, न तु भगवदीयम् स्वास्थ्यस्य नाशस्य हेतोर्विषयादेः परित्यागात् स्थितस्य च भगवति समर्पणादित्यर्थः । भगवदीयो विषयस्तु स्थितोपि कालेन नाशयितुमशक्य इति साधनतोपि नाशाभाव उक्तः । अतः प्रकारत्रयस्याप्यभावादस्य साधनभूतश्रवणादेः कालकृतो बाधः केन प्रकारेण सम्भवेदित्यर्थः । फलस्य तु बाधः सम्भावयितुमपि न शक्य इति तत्र कैमुत्यमाहुः हरिरत्रेति । दुःखहर्तृत्वेन सर्वात्मना विरहं बाधितुमुचितोपि तद्भावस्यापि भगवद्रूपत्वेन प्रबलत्वात्तद्बाधां कर्तुं न शक्नोतीत्युक्तम् । अपरे कालादयः कुतो हेतोः करिष्यन्ति,

बाधा तीन प्रकार की होती है- स्वरूप के दृष्टिकोण से, फल के दृष्टिकोण से और साधन के दृष्टिकोण से। इनमें से सबसे पहले आपश्री स्वरूप की दृष्टि से भक्तिमार्ग में बाधा न आनी **न नाशः स्यात्** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। चूँकि भगवान का स्वरूप ऐसा है कि भगवान चहुँओर से प्रबल हैं और अपने भक्त की रक्षा करते हैं अतः उसे काल की बाधा नहीं ही होगी- इस भाव को बताने के लिए आपश्री ने **न स्यात्** यों कहकर कालबाधा न होने का विधान कर दिया है। अब फल के दृष्टिकोण से भी उसे बाधा नहीं आयेगी, यह आप **दृष्टान्तस्य** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ 'दृष्टान्तस्य' का अर्थ है- देखा है समस्त पदार्थों का अन्त जिसने, वह है 'काल', यानि 'दृष्टान्त' शब्द का अर्थ हुआ 'काल'। यानि इससे आचार्यचरणों को यह कहना है कि भक्तिमार्गीयफल दृष्टान्त/काल के द्वारा भी नष्ट नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि, जिस फल को हमने अपने नेत्रों से स्वयं देखा है, वही फल काल द्वारा नष्ट हो सकता है, किन्तु भक्तिमार्ग में प्राप्त होने वाला फल तो काल से भी ऊपर है यानि काल के भी वश में नहीं है अतः जब भक्तिमार्गीयफल काल के अधीन ही नहीं है, तो फिर काल कैसे किस प्रकार से फलनाश करके किए गए श्रवणकीर्तन आदि साधनों का नाश कर सकता है ! यह अर्थ है। अब साधन की दृष्टि से भी उसे बाधा नहीं आयेगी- यह आपश्री **स्वास्थ्यहेतोः परित्यागात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ श्रीवल्लभचरणों ने 'स्वास्थ्य' पद का अर्थ भी 'नाश' किया है। चूँकि श्रीवल्लभचरणों ने ऊपर 'दृष्टान्त' शब्द का अर्थ 'काल' किया है और अभी प्रसंग भी काल का ही चल रहा है अतः इनके अनुसार जो पदार्थ नष्ट होता है, वह काल के गाल में ही तो समाता है अर्थात् कालस्थ होता है, इस दृष्टिकोण से टीकाकार के 'स्वास्थ्य(काल ने अपने में समाया हुआ है जिसको, अर्थात् 'नाश')' का अर्थ नाश किया है। किस प्रकार से, यह वे आगे बता रहे हैं। यहाँ चूँकि प्रसंग तो यही चल रहा है कि, क्या काल भक्तिमार्गीयफल का नाश कर सकता है ? अतः प्रसंगानुसार 'स्व' शब्द का अर्थ है- काल'; 'स्थ' का अर्थ है- स्थित; एवं पूरे 'स्वस्थ' शब्द का अर्थ है- "काल में स्थित"। चूँकि सभी पदार्थ काल में ही स्थित हैं एवं काल अपने आप में सभी का नाश होता भी देखता है, अतः 'स्वास्थ्य' पद का अर्थ हुआ- कालस्थित नाश। यानि हर पदार्थ नष्ट होकर काल के गाल में ही समाता है। इस प्रकार से नाश होने का कारण सांसारिकविषय आदि हैं। तात्पर्य यह कि सांसारिकविषयो से सम्बन्धित श्रवणकीर्तन आदि का ही काल नाश कर

सकता है, भगवत्सम्बन्धी श्रवणादि का काल नाश नहीं कर सकता। क्योंकि भगवदीय ने तो स्वास्थ्य/नाश के हेतु सांसारिकविषयों का पहले ही परित्याग कर दिया होता है, और जो विषय अब उसके सामने आ रहे हैं, उन विषयों को वह भगवान को समर्पित कर देता है। और समर्पण द्वारा विषय भगवदीय बन जाने के पश्चात् तो भले ही विषय बने रहें, तथापि भगवत्सम्बन्धी विषयों का काल नाश नहीं कर सकता- यह अर्थ है; इस प्रकार साधन के दृष्टिकोण से भी आचार्यचरणों ने भगवदीय का नाश न होना बता दिया है। अतः तीनों ही दृष्टिकोणों से बाधा न होती होने के कारण अब इसके साधनभूत श्रवणादि को कालकृत बाधा होनी किस प्रकार से संभव है, यह बताएँ !! किसी भी प्रकार से नहीं- यह अर्थ है। जब साधनों में ही बाधा आनी संभव नहीं है, फिर फलप्राप्ति में बाधा आने की तो संभावना भी नहीं की जा सकती- यों कैमुतिकन्याय द्वारा अपनी बात कहने के लिए आचार्यचरण **हरिरत्र** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यद्यपि भगवान हरि हैं यानि इसके अनुसार भक्त के दुःख का हरण करके सभी प्रकार से उसका विरह दूर करना उनके लिए उचित भी है, तथापि, यह विरहभाव स्वयं भी भगवद्रूप होने के कारण प्रबल ही है अतः स्वयं हरि भी इसमें बाधा खड़ी नहीं कर सकते; फिर दूसरे यानि काल इत्यादि तो क्यों और किस कारण बाधा करेंगे- यह अर्थ है।

एकांशेनापि बाधहेतुभूतयोर्ज्ञानगुणयोरपि कालाद्यतीतत्वात् कुतो हेतोरित्युक्तम् । भगवान् संयोगं पुनरनुभावयितुं तं भावमेकांशेन ज्ञानगुणाभ्यां बाधयति, सर्वांशेन तु बाधनेऽशक्तः । कालादयस्तु बाधहेतोः संयोगरूपफलस्य ज्ञानगुणरूपस्य साधनस्य च स्वागम्यत्वात् कुतो हेतोरेकांशेनापि बाधितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः ।

यदि विरहभाव में बाधा खड़ी कर सकते हैं, तो कुछ अंश में बाधा कर सकने वाले दो हेतुभूत 'भगवज्ज्ञान" और 'भगवद्गुण' ही बाधा कर सकते हैं, किन्तु 'भगवज्ज्ञान" और 'भगवद्गुण' तो काल से ऊपर की कक्षा में बैठे हुए हैं अतः जब ये दो भी कुछ अंश में ही बाधा कर पाते हैं, तो फिर इनसे नीची कक्षा में बैठा काल कहाँ से बाधा कर पायेगा- यह अर्थ है। इसलिए आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि, अब कौन सा हेतु बचा कि जिसके द्वारा उसे बाधा आयेगी। चलो, भगवान उसे एक बार फिर से संयोगसुख देने के लिए उसके विरहभाव में 'ज्ञान' एवं 'गुण' द्वारा कुछ अंश में बाधा करें भी, तथापि, सर्वांश में बाधा तो वे भी नहीं कर सकते। और, कुछ अंश में ही सही परन्तु (1)संयोगसुख, (2)ज्ञानगुणरूप साधन आदि विप्रयोगभाव में बाधा खड़ी कर सकते हैं, तथापि काल आदि की पहुँच इनसे ऊपर नहीं है अतः जब ये ही कुछ अंश में ही बाधा कर पाते हैं, तो इनसे नीचे की कोटि में बैठा हुआ काल तो कैसे बाधा कर पायेगा- यह अर्थ है।

एवं भगवतोऽशक्तौ स्वरूपमेव हेतुरिति दृष्टान्तेन बोधयन्ति अन्यथेति । भगवतो बाधकत्वे मातरो न पुपुषुरित्यपि स्यात् । तथा च यथा मातृस्वरूपस्यैव तथात्वान्मातरो बालान् स्तनैर्न पुपुषुरित्यसम्भावितम् तथा भगवत्स्वरूपस्यैव तथात्वाद्भगवता सर्वांशेन भावबाधनमप्यसम्भावितमिति बिम्बप्रतिबिम्बभावसिद्ध्या दृष्टान्तालङ्कारसिद्धिः ।

इस प्रकार से भगवान की जो बाधा उत्पन्न करने में असमर्थता बतायी गयी, उसमें कारण तो उनका मूलभूत स्वरूप ही है- इस बात को आचार्यचरण एक दृष्टान्त को **अन्यथा** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि, यदि भगवान ही बाधक बनते हों, तो फिर यह भी कहना पड़ेगा कि, फिर माताएँ भी अपने बालकों का पालन नहीं करतीं। इसका अर्थ यह है कि माताओं का स्वरूप अपने बालकों का पोषण करना ही होता है। जिस प्रकार माताओं का अपने बालकों का स्तनपान द्वारा उनका पोषण न करना असम्भव बात है, ठीक उसी प्रकार भगवान का भी स्वरूप अपने भक्तों की रक्षा करना ही है अतः भगवान का भी सर्वांश में अपने भक्त के भाव में बाधारूप होना असम्भव बात है; यों इस प्रकार से आचार्यचरणों ने बिम्बप्रतिबिम्बभाव बता कर माता के दृष्टान्त द्वारा भगवान के उपर्युक्त स्वरूप को सिद्ध कर दिया है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार दर्पण में दिखाई देने वाला प्रतिबिम्ब ठीक बिम्ब के जैसा ही होता है, उसी प्रकार भगवान भी जीव के भाव और प्रेम के अनुसार ही कार्य करते हैं, उससे विपरीत नहीं करते- यह बात आचार्यचरणों ने माता का दृष्टान्त देकर सिद्ध की है- यह अर्थ है।

ननु 'तर्हि भवतीनां वियोगो मे न ही'त्यादीना कथं विरहाभावबोधनमित्यत आहुः ज्ञानिनामपीति । ज्ञानिनां ज्ञानमिश्रभक्तिमार्गीयाणामपि सम्बन्धिना तादृशवाक्येन भक्तं ज्ञानांशरहितं शुद्धभक्तं न मोहयिष्यति,

पूर्वसिद्धविरहानुभवरहितं न करिष्यति । ज्ञानमिश्रभक्तिमार्गीयाणामेव तादृशैर्वाक्यैर्विरहबाधो भवति । एतासां तैर्वाक्यैः प्रत्युत स भाव उत्कटो जातः । एतच्च विवृतं तत्रैव ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, अपने भक्त को फलदशा तक पहुँचाने के लिए यदि भगवान उसके विरहभाव को बनाए रखते हैं और उसे दूर नहीं करते, तो फिर भगवान ने उद्धवजी द्वारा "मैं सबका उपादान कारण होने के कारण सबकी आत्मा हूँ, सबमें अनुगत हूँ, इसलिए मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता(श्री0भा- 10/47/29)" इस श्लोक द्वारा गोपियों को यह क्यों कहलवाया कि, उनका गोपियों से कभी विरह था ही नहीं ! और साथ ही साथ इस प्रकार उनका विरह शांत करने का प्रयत्न क्यों किया !! यदि ऐसी शंका होती हो तो, आचार्यचरण **ज्ञानिनामपि** इत्यादि शब्दों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। **ज्ञानिनां** यानि ज्ञानमिश्रभक्तिमार्गीयों के वाक्यों के द्वारा भी भगवान अपने **भक्तं** यानि ज्ञानांशरहित शुद्धभक्त को मोहित/भ्रमित नहीं करेंगे, यानि कि ज्ञानी के वाक्यों से प्रभावित होकर उसका पूर्व में सिद्ध हो चुका विरहानुभव नष्ट नहीं हो सकता, वो भाव बना रहेगा। हाँ, ज्ञानमिश्रित भक्तिमार्गीयों को ही उपर्युक्त वाक्यों द्वारा उनके विरहभाव में बाधा उत्पन्न होती है। गोपिकाओं का तो उद्धवजी के ऐसे वाक्यों से उल्टे भाव और अधिक उत्कट हो गया था। यह सब बातें इसी श्लोक की टीकाओं में विस्तार से बतायी गयीं हैं।

ननु ज्ञानिन इव भक्तमपि कुतो न मोहयति, अशक्तावपि तुल्यबलत्वादधिकप्रयासेन तत्सम्भवादित्याशङ्य तत्र प्रयोजनाभावं हेतुत्वेनाहुः आत्मप्रद इति । ज्ञानमिश्राणां विरहे विप्रयोगरसात्मकस्य स्वरूपस्य न प्राकट्यम्, अत आत्मनः स्वरूपभूतस्यानन्दस्य दानार्थं पूर्वभावं बाधयति । सुखदातृत्वेनैव च प्रियः, अतो दुःखाबाधे प्रियोपि न स्याद्, अतः पूर्वं बाधयतीत्यात्मदाने प्रीतिरूपप्रयोजनद्वयं भगवन्निष्ठं भक्तनिष्ठं च निरूपितम् ।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, जैसे भगवान ज्ञानियों को मोहित/भ्रमित कर देते हैं, वैसे भगवान भक्त को भी मोहित/भ्रमित क्यों नहीं करते ? भले ही अब ऐसी उच्चदशा में पहुँचकर भक्त भगवान के समान ही सामर्थ्यशाली हो गया हो और वे उसे मोहित/भ्रमित करने में अशक्त भी होते हों, तथापि, यदि भगवान थोड़ा अधिक प्रयास करें, तो भक्त को मोहित/भ्रमित करना उनके लिए संभव बन भी सकता है ! यदि कोई इस प्रकार से शंका करता हो, तो आचार्यचरण **आत्मप्रदः** इत्यादि शब्दों से इसका यह हेतु बता रहे हैं कि ऐसा करने में भगवान का कोई प्रयोजन ही सिद्ध नहीं होता। यहाँ समझने वाली बात यह है कि, ज्ञानमिश्रभक्तों के लिए तो भगवान विरह में अपने विप्रयोगरसात्मकस्वरूप को प्रकट ही नहीं करते, अतः ज्ञानमिश्रभक्तों के लिए तो भगवान अपनी आत्मा यानि कि स्वरूपात्मक आनन्द का दान करने के लिए उनके पूर्वभाव यानि विरहभाव को बाधित कर देते हैं यानि कि उनके विरह को दूर कर देते हैं। क्योंकि ज्ञानमिश्रितभक्तों के लिए तो भगवान उन्हें सुख दें, तभी प्रिय लगते हैं, अतः यदि वे उनके दुःख/विरह को दूर न करें, तो उनके लिए प्रिय भी नहीं बनेंगे; अतः भगवान पहले उनके विरह/दुःख को बाधित/हटाते हैं। इस प्रकार से यहाँ आत्मस्वरूप का दान करने वाली बात के अंतर्गत (1) भगवान में भक्त के प्रति रहने वाली प्रीति एवं (2) भक्त में भगवान के प्रति रहने वाली प्रीति यह दो प्रयोजन निरूपित कर दिए गए। तात्पर्य यह कि भगवान अपने आत्मस्वरूप का दान करें, इसमें दो प्रयोजन हैं- एक भगवान की भक्त के प्रति प्रीति; एवं दूसरा भक्ति की भगवान के प्रति रहने वाली प्रीति। इन दो प्रयोजनों से भगवान अपने आत्मस्वरूप का दान करते हैं। किन्तु ये व्यवस्था मुख्य भक्तों के लिए नहीं है, यह ध्यान रखना चाहिए क्योंकि मुख्यभक्तों के लिए तो भगवान अपना विरहस्वरूप प्रकट करते है, उन्हे विप्रयोग द्वारा परिपक्व बनाते हैं और तब मुख्यफलदान करते हैं। जबकि ऊपर कही व्यवस्था ज्ञानमिश्रितभक्तों के लिए है अब उन दो प्रयोजनों का अर्थ क्या है जिसके कारण भगवान उन्हें अपने आत्मस्वरूप का दान करते हैं, यह समझें पहले प्रयोजन का अर्थ तो साफ़ है कि, चूँकि भगवान को अपने भक्तों से सहज प्रीति है अतः वे उनके लिए अपने आत्मस्वरूप का दान करते हैं, और दूसरे प्रयोजन का अर्थ यह है कि ज्ञानमिश्रितभक्तों को तो भगवान तभी प्रिय लगते हैं, जब भगवान उन्हें सुख दें और वे स्वयं दुःखी न हों अतः उन्हें सुख देने के लिए भगवान उनके विरहभाव को दूर कर देते हैं और अपने आत्मस्वरूप का दान करते हैं- यह अर्थ है।

एतासां तु विप्रयोगरसात्मकस्वरूपानुभवाद्विरहेपि भगवान् आत्मप्रदः । निरुपाधिकप्रीतिविषयत्वात्तादृशदुःखेपि प्रियः ।

अतः प्रयोजनद्वयस्य तदापि सिद्धत्वात् किमर्थं कस्मै प्रयोजनाय मोहयिष्यतीत्यर्थः । तत्र 'नीलाम्बुदश्यामं हृदयादपसरत्वि'त्यादिनोक्तोपि भावो जायते इति चकारः । परं तस्य व्यभिचारिभावत्वान्न स्थायिभावरूपप्रीतेर्हानिः तादृशस्वरूपदानेपि प्रीतिसूचनायापिशब्दः ।

किन्तु गोपिकाओं को तो भगवान के विप्रयोगात्मकस्वरूप का अनुभव होने के कारण विरहदशा में भी भगवान् अपने स्वरूप का दान उन्हें करते हैं। चूँकि गोपिकाओं को निस्वार्थरूप से भगवान से प्रीति है अतः ऐसे विरहदुख की घड़ी में भी भगवान उन्हें प्रिय लगते हैं। अतः गोपिकाओं के लिए तो विरहदशा में भी भगवान (1)आत्मप्रद हैं यानि अपने स्वरूप का दान करते हैं एवं (2)प्रिय लगते हैं; इसलिए यहाँ समझने वाली बात यह है कि, विरहदशा में भी जब ये दोनों प्रयोजन सिद्ध हो रहे हैं, तो फिर भगवान अब क्यों और किस प्रयोजन के लिए गोपिकाओं को मोहित/भ्रमित करेंगे, यानि अब क्यों व्यर्थ में उनका विरहभाव भंग करने का प्रयत्न करेंगे - यह अर्थ है। यानि कि **च** शब्द से आपश्री यह भी बताना चाहते हैं कि, यद्यपि गोपिकाओं का विरहभाव इतना तीव्र हो गया था कि उन्होंने भगवान से *"नीलाम्बुदश्यामो हृदयात्"* ऐसे वाक्य भी कह दिए थे; परन्तु, समझिए कि उत्कट विरहावस्था में ऐसी वाणी मुख से निकल ही जाती है और ऐसी वाणी को मात्र व्यभिचारिभाव(बदलता रहने वाला भाव)समझना चाहिए, और इससे उनके प्रभु के प्रति स्थायीभाव प्रेम में कोई क्षति नहीं आती। अर्थात् यद्यपि भगवान गोपिकाओं के लिए आत्मप्रद हैं एवं उनके प्रिय भी हैं परन्तु तीव्र विरहभाव हो जाने पर गोपिकाओं ने भगवान से उपरोक्त वचन भी कह दिए थे जिससे यों प्रतीत होता है मानों वे भगवान से द्वेष कर रही हैं परन्तु तीव्रविप्रयोग की अवस्था ऐसी ही है जिसमें ऐसी वाणी निकल जाया करती है, परन्तु इससे भगवान के प्रति गोपिकाओं के प्रेम में कोई न्यूनता नहीं आती। यद्यपि भगवान ने तो उन्हें ऐसा विप्रयोग दिया तथापि भगवान गोपिकाओं के लिए प्रिय बने रहे, यह बताने के लिए **अपि** शब्द का प्रयोग है।

एवं गुरुद्वये सिद्धं सर्वं निरूपितम् । तत्राधुनिकस्य यावत्कर्तव्यं तदाहुः तस्मादिति । यतो भक्तिमार्गीयस्य न बाधस्तस्माद्धेतोरुक्तेन गुरुद्वये सिद्धेन प्रकारेण परित्यागो विधीयतामित्यभ्यनुज्ञा । गुरौ दलद्वयमुक्तम् । तत्रैकदलार्थं तत्सम्पादकः परित्याग आधुनिकेनापि कर्तव्यः । अपरस्य तु दलस्य तत्र सिद्धस्य नाधिकार इति तदाकाङ्क्षायां बाधकमाहुः अन्यथेति । परित्यागादन्यप्रकारकरणे इत्यर्थः । अपरदलेच्छायामपि स्वस्मिन् सिद्धादर्थात् फलाद् भ्रश्यते, ततोप्यधः पततीत्यर्थः । अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येवेत्यवधारणात् । एतस्य फलावान्तरविचारस्य प्रमाणागम्यत्वात् स्वस्यैवाऽस्यत्वेन भक्तिरूपस्य मतेः सम्मतिमाहुः इति मे निश्चिता मतिरिति ।

इस प्रकार से दोनों गुरुओं के साधन एवं फल सभी का निरूपण कर दिया गया। अब आधुनिक पुष्टिमार्गीयों को जो करना है, उसे आपश्री **तस्मात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ आपश्री आज्ञा करते हैं- चूँकि भक्तिमार्गीय को साधन एवं फल दोनों में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती अतः ऊपर कहे दोनों गुरुओं के द्वारा सिद्ध किए गए प्रकार से आधुनिक पुष्टिमार्गीयों को भी परित्याग करना चाहिए- ऐसी आज्ञा आपश्री दे रहे हैं। इस भक्तिमार्गीयपरित्याग की गुरु गोपिकाओं को तो संयोग-विप्रयोग दोनों दलों का अनुभव हुआ है- यह कहा गया, किन्तु इसमें से एक दल यानि संयोगदल का अनुभव करने के लिए संयोग का अनुभव कराने वाला परित्याग आधुनिक पुष्टिमार्गीयों को भी करना चाहिए। दूसरा दल यानि विप्रयोगदल तो केवल गोपिकाओं को ही सिद्ध है और उसमें आधुनिकों का अधिकार नहीं है अतः यदि विप्रयोगरस प्राप्त होने की आकांक्षा से परित्याग करेंगे, तो यह बाधक है, जैसे आपश्री **अन्यथा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। 'अन्यथा' का अर्थ है- आचार्यचरण कह रहे हैं कि परित्याग का जो प्रकार हमने बताया है, उससे भिन्न प्रकार का परित्याग करेंगे तो भ्रष्ट होंगे। तात्पर्य यह कि अपरदल की यदि इच्छा भी करेंगे, तो अभी तक अपने भीतर जो भाव या फल सिद्ध हुआ है उससे भी नीचे गिर जायेंगे। आपश्री का भाव इसमें इस प्रकार का है, यह आपश्री के ही सुबोधिनी में कहे "अयोग्य वस्तु की इच्छा रखने वाले पुरुष का पतन होता ही है, इसमें कोई संशय नहीं है(सुबो-10/44/62)" इस वाक्य द्वारा जाना जा सकता है। चूँकि इस दूसरे विप्रयोगभाव की बात का कहीं शास्त्रोक्त प्रमाण नहीं मिलता, अतः प्रभु के भक्तिरूप मुखारविन्द होने के नाते आचार्यचरण स्वयं ही अपनी मति कह कर विप्रयोगभाव की बात को

प्रमाणित कर रहे हैं। इसे आपश्री ने **इति मे निश्चिता मतिः** इत्यादि शब्दों द्वारा कहा है।

उपसंहरन्ति इति कृष्ण इति ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ।।२२।।

कृष्णस्य प्रसादेन करणेन तस्यैव वल्लभेन कर्त्रा विनिश्चितं, भक्तौ फलरूपभक्तिसिद्ध्यर्थम् । संन्यासो व्रियते स्वीक्रियते अनेन करणेन तादृशो विचारः संन्यासवरणम् । इति समाप्तमित्यर्थः । 'अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणे'त्यनेन भक्तिमार्गीयस्यैव तात्पर्यविषयत्वेनोपक्रान्तत्वात्तेनैवोपसंहारः । स्वनिश्चितमिदमेव । ज्ञानमार्गीयं तु प्रमाणैर्निश्चितमेव, स्वयमनूदितं परमिति भावः । अन्यथाकरणे बाधकमाहुः अन्यथेति । स्वयं निश्चितात् फलमार्गीयादनूदिताच्च ज्ञानमार्गीयादन्यथा साधनमार्गप्रकारेण कर्ममार्गप्रकारेण वा करणे तस्मात् साधनात् पतितो भवेत्, विरुद्धाचरणात् स्वयमेव पतितो भवेत् ।

अब आपश्री **इति कृष्ण** इत्यादि शब्दों से इस ग्रन्थ का उपसंहार कर रहे हैं।

श्लोक का अर्थ है- कृष्ण की प्रसन्नतारूप साधन के द्वारा कृष्ण के ही वल्लभ/प्रिय ने **भक्तौ** यानि फलरूपा भक्ति सिद्ध करने के लिए सुनिश्चितरूप से यह बात कही है। जिस विचारविमर्श के द्वारा संन्यास स्वीकारा जाता है या संन्यास लेने का निर्णय लिया जाता है, उसे 'संन्यासवरण' कहते हैं। **इति** का अर्थ है- अब यहाँ ग्रन्थ समाप्त हो रहा है। आचार्यचरणों ने आरम्भ में "अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्याद्विचारणा" इस वाक्य द्वारा भक्तिमार्गीयपरित्याग का ही तात्पर्य बताने का विषय आरम्भ किया था और अब उसी के विचार पर आकर ग्रन्थ समाप्त भी कर रहे हैं। आपश्री ने भक्तिमार्गीयपरित्याग के विषय में जो सुनिश्चित किया, वह यही है जो आपश्री ने इस ग्रन्थ में कहा है। ज्ञानमार्गीयपरित्याग तो वेदशास्त्रों के द्वारा प्रमाणित है ही, इसलिए आपश्री ने यहाँ तो केवल उसका सारांश ही कहा है, विस्तार नहीं किया। यदि आपश्री के कहे अनुसार परित्याग न करके किसी अन्य प्रकार से करेंगे, तो इसमें बाधक है जिसे आपश्री **अन्यथा** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अन्य प्रकार से परित्याग करने का अर्थ है- आपश्री ने जो फलमार्गीय प्रकार से परित्याग करना बताया एवं ज्ञानमार्गीयपरित्याग को जो सारांशरूप में कहा, इन दोनों प्रकारों के अलावा यदि अन्य किसी साधनमार्गप्रणालिका के अनुसार या कर्ममार्गीय प्रकार से संन्यास लेंगे, तो जो कोई भी साधन वो कर रहा है, उस साधन से भी नीचे गिर जायेंगे, पतित हो जायेंगे, यानि विरुद्धाचरण करने के कारण स्वयं ही पतित हो जायेंगे।

अनु भगवांस्तत्पातक इति क्लेशे स्वामिनामग्रहणस्य हेतुत्वेनायुक्तत्वात् कर्मपदमित्यनेन वृत्रवाक्यविवरणे प्रभूक्ता भक्तिमार्गमर्यादा सूचिता । स्वस्यैतन्निश्चयस्य सिद्धत्वेपि करणकर्तृकथनेनैवंविधनिश्चये कृष्णप्रसाद एव साधनम्, तत्प्रियत्वमेव च स्वरूपयोग्यतासम्पादकमित्यनुग्रहेतरसाधनासाध्यत्वं सूचितम् ।

केन्तु ध्यान देने वाली बात यहाँ यह है कि, आचार्यचरणों को 'वे पतित हो जायेंगे' यों कहने की अपेक्षा यों कहना चाहिए कि 'भगवान ही ऐसों का पतन कर देते हैं', परन्तु, जीव के माथे कोई दुःख आन पड़े तो इसमें अपने स्वामि-भगवान का नाम लगा कर उन्हें इसका हेतु कह देना उचित बात नहीं है, अतः आपश्री ने कर्मपद (पतित) का प्रयोग करके 'वे पतित हो जायेंगे' यों कहा, भगवान उन्हें पतित कर देते हैं ऐसा नहीं कहा। ऐसा कहकर वृत्रवाक्य का विवरण करने में आपश्री ने ही जो भक्तिमार्ग की मर्यादा कही थी, वही भक्तिमार्गीयमर्यादा आपश्री ने यहाँ भी सूचित की है। जानना चाहिए कि आचार्यचरणों ने "ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यम्(श्री0भा-6/11/27)" इस वृत्रवाक्य के विवरण में यह बात बतायी है कि, वृत्रासुर ने भगवान से यह कहा कि, हे प्रभु ! मैं अपने कर्मों के कारण संसारचक्र में भटक रहा हूँ। यद्यपि समस्त कार्यों के कर्ता और कारयिता तो भगवान ही हैं, तथापि वृत्र ने भक्तिमार्ग की मर्यादा रखते हुए प्रभु पर कोई भी दोषारोपण न करते हुए स्वयं अपने कर्मों को ही दोषी माना। श्रीवल्लभचरण कहते हैं कि, वही मर्यादा आचार्यचरणों ने यहाँ भी रखी है। तात्पर्य यह कि इसी कारण आपश्री ने यह नहीं कहा कि, 'भगवान पतित कर देंगे' अपितु केवल इतना कहा कि 'तुम पतित हो जाओगे' - यह अर्थ है। यद्यपि आचार्यचरण स्वयं भगवान के आस्यरूप हैं अतः वे स्वयं भी इस प्रकार का निश्चय कर सकते हैं, तथापि इस बात को निश्चयपूर्वक कहने में वे कृष्ण की प्रसन्नता

को साधन बता कर खुद को कर्ता बता रहे हैं; साथ ही साथ यह भी कह रहे हैं कि, इसका निश्चय करने की स्वरूपयोग्यता भी उनमें तब आयी, जब वे कृष्ण के प्रिय बने, इसलिए इन दोनों बातों से आपश्री ने यह बात सूचित की है कि, इस मार्ग में भगवदनुग्रह के बिना अन्य किसी साधन से कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता।

नन्वेवं सति स्वस्य दासत्वमायाति, अत एव ग्रन्थान्तरेपि 'इति श्रीकृष्णदासस्ये'त्युक्तम्, अन्यत्र च 'वैश्वानराद्वाक्पते'रित्यनेनाधिदैविकास्यत्वं स्वयमेवोक्तम्, अतः कथं विरोधपरिहार इति चेदुच्यते । यथा भगवतो 'जीवय मृतमिव दास'मित्यादिवाक्यैस्तथात्वमप्युच्यते, तत्र रसात्मकत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वाद्रसस्य च तावद्विधत्वाद्धर्मिग्राहकमानेनोभयरूपत्वम्, न तु कस्यचिदारोपितत्वमिति निर्णयः, तथा प्रकृतेपि रसात्मकत्वेन दास्यरसानुभवार्थमाविर्भावात्तद्रसस्यैव तथाविधत्वादुभयरूपत्वम्, न तु किञ्चिदारोपितम्, अतो यथार्थवादित्वेनाप्तत्वात्तद्वाक्यमखिलप्रमाणमूर्धन्यमिति तदनुग्रहभाजनैरवगन्तव्यम् । एवमेवाग्निकुमारचरणेष्वपि भगवत्त्वं 'यावन्ती पदपद्मानी'त्यादिषूक्तं तद्दासीत्वमित्यादिकं यद्यद्रसानुभवे यद्यदुक्तं तत्तत्सर्वमनारोपितमेवेति ज्ञेयम् ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि आचार्यचरण इस प्रकार से भगवान के अनुग्रह से ही कोई भी कार्य संपन्न करने की बात करते हों, तो इससे वे कृष्ण के दास सिद्ध होते हैं; इसी कारण उन्होंने अन्य दूसरे ग्रन्थों की समाप्ति में भी अपने लिए "इति श्रीकृष्णदासस्य (अन्तःकरणप्रबोध-10)" इस प्रकार से कहा है; जबकि इसके ठीक विपरीत अन्यत्र तो आपश्री ने अपने आप को "वैश्वानरात्वाक्पतेः" इत्यादि वाक्यों द्वारा स्वयं अपने आप को प्रभु का आधिदैविक मुखारविन्द भी बताया है; अब आपश्री के वाक्यों में परस्पर आने वाले इन विरोधों का परिहार कैसे हो ? तो अब हम इस विरोध का परिहार कह रहे हैं। यहाँ यह समझना चाहिए कि, जिस प्रकार भगवान तो सभी के स्वामी हैं, तथापि जब भगवान रसमार्ग के अनुसार लीला करते हैं, तब *"हे राधा! मुझ दास को अधरामृत का पान कराओ और जीवित करो, जो कि तुम्हारे बिना मृतप्राय हो गया है(गीतगोविन्दम्-12/5)"* इस प्रकार के वाक्य भी कहते हैं, क्योंकि भगवान रसात्मक हैं यह बात तो प्रमाणसिद्ध है ही, और रस की मर्यादा भी यही है कि वहाँ दीनता अपेक्षित होती है,और धर्मि-स्वरूप भगवान उभयरूप हैं, यानि उनमें स्वामित्व भी है और दासत्व भी, इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिए कि भगवान में दासत्व आरोपित कर दिया गया है। उसी प्रकार यहाँ आचार्यचरणों के संदर्भ में भी यह बात समझनी चाहिए कि, आपश्री रसात्मक तो हैं ही, परन्तु उन्हें दास्यरस का भी अनुभव करना है अतः दास्यरस का अनुभव करने के लिए वे भूतल पर आविर्भूत हुए हैं और भगवद्रस भी उसी प्रकार उभयात्मक (स्वामित्व+दासत्व) होने के कारण आचार्यचरण प्रभु के मुखारविन्दस्वरूप भी हैं और दास भी, इसलिए ऐसा नहीं है कि उनमें दासत्व आरोपित कर दिया गया है। इसलिए आपश्री यथार्थवादी हैं इस कारण आपश्री के वाक्य आप्तवाक्य हैं और आपश्री ने जो कुछ भी कहा है, वो समस्तप्रमाणों में श्रेष्ठ है- यह बात आपश्री के कृपापात्रों को समझ लेनी चाहिए। इसी कारण अग्निकुमार श्रीप्रभुचरणों ने भी अपने आप में भगवत्त्वं एवं "यावन्ती पदपद्मानि" इत्यादि वाक्यों में भगवान की दासी होने इत्यादि जो-जो बातें रस का अनुभव करने में कही हैं, वह सभी कुछ बातें उनमें मात्र कहने के लिए नहीं कही हैं अपितु उनके स्वरूप में वे सभी बातें स्वाभाविकरूप से विद्यमान हैं ही ।

एतेन विरुद्धधर्माश्रयत्वकथनेन भक्तेभ्यः स्वस्य भगवत्त्वमेव सूचितं भवति, मानुषभावस्वीकारादनधिकारिणां परं न तथा प्रतीतिरिति विभावनीयम् । पूर्वप्रणिपातादिकरणेपि 'न पारयेह'मित्यादिवाक्यैः भक्तप्रकारकं दास्यं न सम्पन्नम्, अत एवमाविर्भूय ग्रन्थद्वयोक्तप्रकारेण स्वामिनीदास्यरसत्वमनुभूतवानिति भावः ।।२२।।

भले ही आचार्यचरणों ने यहाँ विरुद्धधर्माश्रय बताया है, तथापि अपने भक्तों को तो उन्होंने अपने आप को भगवान ही बताया है, परन्तु जब आचार्यचरण मानुषभाव स्वीकार करके कार्य करते हैं, तो केवल अनधिकारियों को ही उनमें भगवत्ता प्रतीत नहीं होती- यह जान लेना चाहिए। यहाँ गूढभाव की बात यह है कि, यद्यपि भगवान ने गोपिकाओं को प्रणाम आदि तो किया ही था, तथापि "भगवान ने गोपियों से कहा- मैं जन्म जन्म के लिए तुम्हारा ऋणी हूँ(श्री0भा-10/32/22)" इस वाक्यानुसार भगवान का अपने भक्त का दास होने वाली बात संपन्न न हो पायी और ऋण चुक नहीं पाया था; इस कारण भगवान अब आचार्यचरणों के रूप में आविर्भूत हुए और ऊपर कहे *"इति श्रीकृष्णदासस्य(अन्तःकरणप्रबोध-10)"* एवं *"वैश्वानरात्वाक्पतेः(सुबो-1/1/1;का-5)"* इन दो ग्रन्थों के अनुसार भगवान ने

स्वामिनी(गोपिकाओं)के दासत्व का अनुभव किया, और इसीलिए आचार्यचरणों ने अपने लिए 'दास' शब्द का प्रयोग किया है- यह भाव है॥22॥

स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभि: । वदनानलदासोक्ता व्याकृति: पूर्णतामगात् ।।१।।

इति श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृता संन्यासनिर्णयस्य विवृति: सम्पूर्णा ।।

महात्माओं(आचार्यचरणों)ने कृपा करके अपने निजजनों को यह ग्रन्थ कहा है। इस वदनानल के दास द्वारा जिसकी विवृति यहाँ पूर्ण हुई ॥1॥

यह श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृत संन्यासनिर्णय की विवृति सम्पूर्ण हुई।

श्रीकृष्णाय नमः ।

संन्यासनिर्णयः ।

चाचाश्रीगोपेशविरचितविवृति समेतः ।

निबन्धे 'त्रिदण्डं परिगृह्णीत सर्वशास्त्राविरोधि तत्' इत्यादिवचनैरूपेत्यात्र त्रिदण्डविषयकेष्टसाधनताभ्रमाद्भ्रमसवशेन पुष्टिमार्गीयोपि तुरीयाश्रमत्वेन त्रिदण्डं गृह्णन् पश्चात्तापमाप्नुयाद्, अतस्तदनुदयाय पुष्टिमार्गसंन्यासस्य विचारमारभन्ते ।

पश्चात्तापनिवृत्यर्थं परित्यागो विचार्यते ।
स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ।।१।।

कलिकालजन्यदोषाक्रान्तत्वात् कर्ममार्गीयस्य विलम्बेन फलजनकत्वात् ज्ञानमार्गीयस्य च परित्यागस्य सदोषत्वमुद्भाव्य पुष्टिमार्गीयपरित्यागस्य किं प्रयोजनं, कोत्र गुरुः, किं वा साधनं, का च परित्यागिनो व्यवस्थितिरित्यादिविचारः क्रियते इत्यर्थः । तथा चैवं विचारेण परित्यागे निर्णीते सत्यन्यत्र प्रवृत्त्यनुदयात् पश्चात्तापानुदय इति भावः ।

निबन्ध में आचार्यचरणों के "सर्वशास्त्र-अविरोधी त्रिदण्डसंन्यास ग्रहण करना चाहिए(सर्व-192)" इत्यादि वाक्यों को लेकर यहाँ पुष्टिभक्तिमार्ग में भी त्रिदण्ड संन्यास को इष्टसाधन समझ जाने के भ्रम से जल्दबाजी में कोई पुष्टिमार्गीय भी चौथे आश्रम के रूप में त्रिदण्डसंन्यास ग्रहण कर लेगा तो कालान्तर में उसे पश्चात्ताप करना पड़ेगा अतः उसे पश्चात्ताप करने की नौबत न आए, इसलिए आचार्यचरण पुष्टिमार्गीयसंन्यास पर विचार करना आरम्भ कर रहे हैं।

कलिकाल के कारण उत्पन्न होने वाले दोषों से आक्रान्त होने के कारण कर्ममार्गीय को परित्याग विलम्ब से फल देता है और ज्ञानमार्गीय का परित्याग दोषपूर्ण होता है, अतः इन दोनों की संभावना को ध्यान में रखते हुए अब आचार्यचरण पुष्टिमार्गीयभाव के अनुसार किए गए परित्याग का प्रयोजन क्या है, उसमें गुरु कौन हैं, उसके साधन क्या हैं और ऐसा परित्याग करने वाले की निश्चितरूप से परिस्थिति क्या बनती है, इत्यादि सभी बातों का विचार इस ग्रन्थ में कर रहे हैं- यह प्रथमश्लोक का अर्थ है। इससे आपश्री का तात्पर्य यह कि, जब उपरोक्त पद्धति से विचार करके परित्याग करने का निर्णय करेंगे, तो फिर जीव अन्यत्र मार्गों में प्रवृत्त नहीं होगा और उसे कालान्तर में पश्चात्ताप भी नहीं करना पड़ेगा- यह भाव है।

स इति । यस्य विचारः क्रियते स परित्यागो भक्तौ भक्तिमार्गे ज्ञाने ज्ञानमार्गे च कर्तव्यत्वेन प्रोक्त इत्यर्थः । विशेषत इति । मार्गद्वितयोक्तावपि ज्ञानमार्गे विशेषत उक्त इत्यर्थः । तथा च वेदस्मृतिपुराणेतिहासेषु सर्वत्र प्रसिद्धत्वाद्विशेषेणोक्तः, भक्तिमार्गे तु भगवदनुग्रहैकलभ्यभजनानन्दानुभवयोग्यतासम्पादकविरहानुभवार्थं भगवत्कृतवरणरूपस्तद्रसिकेष्वेव प्रसिद्धत्वाद्विशेषेण नोक्त इति भावः ।।१।।

अब हम **स** इत्यादि शब्दों से आरम्भ होने वाली श्लोक की दूसरी पंक्ति के शब्दों का व्याख्यान कर रहे हैं। आपश्री इसमें यह कह रहे हैं कि, जिस परित्याग के विषय में विचार किया जा रहा है, वह परित्याग **भक्तौ** यानि भक्तिमार्ग में एवं **ज्ञाने** यानि ज्ञानमार्ग में विशेषरूप से करना बताया गया है। **ज्ञाने विशेषतः** का अर्थ है- यद्यपि परित्याग तो दोनों ही मार्गों में करना बताया गया है, तथापि ज्ञानमार्ग में तो विशेषतया कर्तव्यरूप से करना कहा गया है। फलितार्थ यह कि ज्ञानमार्गीयपरित्याग तो वेद-स्मृति-पुराण-इतिहास इत्यादि सर्वत्र प्रसिद्ध है अतः इन सभी स्थलों पर उसे विशेषतया कहा गया है; किन्तु भक्तिमार्ग में तो केवल भगवदनुग्रह से ही प्राप्त होने वाले भजनानन्द के अनुभव की योग्यता प्रदान करने वाले 'भगवद्विरह' का अनुभव करने के लिए परित्याग किया जाता है, जो भगवान द्वारा वरण कर लिए जाने का द्योतक है और इस परित्याग को तो केवल भगवान के रसिक ही जान सकते हैं, अतः इस परित्याग के लिए आचार्यचरणों ने 'शास्त्रों में विशेषरूप से कहा गया है' यों नहीं कहा- यह भाव है। इसका तात्पर्य यह कि आचार्यचरण केवल ज्ञानमार्ग में बताए परित्याग के लिए **विशेषतः** शब्द से कह रहे हैं कि इसके बारे में विशेषरूप से बताया गया है, भक्तिमार्ग के परित्याग के लिए नहीं क्योंकि ज्ञानमार्गीयपरित्याग तो अनेक शास्त्रों में कहा गया है और प्रसिद्ध ही है अतः अब यहाँ इसमें कुछ विशेष बताने की आवश्यकता नहीं, परन्तु आचार्यचरण जिस भक्तिमार्गीयपरित्याग की चर्चा यहाँ कर रहे हैं, वह शास्त्रों में स्पष्टतया वर्णित नहीं है एवं उसे तो भगवद्रस का अनुभव करने

मिलता और इसी कारण आपश्री को इस ग्रन्थ में उसके विषय में बताने की आवश्यकता पड़ी ॥1॥

ननु मार्गद्वितयप्रोक्त एव विचार्यते, न तु कर्ममार्गीयः, तथा च तस्याविचारे को हेतुरित्यत आहुः ।

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः ।
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद्विचारणा ॥२॥

वस्तुतो ज्ञानमार्गेपि न कर्तव्य एव, अनन्तजन्मभिः सिद्धिसम्भवात्, परन्तु ज्ञानमार्गे दैवात् ज्ञानसिद्धौ पाक्षिक्यपि सिद्धिः, अतः कर्तव्योपि, कर्ममार्गे तु न कर्तव्य एवेत्याशयेन सुतरामित्युक्तमिति बोध्यम् । तत्र हेतुः कलिकालत इति । कर्ममार्गस्य देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रादिसापेक्षत्वात् कलौ तु देशादीनामशुद्धत्वात् कर्ममार्गीययावत्पदार्थसिद्धिः कालत्रयेपि बाधितेत्याशयः । तथा च कलिकालजन्यदोषाक्रान्तत्वेनाकर्तव्यत्वात्तद्विचारोपि न क्रियते इति भावः । अत इति । सत्वरासन्दिग्धफलजनको निर्दोषोऽवश्यकर्तव्यश्च, अतो हेतोः ज्ञानमार्गीयपरित्यागविचारात् प्रथमं भक्तिमार्गीयो विचार्यते इत्यर्थः ॥२॥

अब किसी को प्रश्न यह होता है कि, आचार्यचरण केवल भक्तिमार्गीय एवं ज्ञानमार्गीय परित्याग के विषय में ही विचार कर रहे हैं, कर्ममार्गीयपरित्याग के विषय में क्यों नहीं ! अतः कर्ममार्गीयपरित्याग के विषय में विचार न करने का हेतु आपश्री अग्रिमश्लोक में बता रहे हैं।

आपश्री के कहने का तात्पर्य यह है कि, वास्तव में तो ज्ञानमार्ग में भी परित्याग नहीं ही करना चाहिए क्योंकि ज्ञानमार्ग में अनन्त जन्मों के पश्चात् सिद्धि प्राप्त होती है, परन्तु, ज्ञानमार्ग में चलो भाग्यवश ज्ञान सिद्ध हो जाए तो कुछ अंश में सिद्धि मिल भी जाती है अतः ज्ञानमार्गीयपरित्याग किया भी जा सकता है, किन्तु कर्ममार्ग में तो करना ही नहीं चाहिए- इस आशय को बताने के लिए आचार्यचरणों ने **सुतरां** इत्यादि द्वारा कहा है। ऐसा कहने का हेतु आपश्री **कलिकालतः** शब्द से कह रहे हैं, यानि कलिकाल होने के कारण कर्ममार्गीयपरित्याग नहीं करना चाहिए। इससे आपश्री का तात्पर्य यह कि, परित्याग सिद्ध करने के लिए कर्ममार्ग में देश-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र इत्यादि की अपेक्षा रहती है, और कलिकाल में तो देश-काल इत्यादि सभी अशुद्ध होते हैं अतः जितने भी आवश्यक कर्ममार्गीयपदार्थ होते हैं, वे सभी त्रिकाल(भूत-भविष्य-वर्तमान)में भी सिद्ध करने अशक्य ही रहेंगे- यह आपश्री का आशय है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि, जब कर्ममार्ग में परित्याग करना कलिकाल के कारण उत्पन्न होने वाले दोषों से आक्रान्त है और नहीं करना चाहिए, इसलिए उसके विषय में आपश्री विचार भी नहीं कर रहे हैं- यह भाव है। **अतः** इत्यादि शब्दों का अर्थ है- चूँकि भक्तिमार्गीयपरित्याग शीघ्र, निःसन्दिग्धतया फल देने वाला, दोषरहित एवं अवश्यकरणीय है अतः आचार्यचरण ज्ञानमार्गीयपरित्याग का विचार करने से पहले भक्तिमार्गीयपरित्याग का विचार करना आरम्भ कर रहे हैं- यह अर्थ है ॥2॥

तत्र प्रथमं परित्यागप्रयोजनं विचारयन्तः प्रयोजनानन्तरमाशङ्क्य दूषयन्ति ।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते ।
सहायसङ्गसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात् ॥३॥
अभिमानान्नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः ।
गृहादेर्बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि ॥४॥
अग्रेपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा ।
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः ॥५॥
विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरेः ।
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः ॥६॥

प्रेमजनकश्रवणादीनां गार्हस्थ्ये व्यासङ्गान्तरेण सम्यगसिद्धेः, प्रकर्षेण सिद्ध्यर्थं परित्यागः कर्तव्य इति पक्षो नेष्ट इत्यर्थः । अनिष्टत्वे हेतुमाहुः । श्रवणे सहायाः श्रवणकारयितारः तत्सङ्गसाध्यत्वात् श्रवणस्येत्यर्थः । तथा च परित्यागे सर्वसङ्गराहित्येन स्थितिरपेक्षितेति भावः ।

इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम आपश्री अग्रिमश्लोक में भक्तिमार्गीयपरित्याग के प्रयोजन के विषय में विचार करते हुए, उसके अतिरिक्त अन्य किसी दूसरे प्रयोजन से भक्तिमार्ग में किए जाने वाले परित्याग के बारे में भी विचार करके और फिर उसमें दूषण भी बता रहे हैं।

यदि कोई यों सोचता हो कि, "प्रभु में प्रेम उत्पन्न करने वाले श्रवणकीर्तन आदि साधन गृहस्थी में चित्त लगा होने के कारण

व्यवस्थितरूप से सिद्ध नहीं हो पाते हैं। अतः श्रवणकीर्तन आदि व्यवस्थितरूप से सिद्ध करने के लिए परित्याग करना चाहिए"- तो यह पक्ष आचार्यचरणों को अभीष्ट नहीं है। अभीष्ट क्यों नहीं है, इसका हेतु बताते हुए आपश्री कहते हैं- श्रवण में सहायकों की आवश्यकता पड़ेगी यानि भगवन्नाम या भगवद्गुणगान का श्रवण कराने वालों की आवश्यकता पड़ेगी, तात्पर्य यह कि श्रवण इन सभी के संग ही सिद्ध हो सकता है; जबकि परित्याग में तो किसी के भी संग के बिना रहना अपेक्षित होता है- यह भाव है।

ननु मास्तु श्रवणार्थं, कीर्तनस्मरणादिनिमित्तपरित्यागे को दोष इत्यत आहुः साधनानामिति । कीर्तनस्मरणादिसाधनानां वाङ्मनसादीनां प्रेमाभावात् स्वतोऽप्रवर्तमानानां प्रयत्नेन कीर्तनस्मरणादिषु रक्षणात् स्थापनात् प्रवर्तनादिति यावत् । तथा च स्वतः प्रवृत्तिरहितानीन्द्रियाणि बलेन प्रवर्तनादिक्षेपमासादयन्तीति भावः । एवं पादसेवनादिषु सर्वत्रेन्द्रियप्रवृतौ स्वयमूह्यम् । दार्ढ्यार्थं हेत्वन्तराण्याहुः अभिमानादिति । मया सर्वं परित्यक्तं, मत्समः कोपि नास्तीत्येवमादिरूपाद् गर्वादित्यर्थः । तथा चैवं गर्वे सति सर्वेषामुद्वेगजननात् ऐहिको वेदस्मृत्यादिनिन्दनात् पारलौकिकश्चोपद्रव इति भावः ।

कोई ऐसी शंका करे कि, चूँकि संगी-सहायकों पर निर्भर रहना पड़ेगा इसलिए चलो श्रवण के लिए परित्याग न करें, परन्तु, स्वयं किए जा सकने वाले कीर्तन-स्मरण इत्यादि के निमित्त परित्याग करने में क्या दोष है ! तो आचार्यचरण **साधनानां** इत्यादि शब्दों से समाधान कर रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, कीर्तनस्मरण इत्यादि करने के साधन वाणी-मन आदि जिन इन्द्रियों में अभी प्रभु से प्रेम नहीं हुआ है अतः वे स्वतः भगवत्संकीर्तन आदि की ओर मुड़ नहीं सकती, ऐसे वाणी-मन इत्यादि को प्रयत्न करके प्रभु के कीर्तनस्मरण आदि में लगायेंगे, तो जो इन्द्रियाँ स्वतः प्रवृत्त नहीं हो रही हैं, उन्हें बलपूर्वक कीर्तन आदि में लगाना पड़ेगा; तो जो इन्द्रियाँ स्वतः कीर्तनस्मरण में नहीं लग रही हैं, उन्हें जबरदस्ती लगाने से वे विक्षेप पैदा करेंगी- यह भाव है। जो समस्या कीर्तन आदि में बलपूर्वक इन्द्रियों को लगाने से होती/होती है, वही समस्या पादसेवन आदि सभी भगवत्सेवाओं में होती है- यह बात उक्त उदाहरण से अपने आप समझ लीजिए, जब उन इन्द्रियों को बलपूर्वक इनमें लगाया जायेगा। अपनी बात को और दृढ़ करने के लिए इसी सन्दर्भ में एक और हेतु भी आपश्री **अभिमानात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अभिमान का अर्थ है- 'मैंने सभी का परित्याग कर दिया है', 'मेरे समान अब कोई भी नहीं है'- इस प्रकार का मन में गर्व उत्पन्न होना। यानि जब इस प्रकार का गर्व उत्पन्न होगा, तो वह अन्य सभी के लिए तो उद्वेगकारी बनेगा ही जो कि ऐहिक उपद्रव है एवं वेदस्मृति आदि की निन्दा करने के कारण उसे पारलौकिक उपद्रव भी होगा।

नन्वभिमानत्यागे को दोषोत आहुः नियोगादिति । ईश्वराज्ञालक्षणाद्वेदादेरित्यर्थः । तथा च वेदादिप्रसिद्धयतिधर्मानुष्ठाने सति अनुष्ठानरूपव्यासङ्गात् श्रवणस्य सम्यगसिद्धिः, तदनुष्ठानाभावे त्वारूढपतित एव स्यादिति नियोगादुपद्रव इत्यर्थः ।

किन्तु यदि अभिमान ही त्याग दें, तब फिर क्या दोष रह जायेगा- यदि ये कहना हो तो इसका उत्तर आपश्री **नियोगात्** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं। **'नियोग'** का अर्थ होता है, ईश्वर की आज्ञारूपी वेद आदि की आज्ञा; तात्पर्य यह कि कर्ममार्गीयसंन्यास में वेद की आज्ञाओं का पालन करना भक्तिमार्गीयश्रवण में बाधा करेगा। वह इस प्रकार कि, वेद-आदि में प्रसिद्ध यति-धर्मों का अनुष्ठान करने में उस अनुष्ठान में ही व्यस्त रहेंगे और श्रवण व्यवस्थितरूप से सिद्ध नहीं हो पायेगा; और यदि अनुष्ठान पूर्ण न करें, तो आरूढपतित ही होंगे अतः 'नियोग' के कारण भी भक्तिमार्गीयश्रवण में उपद्रव होगा।

ननु 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायत' इति वाक्याद्भगवदीयैकसङ्गः सन् श्रवणादीनि कुर्वाणः सत्सङ्गवशात् शनैः शनैः स्वतः प्रवर्तमानेन्द्रियो गर्वमप्यकुर्वन् उक्तवाक्याद्यतिधर्मानपि नानुतिष्ठन् सत्सङ्गातिरिक्तं सर्वं परित्यजेत्तदा को दोष इत्याशङ्क्याहुः तद्धमैरिति । पुष्टिमार्गीयपरित्यागधर्मैरित्यर्थः । तथा च पुष्टिमार्गीयरसिकानुभवैकसाक्षिकभगवद्वरणरूपपरित्यागे भावनासिद्धभावातिरिक्तयावत्साधनानामनभिमतत्वात् भावपोषकविरहानुभवातिरिक्तयावत्पदार्थस्य व्यासङ्गान्तरजनकत्वेन तत्तदनुभवसाक्षिकभावरूपैः प्रकृतपरित्यागधर्मैः विरोधात् परित्यागकारणीभूतप्रेमजनकश्रवणादिसिद्ध्यर्थं कर्तव्यो नेत्याशयः ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, "कर्मसंबन्धी जितनी भी विधियाँ हैं, वे तब तक ही करनी चाहिए, जब तक मेरी लीला-कथा में श्रद्धा न उत्पन्न हो जाए(श्री0भा-11/20/9)" इस वाक्यानुसार कर्मसम्बन्धी विधियों को छोड़कर केवल भगवदीय के ही संग रहते हुए श्रवकीर्तन इत्यादि करें, तो भगवदीय के सत्संग के प्रभाव से धीरे-धीरे अपने आप ही इन्द्रियाँ प्रभुसंकीर्तन में प्रवृत्त होने लगेंगी और गर्व/अभिमान भी न करते हुए ऊपर कहे यतिधर्मों का पालन करना भी आवश्यक नहीं रह जायेगा जैसा कि उपरोक्त भागवतश्लोक में निर्देश किया गया है और तदनुसार सत्संग के अतिरिक्त सभी का परित्याग कर दें, तो इसमें क्या दोष है ? यदि ऐसा

प्रश्न होता हो, तो आचार्यचरण **तद्धर्मैः** इत्यादि शब्दों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। **तद्धर्मैः** इत्यादि शब्दों का अर्थ है- ऐसा करेंगे तो पुष्टिमार्गीयपरित्याग के धर्मों से इसका विरोध आता है, यानि ऊपर कहा परित्याग पुष्टिमार्गीयपरित्याग के विरुद्ध जाता है। वह इस प्रकार कि पुष्टिमार्गीय, रसिकजन ही जिसका अनुभव कर सकते हों ऐसे भगवद्वरणरूप परित्याग में भगवद्भावना के द्वारा सिद्ध होने वाले भाव के अतिरिक्त अन्य जितने भी साधन हैं, वे स्वीकार नहीं किए गए हैं और अपने भाव का पोषण करने वाले 'विरहानुभव' के अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी चित्त को भटकाने वाले होते हैं अतः अन्य सभी साधनों का तो यहाँ बताए अपने अनुभव द्वारा ही प्राप्त हो सकने वाले भावरूप साधन से किए जाने वाले परित्यागधर्मों से विरोध होता होने के कारण परित्याग करने का मूलकारण जो भगवत्प्रेम है, उस भगवत्प्रेम को उत्पन्न करने वाले श्रवणकीर्तन इत्यादि को सिद्ध करने हेतु प्रयत्न करके परित्याग नहीं करना चाहिए- यह आचार्यचरणों का आशय है। इसका फलितार्थ यह है कि, अन्य साधारण परित्याग या तो संसार से वैराग्य हो जाने के कारण, या खिन्नता के कारण या अपने किसी निजजन की मृत्यु आदि के दुःख के कारण या फिर किसी सांसारिक असफलता के कारण किया जाता है या लोग करते हैं। किन्तु यहाँ बताया जाने वाला भक्तिमार्गीयपरित्याग इन सभी हेतुओं से नहीं किया जाता अपितु भगवद्विरह का अनुभव करने के लिए किया जाता है। इसमें भी गूढार्थ यह है कि, भले ही भक्तिमार्गीयपरित्याग के लिए कहने के लिए यों कह दिया जाता है कि, यह परित्याग भगवद्विरह का अनुभव करने के लिए किया जाता है, परन्तु, वास्तविकता तो यह है कि, जब जीव भक्ति की ऐसी उच्चविरहदशा में पहुँचता है, तो वह अपने आप ही सभी का परित्याग कर देता है, यानि उसे परित्याग करने का आरंभ करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती अपितु वह स्वाभाविकरूप से अपने आप ही सभी का परित्याग कर देता है। तात्पर्य यह कि ऐसी उच्चावस्था पर पहँचने पर प्रयत्न करके परित्याग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कुल मिलाकर समझने वाली बात यह कि भक्ति की उच्चदशा आने पर स्वतः ही भक्तिमार्गीयपरित्याग हो जाता है, प्रयत्न करके नहीं किया जाता।

तथा च विचारस्यारब्धत्वात् प्रकृतप्रयोजनकातिरिक्तपरित्यागकथनम्, वस्तुतस्तु विरहानुभवातिरिक्तप्रयोजनकः परित्यागः पुष्टिमार्गीयभक्तानां बुद्धिस्थोपि न प्रभवति, कुतोस्य कर्तव्यतेति ध्येयम् ।

इसलिए, चूँकि आचार्यचरणों ने परित्याग के विषय में विचार करना आरम्भ किया है, इस कारण आपश्री ने इस ग्रन्थ में बताए जाने वाले परित्याग के प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य प्रकार के परित्याग के विषय में चलो भले ही कह तो दिया है, जबकि वास्तविकता तो यह है कि, भगवद्विरह का अनुभव करने के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोजन से किया जाने वाला परित्याग तो जब पुष्टिमार्गीयों के मन में भी नहीं आता, फिर दूसरे प्रकार का परित्याग करने की तो बात कहाँ है- यह बात ध्यान रखनी चाहिए।

ननु भावविरोधित्वान्मास्तु श्रवणाद्यर्थं परन्तु पुष्टिमार्गीयभक्तोपदिष्टप्रकारेण साध्यमाने भावलक्षणे स्वरूपानन्दस्य साधने प्रतिबन्धकीभूतभार्यादेस्त्यागे को दोष इत्याशङ्क्याहुः गृहादेरिति । साधनार्थं साधनं भावस्तत्सिद्ध्यर्थं यदि चेत्तथा परित्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । तथा च प्रतिबन्धकनिवृत्तिरवश्यं सम्पादनीयेति गृहादेर्भावोत्पत्तौ प्रतिबन्धकत्वेन चेत् परित्यागो भावरूपसाधनसिद्ध्यर्थमिति भावः । दोषमाहुः अग्रेपीति । तादृशैर्भावसिद्धौ प्रतिबन्धकैरेवेत्यर्थः । तथा च कृतेपि भेषजे न क्षान्तो व्याधिरिति न्यायापात इति भावः ।

किन्तु किसी को एक शंका यह होती है कि, चलो पुष्टिमार्गीयपरित्याग के भाव से विरुद्ध होने के कारण भले ही श्रवणकीर्तन सिद्ध करने के हेतु से परित्याग न भी करें, परन्तु पुष्टिमार्गीयभक्त को जिस प्रकार के भाव को सिद्ध करने का उपदेश दिया गया है उसमें, यानि भगवत्स्वरूपानन्द प्राप्त करने के लिए भावरूपी साधन में यदि पत्नी-परिवारजन इत्यादि प्रतिबन्धक होते हों, तो ऐसे प्रतिबन्धक बने हुए पत्नी-परिवारजनों का त्याग करने में क्या दोष है ? यदि ऐसा प्रश्न होता हो, तो आचार्यचरण **गृहादेः** इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कह रहे हैं। इसी पंक्ति में आगे **साधनार्थं** शब्द में 'साधन' का अर्थ है- भाव; यानि भाव सिद्ध करने के लिए यदि पत्नी-परिवारजनों का त्याग करें, तो क्या दोष है- यह शंका है। इसका अर्थ यह है कि, 'इन पत्नी-परिवारजन इत्यादि प्रतिबन्धकों को तो अवश्य दूर करना चाहिए' यह सोचकर भगवद्भाव में गृह-परिवार प्रतिबन्धक होते होने के कारण यदि कोई इनका परित्याग करना चाहे कि जिससे भगवद्भावरूप साधन सिद्ध हो सके, तो उसे इनका परित्याग करना चाहिए या नहीं- यह शंका है। ऐसे परित्याग में दोष बताते हुए आचार्यचरण **अग्रेपि तादृशैरेव संगो भवति** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **'तादृशैः'** का अर्थ है-उक्त उद्देश्य से परित्याग करने पर भी भगवद्भाव सिद्ध होने में प्रतिबन्ध करने वालों से ही संग होता है, यानि ऊपर कहा परित्याग करने के बाद भी आगे चलकर घर-परिवार के लोगों जैसे प्रतिबन्ध करने वाले लोगों से ही मिलना होगा

अतः अंततोगत्वा हुआ यह कि औषधिसेवन से भी रोग न मिट पाया- यह भाव है।

ान्यथेति । ये अन्यथा अतादृशा अबाधका: साधका इति यावत्तै: सङ्गो न भवतीत्यर्थ: । तथोक्तं निबन्धे विवृतौ 'सन्ति ब्रह्मभावं प्राप्ता नत्वेतादृशा भक्ता' इति । यद्यपि 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति निबन्धे प्रोक्तं, तथापि स परित्याग: पूजानिर्वाहजनकत्वेनोक्त:, न त्वेतद्देहावसान एव भजनानन्दरूपफलार्थमिति पूजानिर्वाहको भिन्न:, अयं च भिन्न इत्यनुसन्धेयम् । तथा च पूजानिर्वाहके तु सहायसङ्गेत्यादिनोक्तमेव दूषणमित्यपि ध्येयम् ।

ान्यथा का अर्थ है- जो प्रतिबन्ध नहीं करते अपितु भगवद्भाव में साधक हैं, वैसों का संग उसे नहीं मिलेगा । यही बात आचार्यचरणों ने निबन्ध में भी *"प्रतिकूलं गृहं त्यजेत्(शा0प्र-231)"* इत्यादि वाक्यों द्वारा कही है। यद्यपि निबन्ध में ही आचार्यचरणों ने *"पत्नी आदि परिवारजन यदि भगवत्सेवा में अनुकूल हों, तो उनसे भगवत्सेवा करानी चाहिए। यदि उदासीन हों तो स्वयं करनी चाहिए और प्रतिकूल हों, तब गृहत्याग करना चाहिए(सर्व0-231)"* इस वाक्य द्वारा गृहत्याग करने की बात कही है, परन्तु, इस श्लोक में कहा परित्याग भगवत्पूजा का निर्वाहक होता है, इस उद्देश्य से कहा गया है; न कि इस देह का अवसान होते ही जो भजनानन्दरूपी फल प्राप्त होता है, उस फल को प्राप्त करने में उपयोगी होने के उद्देश्य से, इसलिए पूजा का निर्वाह करने के लिए किया जाने वाला परित्याग भिन्न है और यहाँ कहा जाने वाला परित्याग भिन्न है- यह अनुसन्धान रखना चाहिए। और, पूजा का निर्वाह करने के लिए किए जाने वाले परित्याग में सहाय-संग इत्यादि का दूषण तो आचार्यचरणों ने ऊपर के श्लोकों में पहले ही कह दिया है, उस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए।

र्हि प्रकृतगृहादिपरित्यागस्य का गतिरिति चेत्, न । प्रकृते तु गृह एव तिष्ठन्नविरतमेव तन्मार्गीयोपदिष्टप्रकारेण भावनां कुर्वाण: सिद्धभावलक्षणसाधन: सन् गृहादि सर्वं परित्यजति विरहानुभवार्थं, न तु साधनसिद्ध्यर्थमिति सर्वमवदातम् ।

अब फिर प्रश्न यह होता है कि, इस ग्रन्थ में भी तो गृह आदि के परित्याग की बात कही गयी है, तो क्या उसमें दूषण नहीं आयेगा ? नहीं.....नहीं आयेगा, क्योंकि इस ग्रन्थ में बताए गए पुष्टिमार्गीयपद्धति से परित्याग होने की प्रक्रिया में तो भक्त अपने घर में रहते हुए निरन्तर इस मार्ग में उपदिष्ट प्रकारानुसार भगवद्भावना करते हुए उसका भाव सिद्धदशा में पहुँच जाने पर **भगवद्विरह का अनुभव करने के लिए** वह घर-परिवार इत्यादि सभी का परित्याग करता है ; **भक्तिभाव के साधन सिद्ध करने के लिए नहीं** - यह समझ लेना चाहिए। यानि जैसा कि ऊपर भी लिखा जा चुका है कि, भाव सिद्ध हो जाने पर भक्ति की ऐसी उच्चदशा में वह अपने आप ही सभी का परित्याग कर देता है, भक्तिभाव सिद्ध करने के लिए प्रयत्न करके परित्याग नहीं करता- यह अर्थ है।

ानु बाधकं गृहादि परित्यज्य सर्वसङ्गरहित: सन् भावनया भावलक्षणं साधनं साधयेत्तदा को दोष इति अत आहु: स्वयं चेति । आहारादिविषयाप्राप्त्या क्लिष्ट: सन् तदेव ध्यायन् विषयाक्रान्त: स्यात् । ततो मनसेन्द्रियार्थान स्मरन् मेथ्याचारपदवाच्य: पाषण्डी तु भवेत्, तथा च भावरूपेष्टसिद्धिस्तु दूरे, प्रत्युतानिष्टसिद्धिरिति भाव: ।

केन्तु जो गृह-परिवार बाधक हो उसका परित्याग करके सभी के संग से दूर रहकर यदि भगवद्भावना करने के द्वारा भावरूपी साधन को सिद्ध करने का प्रयास करें, तो इसमें क्या दोष है ? यदि ऐसी शंका हो तो, आचार्यचरण **स्वयं च** इत्यादि शब्दों से उसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, सभी का परित्याग कर देने पर जब देह को आहार आदि विषय प्राप्त नहीं होंगे तब कष्टातुर होकर उन्हीं में ध्यान जायेगा और उन विषयों से आक्रान्त हो जायेंगे। और उन सांसारिकविषयों से आक्रान्त होकर मन से उन्हीं पदार्थों के विषय में सोचते रहने से मिथ्याचार के नाम से जाने जाते पाखण्डी कहलायेंगे, और तब भाव सिद्ध होना तो दूर, उल्टे अनिष्ट और हो जायेगा।

न्विन्द्रियनिग्रहे सर्वमुपपद्यत इत्यत आहु: कालत इति । कलाविन्द्रियनिग्रहस्य दु:साध्यत्वादित्यर्थ: । विषयाक्रान्तत्वे पाषण्डित्वम्, एकमनिष्टमुक्त्वा द्वितीयं बलवदनिष्टमाहु: विषयाक्रान्तेति । देहो लिङ्गशरीरं तस्य मोक्षपर्यन्तमनवरतमुपचीयमानत्वाद्देहपदेनोक्ति:, एवञ्च लिङ्गशरीराध्यक्षत्वेन (अध्यस्तत्वेन) तदभेदं मन्यमान आत्मैव देह) पदेनोच्यते, तथा च विषयाक्रान्तात्मनां भगवदावेश: कदापि न भवतीत्यर्थ: । इत्थं च यदर्थं सर्वोप्युद्यमस्तस्यैवासिद्धेर्महदेवानिष्टमित्यर्थ: ।

केन्तु यदि ऐसी शंका होती हो कि, यदि इन्द्रियों का निग्रह कर लेंगे तो सभी कुछ ठीक हो जायेगा, तो आचार्यचरण **कालत:** इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- कलिकाल में इन्द्रियों का निग्रह होना दु:साध्य है। इन्द्रियों के विषयाक्रान्त होने से पाखण्डी हो जाने वाले एक अनिष्ट को कहकर अब आगे दूसरा बलवान अनिष्ट आचार्यचरण **विषयाक्रान्तदेहानां** इत्यादि शब्दों

से कह रहे हैं। इसमें 'देह' का अर्थ लिंगशरीर है, स्थूलशरीर नहीं (बाहर स्थूलरूप से दिखाई देने वाले शरीर को स्थूलशरीर कहते हैं। स्थूलशरीर के भीतर लिंगशरीर अवस्थित होता है, जो अंगुष्ठमात्र का होता है और जिसके भीतर आत्मा रहता है); क्योंकि **देह** शब्द 'दिह' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है- 'उपचय' यानि 'न मिटना और बने रहना'। अब चूँकि देह तो मिट जाती है परन्तु लिंगशरीर जिसके भीतर आत्मा का निवास है वह तो देह नष्ट हो जाने के बाद भी मुक्ति हो जाने तक बना रहता है, इसलिए देह का वास्तविक अर्थ बाहर से दिखाई देने वाले स्थूलशरीर के बजाए लिंगशरीर में अधिक सही बैठता है। अब आत्मा खुद अपने आपको लिंगशरीर मान बैठा है अतः ऐसे आत्मा को ही यहाँ आचार्यचरणों ने 'देह' पद के द्वारा द्योतित किया है; तात्पर्य यह कि, ऐसे प्रकार से विषयों द्वारा आक्रान्त हुए आत्मा में भगवदावेश कभी भी नहीं हो सकता। यानि परिणाम यह हुआ कि, जिस भावरूप साधन को सिद्ध करने के लिए इतना सब कुछ किया, वही प्राप्त नहीं हो पाया इसलिए ये तो बड़ा ही अनिष्ट हुआ- यह अर्थ है।

उपसंहरन्ति अतोत्रेति । यत उक्तदूषणानि अतो भक्तौ श्रवणादिसिद्ध्यर्थं अत्र साधने अनन्यभावलक्षणसाधनसिद्ध्यर्थं च परित्यागो नैव सुखावह इत्यर्थः ।।३-६।।

अब आपश्री भक्ति की साधनावस्था में किए जाने परित्याग की बात का उपसंहार **अतोऽत्र** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इसमें आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, चूँकि भक्ति की साधनवस्था में इतने दूषण गिनाए गए अतः निष्कर्ष यह निकला कि भक्तिमार्ग में श्रवणादि सिद्ध करने के हेतु से **अत्र साधने** यानि अनन्यभावरूपी साधन को सिद्ध करने के लिए परित्याग करना सुखदायी नहीं होता- यह अर्थ है ॥3-6॥

एवं प्रयोजनान्तरेण प्रयोजनान्तरकृतपरित्यागे च दूषणमुक्त्वा प्रकृतप्रयोजनमाहुः ।

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा ।।७।।
कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत् ।
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ।।८।।
विकलत्वं तथास्वास्थ्यं प्रकृतिः प्राकृतं न हि ।
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः ।।९।।
सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् संन्यासेन विशेषितात् ।
भावना साधनं यत्र फलं चापि तथा भवेत् ।।१०।।
तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठन्त्येव न संशयः ।
बहिश्चेत्प्रकटः स्वात्मा वह्निवत्प्रविशेद्यदि ।।११।।
तदैव सकलो बन्धो नाशमेति न चान्यथा ।
गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति हि ।।१२।।
भगवान् फलरूपत्वान्नात्र बाधक इष्यते ।
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर्न विरुध्यते ।।१३।।
दुर्लभोयं परित्यागः प्रेम्णा सिध्यति नान्यथा ।।१३$^{1}/_{2}$।।

निरोधलक्षणे 'हरिर्मूर्तिः सदा ध्येया संकल्पादपि तत्र ही'त्याद्युक्तप्रकारेणान्तररमणान्तःपातिसंयोगविशेषानुभवेनोत्पन्नस्योत्कण्ठाविशेषस्य विषयीभूतानां भगवत्स्वरूपनिष्ठतत्तत्पदार्थानामनवाप्तेर्भवति हि विरहस्तदनुभवाय परित्यागः प्रशस्त इत्यर्थः । प्रयोजनमुक्त्वा प्रकारमाहुः । अत्रास्मिन् परित्यागे वेदादिषु प्रसिद्धः स वेशो बन्धुजनकृतबन्धनाशनिमित्तत्वेनैव स्वीकार्यः, न तु संस्कारत्वेनेत्यर्थः ।

इस प्रकार से यहाँ तक आचार्यचरणों ने परित्याग करने के अन्य दूसरे प्रयोजनों को गिना कर उन प्रयोजनों से परित्याग करने में दूषण कहा और अब इसके आगे आपश्री पुष्टिमार्गीयपरित्याग किस प्रयोजन से करना चाहिए, यह बता रहे हैं।

इसमें आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, निरोधलक्षण में *"हरिर्मूर्तिः सदा ध्येया(17)"* इस श्लोक में कहे प्रकारानुसार अन्तःकरण में होने वाले रमण के समय प्रभु के संग होने वाले संयोग का विशेष अनुभव होने के समय उत्पन्न होनेवाली एक विशेष प्रकार की उत्कण्ठा उत्पन्न होती है, यानि भगवत्स्वरूपसम्बन्धी जिन-जिन विषयों की उत्कण्ठा होती है, जब वे पदार्थ प्राप्त नहीं होते, तब जो विरह उत्पन्न होता है; ऐसे प्रकार के विरह का अनुभव करने के लिए परित्याग करना प्रशंसनीय है- यह अर्थ है।

पुष्टिमार्गीयपरित्याग का प्रयोजन कह कर अब आगे आचार्यचरण उसका प्रकार बता रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- इस मार्ग के परित्याग में वेद आदि में प्रसिद्ध जो गेरुआ वस्त्र धारण किया जाता है, वह वेष परिवारजनों के द्वारा परित्याग में खड़े किए जाने वाले बन्धनों का नाश करने के लिए ही स्वीकार किया गया है; किसी संस्कार के रूप में नहीं- यह अर्थ है।

काषायदण्डादिधारणं तत्प्रयोजनं चोक्त्वा गुरुमाहुः । भगवदर्थमेव सर्वविषयत्यजनात् कौण्डिन्यो गुरुः, गोपिकास्तु सर्वप्रकारेषु गुरव इत्याशयः । गुरुमुक्त्वा साधनमाहुः साधनं चेति, । तत् पुष्टिमार्गीयरसिकेषु प्रसिद्धमित्यर्थः । किं तदत आहुः भाव इति । ननु भावे किं साधनमित्याकांक्षायामाहुः भावनयेति । भावे भावनैव साधनम्, अन्यत् साधनान्तरं तद्रसिकसम्मतं नेत्यर्थः । तथा च ज्ञानमार्गीयपरित्यागे श्रवणमननादिभिरुत्पन्नं ज्ञानं मोक्षे साधनं, तथा भावनया सिद्धो भावः स्वरूपानन्दे साधनमिति भावः ।

गेरुआ वस्त्र एवं दंड आदि धारण करना एवं वह क्यों धारण किया जाता है, यह सभी कुछ बताने के पश्चात् अब आचार्यचरण पुष्टिमार्गीयपरित्याग के गुरु के विषय में बता रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- भगवान के लिए सभी कुछ त्याग देने के सीमित अर्थ में ही कौण्डिन्यऋषि पुष्टिमार्गीयपरित्याग में गुरु कहे गए हैं; परन्तु गोपिकाएँ तो सभी प्रकार से हर एक दृष्टिकोण से इस मार्ग की गुरु कही गयीं हैं- यह आपश्री का आशय है। गुरु के विषय में कह कर आगे आपश्री एतन्मार्गीयपरित्याग के साधन क्या हैं, यह **साधनं च तत्** इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। **तत्** का अर्थ है- भाव ; यानि पुष्टिमार्गीयरसिकजनों के विषय में जो प्रसिद्ध साधन है, जिसे भाव कहा जाता है, वही इस परित्याग का साधन है यानि इसी भावरूपसाधन से यह पुष्टिमार्गीयपरित्याग सिद्ध होता है। अब ऐसा भाव प्राप्त होने में क्या साधन है, तो इसे आपश्री **भावनया** शब्द से कह रहे हैं। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, ऐसा भाव प्राप्त होने में भगवद्भावना ही साधन है, इसके अतिरिक्त अन्य साधन इस मार्ग के रसिकों को स्वीकार्य नहीं हैं- यह अर्थ है। इन सभी का फलितार्थ यह है कि, जिस प्रकार ज्ञानमार्गीयपरित्याग में श्रवणमनन इत्यादि से उत्पन्न होने वाला ज्ञान मोक्षप्राप्ति में साधन बनता/होता है, ठीक उसी प्रकार भगवद्भावना करने के द्वारा सिद्ध हुआ भगवद्भाव स्वरूपानन्द प्राप्त होने में साधन बनता/होता है- यह भाव है।

साधनमुक्त्वेदानीमस्य ज्ञानिसदृशी दशान्यादृशी वेत्यत आहुः । विकलत्वमात्माद्यनुसन्धानराहित्यम् । अस्वास्थ्यमभिलषितार्थानवाप्तेर्यावद्विषयनिर्वेदादनिवृत्तिरिति यावत् । तथा च सङ्कल्पप्रतिभाते भगवति जातासु चक्षूरागचित्तासङ्गसङ्कल्पनिद्राच्छेदतनुताविषयनिवृत्तित्रपानाशोन्मादमूर्छान्तासु नवस्ववस्थासु विषयनिवृत्तिपर्यन्तानामस्वास्थ्यपदेन त्रपानाशोन्मादमूर्छानां विकलत्वमित्यनेनोक्तिरिति ध्येयम् । एवं च अस्वास्थ्यं विकलत्वं च भावनासिद्धभाववतः प्रकृतिः स्वभावः स्वाभाविकमिति यावत् । हि निश्चयेन प्राकृतं न, प्राकृताः सत्वरजस्तमोगुणास्तत्सम्बन्धि न भवतीत्यर्थः ।

पुष्टिमार्गीयपरित्याग के साधन कहकर अब आचार्यचरण यह बता रहे हैं कि, ऐसा परित्याग करने वाले की दशा ज्ञानियों के समान होती है या किसी और प्रकार की दशा होगी। **'विकलत्वं'** का अर्थ होता है- अपनी आत्मा, अपनी देह आदि का अनुसन्धान न रहना। **'अस्वास्थ्यम्'** का अर्थ होता है- जो अभिलषित है, वह प्राप्त न होता होने के कारण जितने विषय हैं उन सभी से वैराग्य हो जाना, उनमें आनन्द न आना। इसका तात्पर्य यह है कि, मन में किए गये संकल्प के अनुसार अनुभव में आने वाले भगवान के प्रति उत्पन्न होने वाली (1)चक्षुराग(2)चित्तासंग(3)संकल्प(4)निद्राच्छेद(5)तनुता(6)विषयनिवृत्ति(7)त्रपानाश(8)उन्माद(9)मूर्च्छा तक की नौ अवस्थाओं में से 'विषयनिवृत्ति' तक की छह अवस्थाएँ तो आपश्री ने 'अस्वास्थ्य' पद के द्वारा कही हैं और (7)त्रपानाश(8)उन्माद(9)मूर्च्छा ये तीन अवस्थाएँ होनी आपश्री ने 'विकलत्वं' शब्द के द्वारा बतायी हैं- यह ध्यान में रखना चाहिए। इस प्रकार से 'अस्वस्थता' और 'विकलता' इत्यादि दशाएँ भगवद्भावना के द्वारा सिद्ध हुए भाव वालों की प्रकृति, उनका स्वभाव ही होता है यानि ये उनमें स्वाभाविकतया ही होते हैं। **हि** शब्द का प्रयोग करके आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, निश्चितरूप से ये अवस्थाएँ प्राकृत नहीं समझनी चाहिए यानि लौकिक सत्त्वरजतम आदि गुणों के कारण उत्पन्न नहीं हुई होती हैं।

ननु गुणजन्यज्ञानेनापि जडोन्मत्तसदृग्व्यवस्थाजननात् भवति विकलत्वं, तथा तमोगुणजन्यप्रमादमोहाज्ञानैरपि तज्जायते । एवं रजोगुणजन्यलौकिकविषयलोभे सति लौकिकविषयानवाप्तेरपि स्यादस्वास्थ्यम् । तथा चैतेपि विकलत्वास्वास्थ्ये प्राकृते एवेत्याशंक्याहुः ज्ञानमिति । एवं वर्तमानस्य विकलत्वास्थास्थ्यसहितैतादृशभाववतो निर्गुणमपि ज्ञानं बाधकं, गुणा अपि बाधकाः, तथा च यद्यप्रतिबध्यं निर्गुणं ज्ञानं स्यात्तदैकात्म्यस्फूर्त्यादयः , यदि च सत्वरजस्तमांसि स्युस्तद

सगुणज्ञानलौकिकविषयलोभप्रमादमोहाज्ञानैश्च प्रतिबन्धजननात् अयं भाव एव नोत्पद्येतेत्यन्यथानुपपत्त्या ज्ञानस्य गुणानां चाभावनिश्चयाद्विकलत्वास्वास्थ्ययोः प्राकृतत्वं दुर्वचमित्याशयः ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, सत्त्वगुण का ज्ञान होने पर भी ज्ञानी जड़ एवं उन्मत्त व्यवहार करने लगता है एवं उसे विकलता होती दिखाई पड़ती ही है, और उसी प्रकार तमोगुण के कारण उत्पन्न होने वाले प्रमाद-मोह-अज्ञान इत्यादि के द्वारा भी तो विकलता होती है; इसी प्रकार रजोगुण के कारण उत्पन्न होने वाले लौकिकविषयों के प्रति लोभ जागने पर एवं फिर उन लौकिकविषयों को प्राप्त न कर पाने के कारण भी तो अस्वास्थ्य अनुभूत होता है; इसलिए किसी को शंका यह होती है कि, ठीक इन सभी की ही तरह इस पुष्टिमार्गीयपरित्याग की अवस्था में उत्पन्न होने वाली 'विकलता' और 'अस्वस्थता' भी प्राकृत यानि लौकिक ही होगी- यदि कोई ऐसी शंका करे, तो आपश्री **ज्ञानं** इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कर रहे हैं। **एवं वर्तमानस्य ज्ञानं गुणाश्च बाधकाः** इत्यादि शब्दों का अर्थ है- विकलता और अस्वास्थ्य के सहित इस प्रकार के विरहभाव का अनुभव करने वाले के लिए निर्गुणज्ञान भी उसके भाव में बाधक होता है; भगवद्गुणानुवाद भी बाधक होता है; क्योंकि यदि निर्बाधरूप से भगवान का निर्गुणज्ञान हो जाये, तो भगवान से एकात्म्य की स्फूर्ति होने लगेगी, यानि जब अपने में और भगवान में अंतर ही नहीं लगेगा और भक्त दोनों को एक ही मानने लगेगा, तब उसे भगवान से विरह का अनुभव कैसे हो पायेगा ? और यदि उसे सत्त्व-रज-तम आदि लौकिकगुणों से संग हो जाये, तो सगुणज्ञान, लौकिकविषय, लोभ, प्रमाद, मोह एवं अज्ञान द्वारा प्रतिबन्ध उत्पन्न हो जाने के कारण उसे भगवान के प्रति विरह का ऐसा भाव ही उत्पन्न नहीं हो पायेगा; इसलिए समझें कि यदि उसे ऐसा उच्चविरहभाव का अनुभव हो रहा है, तो यह निश्चित होता है कि, उसे न तो निर्गुणज्ञान हुआ है और न ही उसमें सत्त्वरजतम आदि गुणों का प्रभाव ही है, अतः उसे होने वाली विकलता और अस्वस्थता को प्राकृत/लौकिक कहना ठीक नहीं है।

न च गतिस्मितप्रेक्षणेत्यादिनिरूपितैकात्म्यस्फूर्तिरपि प्रतिबन्धिकास्त्विति वाच्यम् । तस्यास्तूत्तरसामयिकभावान्तरेण प्रतिबध्यत्वात् । यद्यपि पुष्टिमार्गीयैकात्म्यस्फूर्तिलक्षणं रसान्तःपाति निर्गुणं ज्ञानमप्रतिबध्यमप्रसिद्धमेव, तथापि 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत'मिति भगवद्वाक्याद्भगवद्विषयकं भगवच्चरणारविन्दरूपाक्षरविषयकं च ज्ञानं सत्त्वगुणजन्यमपि ज्ञानं निर्गुणमेव, तच्चाप्रतिबध्यं सत् प्रतिबन्धकमिति बोध्यम् । एवं च निर्गुणं ज्ञानं प्रतिबन्धकं यत्र, तत्र गुणानां प्रतिबन्धकत्वे किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायप्रदर्शनपूर्वकं गुणानां प्रतिबन्धकत्वाय ज्ञानमित्युक्तमिति विभावनीयम् ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, *"गतिस्मितप्रेक्षण(श्री0भा-10/30/3)"* इस श्लोकानुसार भी तो गोपिकाओं में एकात्म्य की स्फूर्ति(भगवान एवं अपने आप को एकमेक मानने लगना)देखी गयी है, अतः फिर उसे भी उनके भाव में प्रतिबन्ध मानो !! नहीं..... ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनकी एकात्म्य की स्फूर्ति तो इसके पश्चात् आने वाले वाक्यों में ही भंग हो गयी थी। यद्यपि ये बात अवश्य है कि, पुष्टिमार्गीय एकात्म्यस्फूर्तिरूपी निर्गुणज्ञान भी रस के अन्तर्गत ही माना गया है एवं किसी के वशीभूत नहीं(अप्रतिबध्य)है एवं केवल गोपिकाओं में ही प्रसिद्ध है और अन्यत्र अप्रसिद्ध है, तथापि विचार करिए कि जहाँ *"मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतं(श्री0भा-11/25/24)"* इस भगवद्वाक्यानुसार भगवत्सम्बन्धी एवं भगवच्चरणारविन्दरूप अक्षरब्रह्मसम्बन्धी ज्ञान जो कि भले ही सत्त्वरजतम आदि लौकिकगुणों से उत्पन्न हुआ है, तथापि भगवान ने उपर्युक्तवाक्य में अपने आप से सम्बन्धित होने के कारण उसे भी निर्गुणज्ञान बताया है और ऐसा निर्गुणज्ञान भी विरह की उच्चकोटि पर जा पहुँचे भक्त के लिए जब प्रतिबन्धक होना कह दिया गया, वहाँ लौकिकगुणजन्यज्ञान तो उसके विरहभाव में प्रतिबन्धक होना ही होना है, यों आचार्यचरणों ने कैमुतिकन्याय को दिखाते हुए गुणों को प्रतिबन्धक बताने के लिए सीधे-सीधे 'ज्ञान' को ही प्रतिबन्धक कह दिया है, यह समझना चाहिए यानि विरह की उच्चदशा पर पहुँचने पर जब निर्गुणज्ञान ही प्रतिबन्धक होता है, वहाँ 'गुण' तो प्रतिबन्धक होने अपने आप ही सिद्ध हो जाते हैं- यह अर्थ है।

ननु रजस्तमसोरास्तां लौकिकविषयलोभादिजननेन प्रतिबन्धकता, सत्वस्य तु ज्ञानमात्रजननेन कथं प्रतिबन्धकतेत्याशङ्क्य तुरीयाश्रमविहितश्रवणादिना सत्वगुणोद्रेकात् जातस्य सगुणज्ञानस्य मोक्षरूपफलान्तरविषयकेच्छाजननपूर्वकं सत्यलोकलक्षणफलजननात् प्रतिबन्धकत्वमाहुः । विशेषितात् सहकृतादित्यर्थः ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, 'रज' और 'तम' तो लौकिकविषय, लोभ आदि उत्पन्न करते हैं इसलिए चलो उन्हें विरहभाव में प्रतिबन्धक भले ही मान लिया जाय, परन्तु, सत्त्वगुण तो केवल ज्ञान उत्पन्न करता है, अतः उसे कैसे प्रतिबन्धक माना जाय !! ऐसी आशंका करके आचार्यचरण यह कह रहे हैं कि, चतुर्थाश्रम में बताए गए श्रवणादि के द्वारा सत्त्वगुण उमड़ने से जब सगुणज्ञान

उत्पन्न होता है, तब कर्ता के मन में मोक्षरूप अन्यान्य फल प्राप्त करने की इच्छा पैदा कराते हुए सत्यलोक प्राप्त करने रूपी फल उत्पन्न कराता है, जो फल इस पुष्टिमार्गीयफल में प्रतिबन्धक होता है, यानि **संन्यासेन विशेषितात्** इत्यादि शब्दों का अर्थ है- संन्यासाश्रम का पालन करने के साथ-साथ प्राप्त हुए ज्ञान से तो केवल सत्यलोक में स्थान मिलने रूपी फल प्राप्त होता है।

नन्वत्र ब्रह्मणा सह मोक्षोपि, ततोर्वाक् ब्रह्मलोकीयसुखानुभव इति फलद्वयजननेन पुष्टिमार्गादुत्कृष्ट इत्यत आहुः । यत्र भावे यथा भावना कारणं तत्र तथा फलमपि स्यात्, तथा च भावनया यथा भावो जन्यते, तथा भावेन स्वफलमपि जन्यत इत्यर्थः । एवं च भावनयास्मिन्नेव जन्मनि भावो जन्यते यथा, तथा भावेन भजनानन्दलक्षणं स्वफलमपि झटित्येतद्देहावसानाव्यवहितोत्तरक्षण एव जन्यत इति भावः ।

किसी को एक शंका यह होती है कि, ज्ञानमार्गीयपरित्याग में तो ब्रह्मा के संग मोक्ष भी प्राप्त होता है एवं उससे पहले ब्रह्मलोक के सुख का भी अनुभव होता है, अतः 'ब्रह्मलोक में सुख का अनुभव करना' एवं 'ब्रह्मा के संग मोक्षप्राप्त होना' ये दो फल मिलते होने के कारण यह फल तो पुष्टिमार्गीयपरित्याग से प्राप्त होने वाले फल से भी उत्कृष्टफल सिद्ध हुआ !! तो आचार्यचरण आगे **भावना साधनं यत्र** इत्यादि शब्दों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इससे आपश्री को कहना यह है कि, जहाँ जिस भाव में जैसी भावना कारण होगी, वहाँ फल भी वैसा ही प्राप्त होगा; इसका अर्थ यह है कि, जिस प्रकार भावना करने से भाव उत्पन्न किया जाता है, उसी प्रकार भाव से फल भी उत्पन्न क़िया जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, जिस प्रकार भगवद्भावना करने से इसी जन्म में भाव उत्पन्न कर लिया जाता है, उसी प्रकार उस भाव द्वारा अपना भजनानन्दरूपी फल भी झट से प्राप्त हो जाता है, यानि देहावसान होने ही तुरन्त भजनानन्दरूपी फल प्राप्त हो जाता है- यह भाव है, अर्थात् ज्ञानमार्गीयों की भाँति ब्रह्मा की मुक्ति होने तक रुकना नहीं पड़ा। वहाँ ब्रह्मलोक के सुख का अनुभव मिलता है और पुष्टिभक्तिमार्ग में भजनानन्द का अनुभव।

एवं भावस्योत्कर्षमुक्त्वा ज्ञानस्यापकर्षमाहुः तादृशा इति । अप्राप्तमोक्षा एवेत्यर्थः । इत्थं चानेकजन्मक्रियमाणयोगाभ्यासादिभिर्ज्ञानं विलम्बेन जन्यते यथा, तथा ज्ञानमपि ब्रह्मस्थितिपर्यन्तं ब्रह्मलोके स्थापयित्वा ब्रह्मणा सह मोक्षजननाद्विलम्बेनैव स्वफलमपि जनयतीत्येवमादिरूपाद्भावात् भावसाधनात् भावफलाच्च स्फुटतर एव ज्ञाने ज्ञानसाधने ज्ञानफले चापकर्ष इति भावः ।

इस प्रकार से भगवद्भाव की उत्कृष्टता कह कर अब आचार्यचरण आगे **तादृशाः** इत्यादि शब्दों से ज्ञान का अपकर्ष बता रहे हैं। यहाँ **तादृशाः** से आपश्री का तात्पर्य उनसे ही है, जिन्हें अभी मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है। यानि जिस प्रकार अनेक जन्मों में किए गए योगाभ्यास इत्यादि के द्वारा ज्ञान विलम्ब से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार स्वयं ज्ञान भी जीव को ब्रह्माजी की मुक्ति होने तक उसे ब्रह्मलोक में रख कर ब्रह्माजी जब मुक्त होंगे तब उनके ही संग मोक्ष देता होने के कारण अपना फल विलम्ब से ही देता है; इस विवेचन द्वारा भगवद्भाव, भगवद्भाव के साधन और भगवद्भाव के फल की तुलना में स्पष्टतया ही ज्ञान, ज्ञान के साधन और ज्ञान से प्राप्त होने वाले फल में निम्नता सिद्ध हो जाती है- यह भाव है।

नन्वास्तां तावत् भावस्त्वरया फलजनकः, परन्तु यदुक्तं स्वसाधनीभूतभावनातः सत्वरमुत्पन्नत्वात् स्वफलमपि सत्वरमेव जनयति भावस्तन्न साधु । नहि वर्षशतेन पुष्टो दृढदण्डो घटजननेऽचिरयति, नवा सत्वरमुत्पन्नं कपालं सति प्रतिबन्धे सज्जीभवति घटमुत्पादयितुम्, तथा च को हेतुर्भावस्य सत्वरफलोत्पादन इत्याशङ्क्य आहुः । यथा दारुण्यभिभूतो वह्निर्मथनेनोद्भूतः सन्नन्तःप्रविष्टः सर्वं भस्मसात्करोति तथाविर्भूतो भगवान् सर्वमप्यविद्यारूपं बन्धं नाशयतीत्यर्थः । तथा च व्यापकत्वात् सर्वत्रैव भगवानस्ति, यदा तु भक्त्या अन्तःकरणे प्रकटीभूयान्तःकरणे प्रकटो भवति, न कदाचित्तिरोधत्ते इति यावत्, तदा झटित्यविद्यानाशात् स्वरूपानन्दानुभव इति भावः । न चेति ज्ञानमार्गीयप्रकारेण नैवमित्यर्थः । ज्ञाने तु स्वापप्रबोधवदुदयानुदयाभ्यां चिरेण ब्रह्मणा सह मुक्तिरिति भावः ।

किन्तु कोई पूर्वपक्षी यहाँ यह शंका करता है कि, पुष्टिमार्गीयभगवद्भाव से शीघ्र ही फलप्राप्ति हो जाती है, यह बात तो ठीक है, परन्तु, आपने जो ये कहा कि, 'भाव उत्पन्न करने में साधनीभूत भावना के द्वारा भाव **शीघ्र ही** उत्पन्न हो जाता है' एवं 'वह भाव अपना फल भी **शीघ्र ही** उत्पन्न कर देता है'- यह बात ठीक नहीं लगती। अर्थात् पूर्वपक्षी ये कहता है कि, आपने संक्षेप में यह कहा कि, "जो वस्तु जितनी शीघ्रता से खुद उत्पन्न हुई है, वह वस्तु दूसरी वस्तु को भी उतनी ही शीघ्रता से उत्पन्न कर देगी"- यह बात ठीक नहीं लगती। इस कारण ठीक नहीं लगती क्योंकि इस बात को यदि एक उदाहरण से समझने का प्रयास करें, तो ध्यान दें कि सौ वर्ष पुराना दंड भी घड़े को उतने ही समय में बना पायेगा, जितना समय

नये दंड को लगेगा, यानि ऐसा तो है नहीं कि पुराना दण्ड घड़ा बनाने में देर लगायेगा और नया दण्ड शीघ्र बना देगा, अपितु दोनों ही दण्ड घड़ा बनाने में एक समान ही समय लेंगे- यह अर्थ है, इसलिए पूर्वपक्षी का कहना है कि, यह आवश्यक नहीं है कि शीघ्र उत्पन्न हुआ भाव भी उतनी ही शीघ्रता से फल भी उत्पन्न कर देगा; साथ ही साथ यह भी है कि भले ही मिट्टि का पिंड शीघ्रता से तैयार हुआ है, तथापि यदि कोई रुकावट आ जाय तो उस पिंड से उतनी शीघ्रता से घड़ा नहीं बन पायेगा; इसलिए आपने जो कहा कि- यदि भावनारूप साधन द्वारा भाव शीघ्रता से उत्पन्न हुआ है, तो वह भाव भी उतनी ही शीघ्रता से फल भी पैदा कर देगा- यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि यदि प्रतिबन्ध आ जाय तो फलप्राप्ति रुक भी सकती है। यदि कोई इस प्रकार से शंका करता तो आचार्यचरण ओग यह स्पष्ट कर रहे हैं कि, भक्तिमार्ग में शीघ्र फल कैसे प्राप्त होता है। आपश्री इस अग्नि का उदाहरण देकर समझा रहे हैं। आपश्री अग्नि के उदाहरण से यह बताना चाह रहे हैं कि, जिस प्रकार अग्नि भले ही कितने समय से भी काष्ठ के भीतर क्यों न रही हो, तथापि वह काष्ठ को जला नहीं पाती। परन्तु जब काष्ठ का घर्षण किया जाता है, तब वही अग्नि घर्षण के द्वारा प्रकट होकर पुनः काष्ठ में प्रविष्ट होती है, तब उसे पूरी तरह से भस्मीभूत कर देती है; ठीक उसी प्रकार भगवान भी अन्तःकरण में प्रकट होकर अविद्यारूपी समस्त बन्धनों का नाश करते हैं-यह अर्थ है। यह इस प्रकार कि, व्यापक होने के कारण भगवान तो सर्वत्र विद्यमान हैं ही, परन्तु, जब वे भक्ति द्वारा अन्तःकरण में प्रकट होकर अन्तःकरण में प्रकटरूप से बिराजे रहते हैं, फिर कभी भी तिरोहित नहीं होते, तब झट से उनकी अविद्या नष्ट हो जाती है और उन्हें स्वरूपानन्द का अनुभव होता है- यह अर्थ है। **न च** से आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, ज्ञानमार्ग में इस प्रकार से सभी कुछ इतनी शीघ्रता से नहीं होता- यह अर्थ है। ज्ञानमार्ग में तो ज्ञान सुप्तप्रबुद्धन्यायानुसार कभी उत्पन्न होता है तो कभी समाप्त भी हो जाता है, तो कभी फिर से उत्पन्न हो जाता है, अतः चिरकाल में जाकर ब्रह्मा जब मुक्त होते हैं, तब ब्रह्मा के संग ज्ञानी की मुक्ति होती है- यह भाव है। सुप्तप्रबुद्धन्याय का तात्पर्य होता है, सोने एवं जागने की अवस्था। व्यक्ति जब सोया होता है तब जाग्रत अवस्था की समस्त क्रियाएँ बंद हो जाती है और जब जाग्रत अवस्था में होता है तब सोते समय वाली निष्क्रिय अवस्था नहीं रहती।

नन्वविद्याबद्धस्य जीवनं सम्भवति, नत्वबद्धस्य । तथा च बन्धे नष्टे किं प्रयोजनं जीवनस्य, किं वा जीवनसाधनमिति आशङ्क्याहुः । तुशब्दात् कारणान्तरव्यावृत्तिः । भगवद्गुणा एव जीवनं सम्पादयन्ति । हि निश्चितोयमर्थ इत्यर्थः । ननु गुणाः किमर्थं जीवयन्तीत्यत आहुः सङ्गेति । सङ्गराहित्याद्विरहात् प्रयोजनीभूतादित्यर्थः । तथा च भजनानन्दानुभवयोग्यतासम्पादकविरहानुभवसिद्धिनिमित्तं गुणा एव जीवनार्थं भवन्तीत्याशयः ।

किन्तु एक शंका यह होती है कि, जो अभी अविद्या से बँधा हुआ है, उसी को जीवन जीना पड़ता है, अविद्या से मुक्त हो जाने वाले को नहीं। अतः शंका यह होती है कि, जब जीव विरह की इतनी उच्च अवस्था में पहुँच गया और भगवान अग्नि की भाँति उसके अन्तःकरण में प्रकट ही हो गये और जीव के अविद्या के सारे बन्धन भी नष्ट हो गए, फिर उसके जीवन जीने का क्या प्रयोजन रह गया, या मान लो इसके बाद भी वह जीवन जीता है तो अपने जीवन को टिकाने के लिए उसके पास क्या साधन होता है? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण **गुणास्तु संग़राहित्यात्** इत्यादि शब्दों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। **तु** शब्द से ज्ञात होता है कि, भगवद्गुणगान के अतिरिक्त उसका जीवन अन्य किसी कारण से नहीं टिकता, भगवद्गुणगान ही उसका जीवन टिका कर रखता है। **हि** शब्द इस अर्थ की निश्चितता को बताने के लिए है। किन्तु प्रश्न यह होता है कि, आखिर भगवद्गुण किसलिए जीवन देते हैं ? तो आपश्री इसका समाधान **संग़राहित्यात्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। **संगराहित्यात्** का अर्थ है- अभी तो केवल अविद्या का बन्धन ही नष्ट हुआ है, इसके आगे की फलदशा आनी तो शेष है अतः भगवान अभी उसे इसके आगे का फलदान करना चाहते हैं इसलिए फलदशा आने तक भगवद्विरह के कारण यानि भगवान का संग़ न मिला होने के कारण भगवद्गुण जीव का जीवन टिका कर रखते हैं। इसका अर्थ ये हुआ कि, भजनानन्द का अनुभव कराने वाली योग्यता देने वाले भगवद्विरह का अनुभव सिद्ध कराने के लिए ही भगवद्गुण जीवन टिकाए रखने में सहायक होते हैं- यह आपश्री का आशय है।

ननु सर्वसमर्थो भगवान् यथा गुणैर्जीवयति, तथा संयोगेनैव कुतो न जीवयति, यतः किञ्चित् स्वास्थ्यमपि स्यादित्याशङ्क्याहुः भगवानिति । यदि संयोगं सम्पादयेत्तदा भजनानन्दानुभवयोग्यताजनकविरहनाशजननेनास्वास्थ्यापगमात्, स्वयमेव प्रतिबन्धकः स्यात्, तथा च फलरूपस्य स्वस्य स्वप्राप्तौ प्रतिबन्धकत्वं नोचितमित्यर्थः ।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि, भगवान तो सर्वसमर्थ हैं अतः जैसे वे अपने गुणगान के माध्यम से अपने भक्त के जीवन को

टिकाए रखते हैं, वैसे अपना संयोगसुख देकर उसे जीवन क्यों नहीं देते, जिससे कि उसे कुछ स्वस्थता भी मिले !! तो आपश्री इस शंका का समाधान **भगवान् फलरूपत्वात्** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, यदि भगवान उसे संयोगसुख दे दें, तो उसे भजनानन्द का अनुभव कराने वाली योग्यता देने वाले उसके विरहभाव का नाश हो जायेगा और उसकी अस्वस्थता भी टिकी नहीं रहेगी, जिस कारण वे उसके मार्ग में स्वयं ही प्रतिबन्धक सिद्ध होंगे; अतः भगवान तो स्वयं फलरूप हैं और अपनी प्राप्ति कराने में खुद उनका ही प्रतिबन्धक होना तो उचित नहीं है, इसलिए वे उसे संयोगसुख नहीं देते, यह अर्थ है।

नन्वतिक्लेशात् कदाचिद्धैर्येणास्य मनसि फलप्राप्तिसन्देहोदयजन्यमस्वास्थ्यं स्यात्तन्निवृत्त्यर्थं सन्देहनिवारकं वचनं वक्तव्यम्, यथा ब्रह्मानन्ददानार्थं यतमानं नारदं प्रति 'गन्ता मज्जनतामसी'त्युक्तवांस्तथेत्याशङ्क्याहुः स्वास्थ्येति । कर्तुमेव योग्यं न भवति यतोऽयं दयालुरनुग्रहकर्ता यतश्च स्वयं न विरुध्यते । विरोधी नातो हेतोः, तथा च स्वेच्छयानुगृह्य दुर्लभपरित्यागपर्यन्तं सर्वं सम्पादितवान्, अतो दयालुर्यतश्च स्वप्रापकभावोत्पतौ प्रतिबन्धकं न कृतवानतोऽविरोधी, इत्थं चाविरुद्धानुग्राहको भगवांस्तथैव मनः प्रेरयति यथा न सन्देहोदयः, न च तज्जन्यमस्वास्थ्यमिति तादृशवाक्यं प्रयोजनाभावान्न कर्तुमुचितमिति भावः ।

अब यहाँ दूसरा प्रश्न यह होता है कि, अतिक्लेश होने के कारण कदाचित् अधीरे होकर मन में 'फलप्राप्ति होगी या नहीं' ऐसा सन्देह हो जाए और उसके कारण उसे अस्वस्थता होती हो, तो उसकी अस्वस्थता को दूर करने के लिए भगवान को चाहिएं कि, वे उसके सन्देह का निवारण करने वाले वचन उससे कहें, जिस प्रकार से ब्रह्मानन्द का दान करने के हेतु से उन्होंने नारदजी को "*नारदजी ने कहा- भगवान ने अपनी मधुर वाणी द्वारा मेरे शोक को दूर करते हुए मुझसे कहा कि अब तुम इस प्राकृतमलिन शरीर को छोड़कर मेरे पार्षद बन जाओगे(श्री0भा-1/6/24)* " ये कहा था !! यदि ऐसी शंका होती हो तो, आचार्यचरण **स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यम्** इत्यादि शब्दों से इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, भगवान के लिए यह तो उचित ही नहीं है कि, वे उसे स्वास्थ्यपूर्ण वाक्य कहें, क्योंकि वे दयालु हैं, अपने भक्त पर अनुग्रह करने वाले हैं अतः वे अपने दयालुस्वभाव से विरुद्ध कार्य नहीं करते। वे अपने भक्त के विरोधी नहीं हैं अतः उन्होंने अपनी इच्छा से उसे अनुग्रहीत करके दुर्लभपरित्याग तक के सभी भाव सम्पादित किये हैं, अतः वे दयालु ही हैं और इसी कारण उन्होंने अपनी प्राप्ति कराने वाला भाव उत्पन्न होने में किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं खड़ा किया, इसलिए वे भक्त के अविरोधी हैं; इस प्रकार अपने भक्त से अविरुद्ध और उस पर अनुग्रह करने वाले भगवान उसी ढंग से भक्त के मन को प्रेरणा देते हैं, जिस प्रकार से उसे सन्देह न होने पाए, वैसे ढंग से प्रेरित नहीं करते कि जिसके कारण उसे फलप्राप्ति में सन्देह होकर अस्वस्थता लगने लगे, इसलिए कोई भी प्रयोजन सिद्ध न होता होने के कारण भगवान के लिए यह उचित नहीं है कि, वे उसे स्वाथ्यवाक्य कहें।

इदानीं प्रकृतपरित्यागाधिकारं वदन्त उपसंहरन्ति दुर्लभोयमिति । ज्ञानमार्गीयवैराग्यमिवात्र व्यसनरूपं प्रेमसाधकम् । तथा च प्रेमवानधिकारीत्यर्थः । नेति । प्रेमाभावेऽयं परित्यागः सिध्यत्येव नेत्यर्थः । दुर्लभो भगवदनुग्रहैकसाध्यत्वादुःप्राप इत्यर्थः ।।७-१३$^{1}/_{2}$।।

अब इसके पश्चात् पुष्टिमार्गीयपरित्याग में किसका अधिकार है, यह बताते हुए आपश्री **दुर्लभोयम्..... प्रेम्णा सिद्ध्यति** इत्यादि शब्दों से इसका उपसंहार कर रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- जैसे ज्ञानमार्ग में वैराग्य साधक होता है, वैसे यहाँ पुष्टिभक्तिमार्ग में व्यसनरूप भगवत्प्रेम ही साधक है। तात्पर्य यह कि भगवान से प्रेम करने वाले ही इस पुष्टिमार्गीयपरित्याग के अधिकारी हो सकते हैं। **न अन्यथा** का अर्थ है- यदि भगवान से प्रेम न हो, तो यह परित्याग सिद्ध ही नहीं हो सकता। इसे आपश्री दुर्लभ इसलिए कह रहे हैं, क्योंकि यह परित्याग केवल भगवदनुग्रह के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है अतः दुष्प्राप्य है- यह अर्थ है ॥ 7-13$^{1}/_{2}$॥

इत्थं प्रकृतमुपसंहृत्य ज्ञानमार्गीयसंन्यासे किञ्चिदाहुः ।

ज्ञानमार्गे तु संन्यासो द्विविधोपि विचारितः ।।१४।।
ज्ञानार्थमुत्तराङ्गं च सिद्धिर्जन्मशतैः परम् ।
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम् ।।१५।।
अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा ।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञाने न संन्यसेत् ।।१६।।
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम् ।।१६$^{1}/_{2}$।।

वेचारित इत्यविचारेपि सिद्धवन्निर्देशाद्वस्तुतोत्र न किञ्चिद्विचार्यमस्तीत्यर्थः । तथाहि, विद्वत्संन्यासस्य प्रकृतपरित्यागविचार एव प्रसङ्गाद्व्यवस्थोक्तैव सत्यलोक इत्यादिना । परमवशिष्यते विविदिषासंन्यासः, तस्य तूच्यत एवेति न किञ्चिदपि वेचार्यमस्तीत्याशयः । अवशिष्टव्यवस्थामाहुः ज्ञानार्थमिति । उत्तरस्य स्वजन्यज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमुत्पत्स्यमानस्य मोक्षस्य अङ्गपरम्परया प्रयोजकः, न तु साक्षाज्जनकः, तथा चैतादृशपरित्यागो ज्ञानोत्पत्त्यर्थं चेत्क्रियेतेत्याशयः । दोषमाहुः सिद्धिरिति । परन्तु तत्फलमनेकैर्जन्मभिर्भवतीत्यर्थः । ननु सत्वरमेव कुतो न भवतीत्यत आहुः ज्ञानं चेति । यज्ञादिर्यस्येदृशश्रवणाद्भवति, यतः साधनापेक्षं मतं कारणसापेक्षं स्वीकृतं सर्वैरित्यर्थः । तथा च यतेर्मानसमखानामावश्यकत्वात् कृतिपूर्वकमेव श्रवणमुचितम् । इत्थं च मानसमखश्रवणयोस्तत्तदिन्द्रियनिग्रहाधीनत्वात् निग्रहस्य सुतरामशक्यत्वाच्चानेकैरपि जन्मभिः सिद्धिर्दूरतरा ज्ञानस्येति भावः । उक्तं च निबन्धे 'तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात् परमात्मनः । विद्यां प्राप्नोत्युरुक्लेशः क्वचित् सत्ययुगे पुमा'निति ध्येयम् ।

इस प्रकार से पुष्टिमार्गीयपरित्याग की चर्चा समाप्त करके अब आपश्री अग्रिमश्लोक में ज्ञानमार्गीयसंन्यास के विषय में कुछ कह रहे हैं। आपश्री ने **विचारितः** शब्द के द्वारा यह कहा है कि, ज्ञानमार्ग में संन्यास का दो प्रकार से विचार किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि, यदि ज्ञानमार्गीयसंन्यास के विषय में एक घड़ी विचार न भी किया जाय, तब भी ज्ञानमार्गीयसंन्यास की बात तो बड़ी प्रसिद्ध है अतः वास्तव में तो इसमें विचार करने जैसा कुछ है ही नहीं। वह यों कि, पहले प्रकार में यानि विद्वत्संन्यास के विषय में तो आपश्री ने इस पुष्टिमार्गीयपरित्याग का विचार करने के अंतर्गत ही प्रसंगानुपात्त दसवें श्लोक में सत्यलोक आदि की चर्चा करके कह देया है। अब बचा विविदिषासंन्यास, जिसके विषय में अब आगे आपश्री विचार कर ही रहे हैं अतः अब ज्ञानमार्ग के विषय में वेचार करने जैसा शेष कुछ नहीं रहा। विविदिषासंन्यास के विषय में जो व्यवस्था बतानी अवशिष्ट रह गयी थी, उसे आपश्री **ानार्थम्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। विविदिषासंन्यास द्वारा ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् उस ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है अतः वेविदिषासंन्यास मोक्ष में साक्षात् प्रयोजक न होकर अंगपरम्परा से प्रयोजक बनता है ; और यदि विविदिषासंन्यास ज्ञानप्राप्ति करने द्देश्य से ग्रहण किया जाता है, तो इसमें रहे दोष को आपश्री **सिद्धिः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे कि, ज्ञानप्राप्ति के लिए विविदिषासंन्यास ले तो लें, परन्तु, इसमें फल अनेक जन्मों के पश्चात् प्राप्त होता है। शीघ्र फल प्राप्त क्यों हीं होता ! तो आपश्री **ज्ञानं च** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री का कथन यह कि, ज्ञान तो यज्ञ करते हुए श्रवणकीर्तन करने से प्राप्त होता है, क्योंकि सभी ने यह माना है, स्वीकार किया है कि ज्ञानप्राप्ति को साधनों की अपेक्षा रहती है यानि साधन करने के पश्चात् ज्ञानप्राप्ति होती है। वह इस प्रकार कि, यति/संन्यासी के लिए मानसयज्ञ करने का निर्देश दिया गया है अतः संन्यासी को मानसिकयज्ञ करके ही श्रवण करना चाहिए। और मानसयज्ञ और श्रवण ये दोनों तत्तत् इन्द्रियों का निग्रह करने के अधीन होते हैं, यानि इन्द्रियों का निग्रह हो जाय तभी सिद्ध हो पाते हैं और इन्द्रियों का निग्रह कर पाना तो उल्टे और भी अशक्य होता है अतः अनेक जन्मों में जाकर इन्द्रियों पर निग्रह सिद्ध हो पाता है, फिर ज्ञानप्राप्त होने की बात तो दूर रही- यह भाव है। आचार्यचरणों ने निबन्ध में *"तपसा वेदयुक्त्या च"* (शा0प्र0-63) यह कहा भी है, जिसको ध्यान में रखना चाहिए।

ममेवार्थमाहुः अत इति । सत्ययुगे कदाचिदपि सिद्धिः, कलौ तु पश्चात्तापातिरिक्तं किमपि फलं न भवतीत्याशयः । ति । अस्मिन्नर्थे न क्वाचिद्विप्रतिपत्तिरित्यर्थः । एवमत्रेष्टसिद्ध्यभावमात्रं न, किन्त्वनिष्टसिद्धिरपि भवतीत्याहुः ाषण्डित्वमिति । यथोक्ताश्रमधर्माणामनाचरणाद्वेदमार्गाच्च्युतेः पाषण्डित्वं, चकारान्नरकोपि स्यादित्यर्थः ।

सी अर्थ को आपश्री **अतः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- सत्ययुग में तो कदाचित् ज्ञान प्राप्त हो भी सकता ा, परन्तु, कलिकाल में तो पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ फल प्राप्त नहीं होगा- यह आशय है। **नान्यथा** का अर्थ है- इतने वेवेचन के पश्चात् अब उपर्युक्त विषय में कोई भी शंका नहीं रह जाती। इस प्रकार से इस पूरी ज्ञानमार्गीय प्रक्रिया में इष्टसिद्धि ो खैर नहीं ही होगी परन्तु अनिष्ट भी होगा- यह कहने के लिए आपश्री **पाषण्डित्वं** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री ह कहना चाह रहे हैं कि, जिस प्रकार के आश्रमधर्म को करना कहा गया है, वैसा आचरण न करने से वेदमार्ग से च्युत हो जायेंगे जेससे पाखण्डी कहलायेंगे, **च** शब्द से समझना चाहिए कि नरक भी भोगना पड़ेगा।

पसंहरन्ति तस्मादिति । ज्ञाने ज्ञानमार्गे संन्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः । इत्थमकर्तव्यत्वसाम्यादुपस्थितज्ञानमार्गीयसंन्यासस्य थूणानिखननन्यायेन पुनरकर्तव्यतामाहुः सुतरामिति । कलिदोषप्राबल्यात् सुतरां न कर्तव्य इति स्थितं, थममेवोक्तमभून्मयेत्याशयः । तथा चोभावपि न कर्तव्यौ, समानदोषत्वादिति भावः ।।१४-१६$^{१}/_{२}$।।

इतना सब कहकर अब आपश्री **तस्मात्** इत्यादि शब्दों से ज्ञानमार्गीयसंन्यास की चर्चा समाप्त कर रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- **ज्ञाने** अर्थात् ज्ञानमार्ग में संन्यास नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार से न करना कहकर आचार्यचरण स्थूणानिखननन्याय द्वारा एक बार फिर से ज्ञानमार्गीयसंन्यास को न करना **सुतरां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री यह आज्ञा कर रहे हैं कि, कलिदोषों की प्रबलता के कारण तो और भी नहीं लेना चाहिए; आपश्री ने **सुतरां न**(और भी नहीं लेना चाहिए)इसलिए कहा क्योंकि ज्ञानमार्गीयसंन्यास को न करने की बात तो आपश्री आरंभ में ही कह चुके हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि, कर्ममार्ग एवं ज्ञानमार्ग इन दोनों मार्गों में परित्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इन दोनों में दोष तो एक समान ही हैं ॥14-16$^1/_2$॥

एवं मार्गान्तरीययोः सदोषत्वमुक्त्वा प्रकृतस्य सयुक्तिकं निर्दोषत्वमाहुः ।

भक्तिमार्गेपि चेद्दोषस्तदा किं कार्यमुच्यते ॥१७॥
अत्रारम्भे न नाशः स्याद् दृष्टान्तस्याप्यभावतः ।
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागाद्बाधः केनास्य सम्भवेत् ॥१८॥
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे ।
अन्यथा मातरो बालान्न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् ॥१९॥
ज्ञानिनामपि वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति ।
आत्मप्रदः प्रियश्चापि किमर्थं मोहयिष्यति ॥२०॥
तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम् ।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः ॥२१॥

भक्तिमार्गे परित्यागकृतौ यदि दोषसम्भावना तदा किं कर्तव्यमित्यर्थः । तथा च परित्यागः कर्तव्यो न कर्तव्यो वेत्याशङ्कायां समाधानमुच्यत इत्यर्थः । समाधानं वदन्तः प्रथमं प्रवृत्तिप्रतिबन्धकविघ्नरूपं दोषमाशङ्क्य तदभावमाहुः । अत्रास्मिन् परित्यागे आरम्भे प्रवृतौ नाशो विघ्नो न भवेदित्यर्थः । ननु मास्तु प्रवृत्तौ प्रतिबन्धकस्तदभावस्यानुभविकत्वात् परन्तु फले प्रतिबन्धकान्तरानुमाने को दोष इत्यत आहुः दृष्टान्तेति । अनुमानस्य दृष्टान्तसापेक्षत्वात्तदभावादनुमातुं न शक्यत इत्यर्थः । अपिशब्दात् सद्धेतोरप्यभावान्नानुमानमित्याशयः ।

इस प्रकार से यहाँ तक कर्ममार्ग एवं ज्ञानमार्ग इन दोनों के अंतर्गत परित्याग करने को दोषसहित कहकर इस ग्रन्थ में बताए पुष्टिमार्गीयपरित्याग को अग्रिमश्लोक में आपश्री युक्तिसहित दोषरहित बता रहे हैं।

श्लोक की पहली पंक्ति का अर्थ यह है कि, भक्तिमार्ग में परित्याग करने में यदि दोष होने की सम्भावना लगती हो तो क्या करें ! यानि कि परित्याग करें या न करें- इस शंका का समाधान आपश्री कह रहे हैं, यह अर्थ है। इसका समाधान कहते हुए आपश्री सबसे पहले भक्तिमार्ग में प्रवृत्त होने पर किसी प्रतिबन्धक द्वारा विघ्नरूप दोष होने की यदि कोई आशंका करे, तो **अत्रारम्भे न नाशः** इत्यादि शब्दों से इसमें दोष न होना बता रहे हैं। इससे आपश्री का कहना यह कि, इस पुष्टिमार्गीयपरित्याग में **आरम्भे** यानि प्रवृत्त होने पर नाश/विघ्न नहीं आते- यह अर्थ है। चलो ठीक है, भले ही प्रवृत्त होने पर प्रतिबन्धक न आते हों क्योंकि पुष्टिमार्गीयपरित्याग में प्रवृत्त होने पर विघ्न नहीं आते इस बात का तो पूर्व में अनुभव किया भी जा चुका है, परन्तु फलप्राप्ति में अन्य कोई दूसरा प्रतिबन्धक आ पड़ने का अनुमान लगाने में क्या आपत्ति है? तो इस शंका का आचार्यचरण **दृष्टान्त** इत्यादि शब्दों से स्पष्टीकरण कर रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह कि, अनुमान लगाने के लिए भी तो किसी न किसी दृष्टान्त की आवश्यकता होती ही है, और ऐसा कोई दृष्टान्त प्राप्त ही नहीं होता कि जहाँ भक्तिमार्गीयपरित्याग करने वाले का नाश हो गया हो या कोई विघ्न आया हो अतः भक्तिमार्ग में प्रतिबन्धकों का अनुमान लगाना भी शक्य नहीं है- यह अर्थ है। **अपि** शब्द से यह ज्ञात होता है कि, फल में प्रतिबन्धक आने का कोई सद्-हेतु भी नहीं है, इस कारण से भी ऐसा अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

ननु लौकिकविषयानुरागात् स्वर्गाद्यक्षरानन्दतामुष्मिकफलाभिलाषाच्चास्वास्थ्यनाशेन फलप्रतिबन्धलक्षणो दोषः प्रकृतपरित्यागेपीत्याशङ्क्याहुः स्वास्थ्येति । स्वास्थ्यहेतोरस्वास्थ्यनाशकस्येत्यर्थः । तथा च भजनानन्दातिरिक्तयावदभिलाषविषयाणां प्रथममेव तुच्छीकृत्य परित्यक्तत्वात्तदभिलाषाभावेन फलप्रतिबन्धः केन स्यात्, न केनापीत्यर्थः ।

किन्तु एक शंका यह होती है कि, स्वर्गसुख प्राप्त करने की चाहना आदि लौकिकविषयों में अनुराग रखने के कारण एवं अक्षरानन्दात्मक अलौकिकफल प्राप्त करने की अभिलाषा जाग्रत हो जाने के कारण यदि विरह द्वारा बनी हुई अस्वस्थता नष्ट

हो जाए, तो फल में प्रतिबन्धकरूप दोष इस पुष्टिमार्गीयपरित्याग में भी आ सकता है ! यदि कोई ऐसी आशंका करता हो, तो आचार्यचरण **स्वास्थ्यहेतोः परित्यागात्** इत्यादि शब्दों से इसका निराकरण कर रहे हैं। **स्वास्थ्यहेतोः** का अर्थ है- अस्वस्थता नष्ट करने वाले कारणभूत पदार्थ; इसका अर्थ यह है कि, भजनानन्द के अतिरिक्त अभिलाषा करने सम्बन्धी अन्य जितने भी विषय हैं, उन सभी को तो वह पहले ही तुच्छ जानकर उनका परित्याग कर चुका है, अतः अब उनकी अभिलाषा उसे क्यों कर होगी, इसलिए अब कौन है जो उसके फल में प्रतिबन्ध कर सकता है, कोई भी नहीं- यह अर्थ है।

ननु कालादयश्चेत्प्रतिबन्धकाः स्युरत आहुः हरिरिति । अपरे कालादय इत्यर्थः । पूर्वपक्षिणं मनसिकृत्याहुः अन्यथेति । प्रश्ने चासन्नकाल इति सूत्रेणासन्नकालिक्यां क्रियायां पृच्छमानायां पुपुषुरिति लिट् । अन्यथा बाधां करोति भगवानिति, यदि त्वं निश्चितोसि तदाहं पृच्छामि, क्वचिदद्य प्रातः सङ्गवे वा मातरो बालान् स्तन्यैर्न पुपुषुः किमित्यर्थः । तथा चैतावत्कालं तु मातरोर्भकपोषणपरा एव सर्वसंमतास्त्वया त्वद्य किमपुष्णन्त्यो दृष्टा इतीदृशः प्रश्नः पुपुषुरित्यस्य वाच्यः । इत्थं च अद्यसम्भावितमर्भकपोषाभावमद्राक्षीस्तदा भगवत्कृतबाधामपि मनस्यानयेः । एवं चोभयमपि शशविषाणायमानमिति भावः ।

केन्तु यदि कोई ये शंका करे कि, कदाचित् काल इत्यादि प्रतिबन्ध कर सकते हैं, तो आचार्यचरण **हरिः** इत्यादि शब्दों से इसका समाधान कर रहे हैं। **अपरे** का अर्थ है- काल इत्यादि; तात्पर्य यह कि जब भगवान ही उसे प्रतिबन्ध नहीं कर सकते, तो फिर **अपरे** यानि काल इत्यादि कहाँ से कर पायेंगे। भगवान उसे प्रतिबन्ध नहीं करते- इस अर्थ में सन्देह करने वाले किसी पूर्वपक्षी की शंका का आचार्यचरण अपने मन में विचार करके उसका समाधान **अन्यथा** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री के इस प्रश्न में "आसन्नकाले" इस सूत्र द्वारा 'पुपुषुः' क्रिया में निकटवर्ती काल में पूछी जाने वाली क्रिया के लिए लिट् का प्रयोग है। इस पंक्ति में आपश्री पूर्वपक्षी से प्रश्न कर रहे हैं- **अन्यथा** यदि भगवान बाधा उत्पन्न करते हैं, ऐसा निश्चितरूप से तुम्हारा मानना है, तो फिर हम तुमसे पूछते हैं- क्या आज, प्रातः या सवेरे माताओं ने स्तनपान करा के अपने बालकों का पोषण नहीं किया ? इसका तात्पर्य यह है कि, अभी तक तो माताओं का अपने बालकों का पोषण करने की बात तो सभी ने मानी ही है, 'परन्तु, क्या तुमने कोई माता ऐसी देखी है, जो अपने बालक का पोषण नहीं करती, जो तुम ऐसा व्यर्थ प्रश्न कर रहे हो ?' - यह अर्थ 'पुपुषुः' क्रिया का प्रयोग किया होने से निकलता है। यदि माताओं द्वारा अपने निरीह बालक का पोषण न करने जैसी असम्भव बात तुमने कहीं देखी हो, तब ही भगवान द्वारा बाधा खड़ी करने जैसी असंभव बात मन में लाओ। आपश्री का कहना यह है कि, यह दोनों ही बातें उतनी ही असम्भव हैं, जैसे कह दिया जाए कि खरगोश के सींग होते हैं- यह भाव है।

ननु दैवात् मिलिता ज्ञानिनः स्वानुभवज्ञापनपूर्वकं स्वमार्गोपदेशं कुर्युस्तदा का गतिरत आहुः । यद्वा, ननु भगवान् स्वयं प्रतिबन्धं न जनयति, परन्तु सर्वमोहिका माया चेन्मोहमुत्पाद्य मार्गान्तररुचिलक्षणं प्रतिबन्धं जनयेदित्याशंक्याहुः । ज्ञानिनामपीति च वाक्यं चेति कर्मधारयः । तथा च 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छती'ति वाक्येनेत्यर्थः । एवं चास्मिन् वाक्ये ज्ञानिनामित्युक्तम्, ननु भक्तानामपीत्यतो ज्ञानिमोहजनन एवास्या शक्तिर्न तु भक्तमोहजनन इत्याशयः ।

केन्तु एक शंका यह होती है कि, यदि भाग्यवश कोई ज्ञानीजन मिल जाएँ और अपने ज्ञानमार्ग का अनुभव उसे बताने लगें और उसे ज्ञानमार्ग का उपदेश करें तो क्या होगा ? अथवा, चलो भगवान स्वयं प्रतिबन्ध न करें, तथापि, सभी को मोहित/भ्रमित कर देने वाली अपनी माया के द्वारा उसे मोहित/भ्रमित करके उसकी अन्य मार्गों में रुचि उत्पन्न कराने जैसा प्रतिबन्ध कर दें, तब क्या होगा ? यदि ऐसी शंका होती हो, तो आचार्यचरण **ज्ञानिनामपि** इत्यादि वाक्यों से इसका समाधान कर रहे हैं। **ज्ञानिनामपिवाक्येन** में कर्मधारयसमास समझनी चाहिए, यानि कर्मधारयसमास करने पर इसका अर्थ होगा- दुर्गासप्तश्लोकी में कहे "ज्ञानिनामपि" इस वाक्यानुसार भगवान की माया ज्ञानियों को ही मोहित/भ्रमित कर सकती है, भक्तों को नहीं; और इस प्रकार से अर्थ करने के लिए श्रीगोपेशचरण आगे बताया गया दुर्गासप्तश्लोकी का उद्धरण दे रहे हैं। वह इस प्रकार कि *"भगवान की माया तो ज्ञानियों के चित्त को भी बलपूर्वक आकृष्ट कर लेती है(दुर्गासप्तश्लोकी-1)"* इस वाक्य में यह कहा गया है कि, भगवन्माया केवल ज्ञानीजनों को ही मोहित कर सकती है, भक्तजनों को नहीं; अतः भगवन्माया की शक्ति केवल ज्ञानीजनों को ही मोह कराने तक सीमित है, भक्तजनों को मोह कराने में नहीं- यह आशय है।

मोहेति । अतीतवर्तमानमोहयोरभावस्त्वेतन्मार्गान्यथानुपपत्त्यैव निश्चितः, परमवशिष्यते सन्दिग्धसम्भवो भविष्यमाणः स तु पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय इति न मोहयिष्यतीत्यनेन परिहियत इति ध्येयम् ।

अब हम **मोहयिष्यति** शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। इसमें भविष्यकाल की क्रिया देने का तात्पर्य यह है कि, भक्त को न अतीत में मोह/भ्रम हो सकता था और न वर्तमान में हो सकता है- यह बात तो इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि अब तक भी वह जीव पुष्टिभक्तिमार्ग में टिका हुआ है, अब तक भ्रमित नहीं हुआ है ; इसलिए सन्देह रह जाता है केवल भविष्य में मोहित/भ्रमित होने का, तो आचार्यचरण चूँकि रहा-सहा दोष भी दूर कर देना चाहिए, इसलिए उसे भी भविष्यकालीनक्रिया देकर दूर किए दे रहे हैं कि, उसे भविष्य में भी कभी मोह होने वाला नहीं है।

ननु भगवदिच्छाया दुरूहतरत्वाद्भगवतः स्वतन्त्रतमत्वात् कदाचित्स्वयमपि मोहयेदत आहुः आत्मप्रद इति । लुब्धो द्वेष्टा वाऽभविष्यदमोहयिष्यद्भगवांस्तु जीवकृतिसाध्यसाधननिरपेक्षः सन् स्वात्मानमपि प्रकर्षेण ददुदारः, तथा द्वेष्टापि न भवति, उदासीनोपि न भवति, अपि तु प्रियः, तथा च प्रयोजनयोः लोभद्वेषयोरभावान्नैव मोहयिष्यतीत्यर्थः । अत्रापि अतीतवर्तमानमोहयोरभावस्तु वरणान्यथानुपपत्त्यैव निश्चितः, अवशिष्टस्य तूच्यत एवेति ध्येयम् ।

किन्तु एक सन्देह यह होता है कि, भगवदिच्छा जाननी तो दुरूहतर है और भगवान स्वयं भी कुछ भी करने में स्वतन्त्रतम हैं, अतः कदाचित् वे स्वयं ही भक्त को मोहित/भ्रमित कर दें, तब क्या होगा ? तो आचार्यचरण इसका स्पष्टीकरण **आत्मप्रदः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, यदि भगवान लोभी या द्वेषी होते, तब तो भक्त को मोहित/भ्रमित करते भी, परन्तु भगवान तो जीव के द्वारा किए गए किसी भी साधनों की अपेक्षा ही नहीं रखते और भक्त को अपनी आत्मा तक पूर्णरूपेण दे देते होने के कारण विशेषरूप से उदार हैं, और इसी से सिद्ध होता है कि वे भक्त से द्वेष भी नहीं करते, उसके प्रति उदासीन भी नहीं हैं, अपितु उससे प्रेम करते हैं, इसलिए उन्हें न किसी प्रकार का लोभ है और न ही किसी प्रकार का द्वेष अतः कोई भी प्रयोजन न होने के कारण वे भक्त को मोहित/भ्रमित नहीं ही करते- यह अर्थ है। यहाँ भी 'मोहयिष्यति' ये भविष्यकालीनक्रिया देने का तात्पर्य यह है कि, अतीत एवं वर्तमान में उन्होंने भक्त को मोहित नहीं किया, यह बात तो उन्होंने भक्त का वरण पुष्टिमार्ग में कर लिया है, इसी से सिद्ध हो जाती है; और अवशिष्ट रह गयी भविष्य में करने की बात, तो उसे भविष्यकालीनक्रिया देकर कहे ही दे रहे हैं।

एवं प्रकृतपरित्यागे दोषाभावमुपपाद्य प्रवृत्तिं विदधति । यस्मात्सवर्था निर्दोषस्तस्मादुक्तप्रकारेण 'स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेश' इत्याद्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः । स्वार्थाद्विरहानुभवलक्षणस्वप्रयोजनात् रहितो भवतीत्यर्थः । किमत्र प्रमाणमत आहुः इति मे इति । निश्चिता साक्षात्कृतविषया मतिरेव प्रमाणमित्याशयः ॥१७-२१॥

इस प्रकार से इस पुष्टिमार्गीयपरित्याग में दोष न होने बता कर अब आचार्यचरण उसमें प्रवृत्त होने का विधान कर रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- चूँकि पुष्टिमार्गीयपरित्याग सर्वथा निर्दुष्ट है, अतः हमारे कहे प्रकारानुसार, यानि "स्वीयबन्धनिवृत्यर्थं वेषः(7)" इस वाक्य में कहे प्रकारानुसार परित्याग करना चाहिए। आगे आपश्री **भ्रश्यते स्वार्थात्** इत्यादि शब्दों से आज्ञा करते हैं- यदि हमारे कहे अनुसार परित्याग नहीं करेंगे, तो **स्वार्थात्** यानि भगवद्विरह का अनुभव करने के अपने प्रयोजन से आप वंचित रह आयेंगे- यह अर्थ है। इस बात में क्या प्रमाण है, तो आपश्री अपनी सम्मति बताते हुए **इति मे निश्चिता मतिः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री अपनी मति को इसलिए निश्चित कह रहे हैं, क्योंकि उपर्युक्त विरहभाव का आपश्री ने स्वयं साक्षात्कार किया है- यह आशय है ॥17-21॥

नन्वयं परित्यागः किं तुरीयाश्रमः, किं वा भक्तिमार्गीयः साधनविशेष इति सन्दिहानं प्रत्याहुः ।

इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम् ।
संन्यासवरणं भक्तावन्यथा पतितो भवेत् ॥२२॥

इति समाप्तोयं ग्रन्थ इत्यर्थः । भगवत्प्रसन्नतया हेतुभूतया साक्षात्कृतमित्यर्थः । भक्तौ भक्तिमार्गे संन्यासवरणं परित्यागलक्षणो भगवदङ्गीकारः । तथा च नायं तुरीयाश्रमः, न वा भक्तिमार्गीयः स्वकृतिसाध्यः साधनविशेषः, किन्तु भगवत्कृतो जीवस्याङ्गीकाररूपोयं परित्याग इत्याशयः ।

अब इस ग्रन्थ में बताया गया परित्याग क्या चतुर्थाश्रम के अंतर्गत आने वाले संन्यास वाला परित्याग है या भक्तिमार्ग में किया जाने वाला कोई विशेष साधनरूप है- इस प्रकार से सन्देह करने वालों के लिए आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में कह रहे हैं।

इति का अर्थ है- यहाँ ग्रन्थ समाप्त होता है। आपश्री का कहना है, भगवान की प्रसन्नता के कारण ही मैं भक्तिमार्गीयपरित्याग के स्वरूप को निश्चयपूर्वक कह पाया हूँ- यह अर्थ है। भक्तिमार्ग में **संन्यासवरणं** का तात्पर्य है- यदि भक्त परित्याग कर रहा है, तो उसका

परित्याग करना इस बात का द्योतक है कि भगवान ने अब उसका अंगीकार/वरण कर लिया है। इसीलिए न यह चतुर्थाश्रमरूप संन्यास है, न भक्त के अपने खुद के द्वारा भगवत्प्राप्ति के लिए किया जाने वाला कोई भक्तिमार्गीय साधन है, किन्तु यह परित्याग भगवान द्वारा जीव का अंगीकाररूप परित्याग है, यानि भगवान जिस जीव का अंगीकार करते हैं, वही जीव ऐसा परित्याग करता है/कर सकता है/करने को उद्यत होता है- यह आचार्यचरणों का आशय है।

अन्यथाङ्गीकाराभावे पतितोऽस्मान्मार्गात् च्युतो भवेत् । तथा चैतन्मार्गाच्च्युतिः पातित्यमेवेति पतितपदप्रयोग इति बोध्यम् । इत्थं च भगवानेव स्वभिन्नयावल्लौकिकालौकिकविषयेभ्योन्तःकरणं निरुध्य यदि स्वस्मिन् व्यसनं सम्पादयेत्तदायं परित्यागो भजनानन्दानुभवयोग्यतासम्पादकविरहानुभवार्थं कर्तव्यः, नो चेत्तनुवित्तजैव सेवा कर्तव्येति श्रीमदाचार्यचरणानामाशयोऽनिशमनुसन्धेयः । तथा चोक्तं विद्वन्मण्डने श्रीमत्प्रभुचरणैः 'तस्माज्जीवानां मर्यादैव हितकारिणी'ति ।।

चाचाश्रीगोपेशकृता संन्यासनिर्णयविवृतिः सम्पूर्णा ।।

अन्यथा यानि विरह की ऐसी उच्चदशा में पहुँचकर भी यदि जीव परित्याग न करे, तो जीव पतित होगा, यानि इस मार्ग से च्युत हो जायेगा। इस मार्ग से च्युत होना तो पतित/गिरना ही है अतः आपश्री ने 'पतित' पद का प्रयोग किया है- यह जानना चाहिए। इसका गूढ़ार्थ यह है कि, जब स्वयं भगवान ही अपने अतिरिक्त अन्य समस्त लौकिक-अलौकिक विषयों से अन्तःकरण को छुड़वा कर जीव में अपने लिए व्यसन पैदा कराएँ, तब ही जीव को इस ग्रन्थ में बताया हुआ भजनानन्दानुभव की योग्यता दिलाने वाले भगवद्विरह का अनुभव करने के लिए परित्याग करना चाहिए; किन्तु जब तक भगवान उक्त प्रकारक व्यसन उत्पन्न नहीं करते, तब तक तो जीव को तनुजावित्तजासेवा ही करते रहनी चाहिए- यह श्रीमदाचार्यचरणों के आशय का निरन्तर अनुसन्धान रखना चाहिए। यही बात विद्वन्मण्डन में श्रीप्रभुचरणों ने "जब तक व्यसन सिद्ध न हो जाय, तब तक जीवों के लिए मर्यादापूर्वक रहना ही हितकारी होता है" यह कहा है।

यह चाचाश्रीगोपेशकृत संन्यासनिर्णय की विवृति सम्पूर्ण हुई।